ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

नयप्रज्ञापन

अर्थात्

स्याद्वादविद्या

श्री प्रवचनसार परिशिष्ट में समागत सैंतालीस नयों एवं कलशों पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के संकलित प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि : 20.00 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846–244334
2. **श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई–400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ–कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए–4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान–302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली–422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर–कुन्दकुन्द–कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट–360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप–सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

तीर्थंकर भगवान शासननायक परमभट्टारक श्री महावीरस्वामी के गुरु परम्परा से प्राप्त उपदेश से, विदेहक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि के साक्षात् श्रवण से तथा अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय निज वैभव से श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने चौरासी प्राभृतों की रचना की थी, उनमें से समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि प्राभृतत्रय की उनके पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष में हुए भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उत्तमोत्तम टीकायें रची हैं, जिनके प्रसाद से आज भी भव्य जीव निज कल्याण को साधते हैं। उनमें से परमागम प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका पूर्ण करने के पश्चात् भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव ने परिशिष्ट की रचना भी की है। इस परिशिष्ट में भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव ने शिष्य का प्रश्न 'आत्मा कौन है और वह किस प्रकार से प्राप्त होता है' इसके उत्तररूप प्रथम सैंतालीस नयों द्वारा आत्मस्वभाव के विविध धर्म समझाकर ज्ञायक आत्मा की महिमा दर्शायी है। तत्पश्चात् आपश्री ने दर्शाया है कि जो इन नयों को सापेक्ष न मानकर इनमें से कोई एक नयमात्र ही आत्मा का स्वरूप मानते हैं, वे जिनेन्द्रमत के नहीं हैं अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के मत से बाहर हैं। इस प्रकार आत्मा का स्वरूप विविध नयों से समझाकर तत्पश्चात् आत्मा की प्राप्ति का उपाय दर्शाकर टीका की पूर्णता की है। इस महान उपकार के लिये आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्रदेव के पावन चरणों में सादर वन्दन समर्पित करते हैं।

वर्तमान युग में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शासनोद्धारक परम उपकारी परम कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने परमागम प्रवचनसार पर कल्याणकारी प्रवचन करके, उसमें रहे हुए आत्महितकारी रहस्य को खोलकर वर्तमान के भव्य जीवों पर अनुग्रह उपकार किया है। उनमें पूज्य गुरुदेवश्री ने 'आत्मा का अकर्ता स्वभाव तथा प्रचण्ड कर्मकाण्ड से प्रचण्ड ज्ञानकाण्ड की प्राप्ति' इन विषयों को अपने अनुभव ज्ञान के बल से बहुत ही मन्थन किया है। परमागम प्रवचनसार पर तो पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक बार कल्याणकारी प्रवचन किये हैं परन्तु इस ग्रन्थ पर विक्रम संवत् २००७ में हुए परिशिष्ट के प्रवचनों के मुख्य अंश पुस्तकाकार भव्य जीवों के हितार्थ इस पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं। इस पुस्तक में से सैंतालीस नयों के प्रवचन नयप्रज्ञापन नाम से गुजराती में पूर्व में प्रकाशित हो चुके हैं, उन प्रवचनों को यथावत् रखकर उनमें परिशिष्ट के आगे-पीछे के कितने

ही प्रवचन सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद (हस्तलिखित दैनिक) में से संकलित करके इस पुस्तक को प्रवचनसार परिशिष्ट के प्रवचनरूप से पूर्ण करके प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर परमागम प्रवचनसार के रचयिता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव; टीकाकार भगवान श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव के अमूल्य उपकारों का स्मरण करके इन दोनों आचार्य भगवन्तों के चरणकमल में कोटि-कोटि वन्दन अर्पित करते हैं। साथ ही इस ग्रन्थ पर उत्तम प्रवचन करके इस ग्रन्थ का मर्म प्रकाशित करनेवाले परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी तथा उनकी वाणी के रहस्य को चर्चाओं के द्वारा स्पष्ट करनेवाली प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन को भी उनके अपूर्व उपकारों का स्मरण करके भक्तिभाव से नमन करते हैं।

इन प्रवचनों को गुजराती भाषा में सुन्दर रीति से लिपिबद्ध करनेवाले सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद के संकलनकर्ता श्री अमृतभाई नरसीलाल सेठ तथा खीमचन्द जेठालाल सेठ के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। इन प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) ने किया है। साथ ही प्रत्येक नय के प्रवचनों में सर्व प्रथम नय का स्वरूप संस्कृत टीका से ज्यों का त्यों उद्‌धृत किया गया है।

अन्त में इन कल्याणकारी प्रवचनों का अभ्यास करके सर्व आत्मार्थी मुमुक्षु जीव निजात्म कल्याण की साधना को बलवती बनावें, यही भावना है...

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठ क्रमांक
	परिशिष्ट	01
1	द्रव्यनय	15
2	पर्यायनय	22
3	अस्तित्वनय	26
4	नास्तित्वनय	38
5	अस्तित्व-नास्तित्वनय	50
6	अवक्तव्यनय	58
7	अस्तित्व-अवक्तव्यनय	60
8	नास्तित्व-अवक्तव्यनय	63
9	अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय	64
10	विकल्पनय	71
11	अविकल्पनय	74
12	नामनय	76
13	स्थापनानय	84
14	द्रव्यनय	88
15	भावनय	104
16	सामान्यनय	106
17	विशेषनय	109
18	नित्यनय	115
19	अनित्यनय	118
20	सर्वगतनय	120
21	असर्वगतनय	128
22	शून्यनय	132

23	अशून्यनय	139
24	ज्ञान–ज्ञेय–अद्वैतनय	142
25	ज्ञान–ज्ञेय–द्वैतनय	147
26	नियतिनय	153
27	अनियतिनय	164
28	स्वभावनय	172
29	अस्वभावनय	176
30	कालनय	181
31	अकालनय	187
32	पुरुषकारनय	191
33	दैवनय	193
34	ईश्वरनय	199
35	अनीश्वरनय	204
36	गुणीनय	210
37	अगुणीनय	215
38	कर्तृनय	218
39	अकर्तृनय	225
40	भोक्तृनय	233
41	अभोक्तृनय	240
42	क्रियानय	244
43	ज्ञाननय	263
44	व्यवहारनय	266
45	निश्चयनय	276
46	अशुद्धनय	282
47	शुद्धनय	286
	परिशिष्ट–श्री प्रवचनसार कलश 19 से 22 पर प्रवचन	288

ॐ

श्री परमात्मने नमः

नय-प्रज्ञापन

(श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में सैंतालीस नयों द्वारा 'आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो ?' इस सम्बन्धी वर्णन है, उस पर परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार।)

(वीर संवत् २४७७, ज्येष्ठ कृष्ण ३ शुरु)

प्रवचनसार में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित २७५ गाथाएँ पूरी हुई हैं। अब, श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव रचित परिशिष्ट पढ़ा जाता है। जैसे मन्दिर पर कलश चढ़ाते हैं, उसी प्रकार इस परिशिष्ट में 'आत्मा कैसा है और उसकी प्राप्ति किस प्रकार होती है' इसका वर्णन करके आचार्यदेव ने प्रवचनसार पर कलश चढ़ाया है।

'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाए तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं:—

प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।

शिष्य की जिज्ञासा और आचार्यदेव की करुणा

'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाए तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं:—

जिसे आत्मा की बहुत झंखना हुई हो, वह शिष्य बारम्बार आत्मा की बात पूछा करता है। जैसे जिसे पुत्र का प्रेम है, वह बारम्बार उसकी सम्हाल करता है, उसी प्रकार जिसे आत्मा का प्रेम जागृत हुआ है–आत्मा का कल्याण करने की धगश जगी है, वह जीव आत्मा का स्वरूप समझने के लिए बारम्बार प्रश्न पूछता है। जिसे जिसकी आवश्यकता ज्ञात हो, उसमें उसका ज्ञान, श्रद्धा और पुरुषार्थ ढले बिना नहीं रहता। शिष्य को आत्मा की रटन लगी है, इसलिए बारम्बार प्रश्न पूछता है कि प्रभु! यह मेरा आत्मा कैसा है? और उसकी प्राप्ति किस प्रकार हो? ऐसा पूछनेवाले शिष्य को आचार्यदेव फिर से भी आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। 'यह आत्मा कौन है?' ऐसा पूछनेवाले शिष्य को आत्मा की दरकार हुई है, इसलिए उसकी रुचि और ज्ञान का प्रयत्न आत्मस्वभाव की ओर ढले बिना रहेगा नहीं।

यहाँ आचार्य प्रभु कहते हैं कि 'यदि प्रश्न किया जावे तो' हम उसका उत्तर कहते हैं। जिसे समझने के लिए झंखना से प्रश्न उत्पन्न हुआ है, ऐसे शिष्य के लिए हमारा उपदेश है। कपड़े की फेरीवाले की तरह या साग–भाजी बेचनेवाले की तरह किसी के घर जाकर जबरदस्ती नहीं समझाते; जिसे तृषा लगी नहीं, उसे पानी नहीं पिलाते। जिसे भूख लगी नहीं, उसे नहीं खिलाते; उसी प्रकार जिसे आत्मा की दरकार नहीं है, ऐसे जीवों को हम सुनाते नहीं, परन्तु जिसे आत्मा की धगश है, उसे ही हमारा उपदेश दिया जाता है।

श्रीगुरु के पास जाकर 'आत्मा कौन है?' ऐसा पूछनेवाले जीव को प्रथम तो आत्मा के अस्तित्व की श्रद्धा है; सच्चे देव–गुरु कैसे होते हैं, उसकी श्रद्धा है और ऐसे गुरु के समीप जाकर आत्मा समझने के लिए धा डाली है, ऐसे सुपात्र शिष्य को आचार्यदेव इस परिशिष्ट द्वारा समझाते हैं, वह शिष्य आत्मस्वरूप को पाये बिना रहेगा ही नहीं।

शिष्य को एक आत्मा समझने की ही झंखना है, इसलिए दूसरा कोई उल्टा–सीधा प्रश्न न पूछकर आत्मा का ही प्रश्न पूछा है कि प्रभो! यह आत्मा कैसा है और इसकी प्राप्ति कैसे हो? पुण्य–पाप की, स्वर्ग–नरक की या कर्म की बात नहीं पूछी, परन्तु आत्मा की ही बात पूछी है; दूसरा सब जानपना तो अनन्त बार किया है परन्तु अपना आत्मा कैसा है, यही पूर्व में कभी नहीं जाना; इसलिए शिष्य यही समझना चाहता है। पुण्य कैसे हो और

स्वर्ग कैसे मिले – ऐसा शिष्य नहीं पूछता परन्तु आत्मा कैसा है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ?—ऐसा पूछता है। इस प्रश्न में ही उसकी आत्मा समझने की पात्रता आ जाती है।

और प्रश्न पूछने में भी 'यह आत्मा कैसा है ?'—ऐसा कहकर अपने आत्मा को पृथक् करके पूछता है। 'यह आत्मा' ऐसा कहने में स्वयं अपने आत्मा की ओर झुकना चाहता है, दूसरे आत्मा के सामने नहीं देखता। स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा को जानने से दूसरे का आत्मा कैसा है, यह भी जानने में आ जाता है क्योंकि जैसा अपना आत्मा का स्वभाव है, वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है।

हे प्रभु! यह मेरा आत्मा कैसा है? यह मैं जानना चाहता हूँ।—ऐसा पूछनेवाले शिष्य को आत्मा की धगश ऐसी है कि वह मोक्ष की योग्यतावाला ही है, वह अल्प काल में आत्मा को समझकर मोक्ष पानेवाला है; ऐसा प्रश्न जिसे अन्तर में से उगा, वह आत्मस्वभाव समझकर मोक्ष पाये बिना रहता ही नहीं। स्वयं ने पूर्व में जो कुछ सुना और जाना है, उस सब जानपने पर शून्य लगाकर, पक्षपात छोड़कर, श्रीगुरु के समीप जाकर विनयपूर्वक पूछता है कि हे भगवान! यह मेरा आत्मा कैसा है और स्वयं को स्वयं की प्राप्ति किस प्रकार हो ? —ऐसा पूछनेवाले को पर की–पैसा इत्यादि की या पुण्य की प्राप्ति की भावना नहीं है, परन्तु आत्मस्वभाव को जानकर उसकी ही प्राप्ति की भावना है; इसलिए जिज्ञासु होकर अकेले आत्मा का ही प्रश्न पूछा है।

यद्यपि पूर्व में आत्मा कौन है और वह कैसे प्राप्त हो? यह बात कही जा चुकी है परन्तु यहाँ शिष्य की जिज्ञासा को पूरी करने के लिए श्री आचार्यदेव इस परिशिष्ट में फिर से भी यह बात समझाते हैं।

अनादिकाल से संसार में भटकते जीव ने बाहर में पर का तो कुछ किया ही नहीं, पर को लेना या छोड़ना, वह आत्मा के हाथ की बात है ही नहीं। अनादि से अज्ञानभाव से जीव ने विकारीभाव ही किये हैं और उन्हें ही अपना स्वरूप मानकर भटका है। उसके बदले अब आत्मा का हित करने का–आत्मा के आनन्द की प्राप्ति करने का जिसे भाव हुआ है, ऐसा शिष्य आत्मा समझने के लिए प्रश्न पूछता है। अनादि से पूर्व में जो किया, उसकी अपेक्षा कुछ नया करना है, ऐसे शिष्य को अन्तर की जिज्ञासा से प्रश्न उठा है कि

प्रभो ! यह आत्मा कौन है और इसकी प्राप्ति कैसे हो ? ऐसे शिष्य को समझाने के लिए इस परिशिष्ट द्वारा यह बात फिर से भी कही जाती है।

देखो ! यहाँ जो शिष्य जिज्ञासा से पूछता है कि प्रभो ! यह आत्मा कौन है और किस प्रकार से यह प्राप्त हो ? ऐसे शिष्य को फिर से समझाते हैं। जिसे आत्मा का स्वरूप जानकर उसे प्राप्त करने की पिपासा जगी है, मैं कौन हूँ ? ऐसी जिज्ञासा का प्रश्न जगा है, तथा आत्मा किस प्रकार प्राप्त हो–किस प्रकार उसका अनुभव हो ? ऐसा प्रश्न जिसे उगा है, ऐसे शिष्य को आचार्यदेव फिर से भी आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं। पहले ज्ञान अधिकार, ज्ञेय अधिकार और चरणानुयोग में जो वर्णन किया; उसमें आत्मा कौन है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ? ये दोनों बातें आ तो जाती है, परन्तु यहाँ फिर से दूसरे ढंग से आचार्यदेव यह बात समझाते हैं।

शिष्य के प्रश्न में दो बातें रखी है : एक तो–आत्मा कैसा है ? और दूसरा–वह किस प्रकार प्राप्त हो ? आत्मा कैसा है, उसका ज्ञान करूँ और उसकी प्राप्ति की क्रिया करूँ – ऐसा शिष्य के प्रश्न में सम्यग्ज्ञान और चारित्र दोनों की बात आ जाती है। शिष्य पात्र होकर पूछता है कि 'हे नाथ ! मेरा आत्मा कौन है ? यह जाने बिना मैं अनादि से संसार में भटका हूँ। इसलिए आत्मा का स्वरूप क्या है ? और उसकी प्राप्ति किस प्रकार होती है ? वह मुझे समझाओ कि जिसे समझकर मैं आत्मा की प्राप्ति करके परमात्मा हो जाऊँ और मुझे फिर से अवतार न रहे।'

देखो ! शिष्य कोई दूसरे उल्टे–सीधे प्रश्न नहीं पूछता परन्तु यह मेरा आत्मा कैसा है ? ऐसा ही पूछता है। जैसे बाजार में जाए, वहाँ जो वस्तु लेनी हो, उसका भाव पूछता है। कीमती हीरा लेना हो, वह कहीं सब्जीवाले की दुकान में भाव पूछने नहीं जाता; इसी प्रकार जिस शिष्य को आत्मा की दरकार हुई है, वह पूछता है कि हे प्रभु ! आत्मा कैसा है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ? यह समझाओ।

—ऐसा पूछनेवाले जिज्ञासु शिष्य को आचार्यदेव फिर से विशेषणरूप से इस परिशिष्ट द्वारा समझाते हैं; पहले यह कथन आ तो गया है परन्तु जिज्ञासु के लिए अभी फिर से कहा जाता है। हम निरर्थक बकवास नहीं करते, तथा किसी के घर जाकर जबरदस्ती उपदेश नहीं देते, परन्तु विनय से समझने के लिए जो जिज्ञासु पूछता है, उसे कहा जाता

है—यह बात, प्रश्न किया जावे तो—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने बतला दी है। प्रश्न की भाषा तो जड़ है, परन्तु उसके पीछे का वाच्यभाव ऐसा है कि शिष्य के अन्दर उस जाति की-आत्मा समझने की भावना जगी है। ऐसे पात्र शिष्य को समझाने के लिए हम फिर से आत्मा का वर्णन करते हैं। आहाहा! देखो, आचार्य प्रभु की करुणा और शिष्य की पात्रता!

आत्मा कैसा है, यह जानकर मुझे मेरा कल्याण करना है, ऐसी जिसे भावना हुई हो, उसे ही ऐसा प्रश्न उठता है और उसे ही आचार्यदेव समझाते हैं। जो जीव समझकर स्थिर हो गया हो, उसे तो ऐसे प्रश्न का विकल्प नहीं उठता, तथा जिसे समझने की दरकार ही नहीं, उसे भी ऐसी जिज्ञासा का प्रश्न नहीं उठता और उसके लिए यह नहीं कहा जाता, परन्तु जिसे अन्तर में जिज्ञासा जगी है और विनय से पूछता है, ऐसे शिष्य के लिए आचार्यदेव फिर से 'आत्मा कैसा है?' यह कहते हैं।—

अनन्त नयात्मक श्रुतप्रमाण से प्रमेय होता आत्मा 'प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मों में व्यापनेवाले जो अनन्त नय, उसमें व्यापनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है-ज्ञात होता है।'

यह भगवान आत्मा एक द्रव्य है और उसमें अनन्त धर्म हैं। एक-एक आत्मा अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है। अनन्त धर्म चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त है। अनन्त धर्मों को रहने का स्थान आत्मा है। धर्म अनन्त होने पर भी उनका धारक एक ही द्रव्य है। जगत में सब होकर एक ही आत्मा है - ऐसा नहीं; जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ हैं और वह प्रत्येक आत्मा अनन्त धर्मवाले हैं। प्रत्येक आत्मा अनन्त धर्मों के आधाररूप एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मों को जाननेवाले जो अनन्त नय हैं, उनमें व्यापनेवाले एक श्रुतज्ञानप्रमाणपूर्वक स्वानुभव से आत्मा ज्ञात होता है।

एक आत्मपदार्थ में अनन्त धर्म हैं और उन्हें जाननेवाले श्रुतप्रमाण में अनन्त नय हैं। एक-एक धर्म को जाननेवाला एक-एक नय, इस प्रकार अनन्त धर्मों को जाननेवाले अनन्त नय हैं; जैसे अनन्त धर्म एक आत्मद्रव्य में समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार अनन्त नय एक श्रुतज्ञान में समाहित हो जाते हैं। जैसे अपने अनन्त धर्मों में एक द्रव्य व्याप्त है,

उसी प्रकार उन धर्मों को जाननेवाले अनन्त नयों में श्रुतज्ञान प्रमाण व्याप्त है। कोई कहे कि छद्मस्थ को अपने आत्मा की खबर नहीं पड़ती, तो यह बात मिथ्या है। यहाँ तो कहा कि अनन्त नयोंवाले श्रुतज्ञान से अनन्त धर्मोंवाला पूरा आत्मा ज्ञात हो जाता है। स्वसन्मुख झुकने से श्रुतज्ञान से पूरा आत्मा स्वानुभव में आ जाता है।

आत्मा कैसा है ? और वह किस प्रकार जानने में आये ? ये दोनों बात इसमें आ जाती है। आत्मा कैसा है ? - कि आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मोंवाला एक द्रव्य है, वह आत्मा किस प्रकार जानने में आये ? - तो कहा कि आत्मा के अनन्त धर्मों को जाननेवाले जो अनन्त नय, उनमें व्याप्त श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा स्वानुभव से आत्मद्रव्य ज्ञात होता है।

यहाँ अनन्त धर्मात्मक अपना आत्मा, वह प्रमेय है और अनन्त नयात्मक श्रुतज्ञान, वह प्रमाण है; ऐसे प्रमाण द्वारा स्वानुभव से अपना आत्मा प्रमेय होता है - ज्ञात होता है। परनिमित्त से या राग के विकल्प से ऐसा आत्मा प्रमेय नहीं होता, परन्तु साधक को स्वोन्मुख झुकते श्रुतज्ञान से ही ऐसा आत्मा प्रमेय होता है। अनन्त धर्मवाले आत्मा को जैसा है, वैसा न स्वीकार करे तो उसका निर्विकल्प स्वसंवेदन नहीं होता। ऐसे आत्मा को स्वानुभव से जैसा है, वैसा जानना वह धर्म है।

यहाँ आत्मा को अनन्त धर्मवाला कहा है। तो धर्म अर्थात् क्या ? धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव। प्रत्येक वस्तु में अपने-अपने अनन्त स्वभाव रहे हुए हैं, उन्हें यहाँ धर्म कहते हैं। जड़ पुद्गल में भी उसके अनन्त धर्म रहे हुए हैं, परन्तु यहाँ तो शिष्य ने आत्मा कैसा है ?- ऐसा पूछा है, इसलिए आत्मा के धर्म की बात है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, पुरुषार्थ, नियत इत्यादि अनन्त स्वभाव रहे हुए हैं, वे सब उसके धर्म हैं। अपने उन धर्मों से धर्मी आत्मा पहिचाना जाता है। यहाँ धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो मोक्षमार्ग है, उसका वर्णन नहीं है परन्तु वस्तु अनन्त धर्मस्वरूप है, उसका यह वर्णन है। ऐसे अनन्त धर्मोंवाले आत्मा को जानकर, उसकी रुचि और उसमें एकाग्रता करने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं, वह मोक्षमार्गरूप धर्म है।

वस्तु में तो अनन्त धर्म स्वयंसिद्ध है, वही ज्ञान में ज्ञात होते हैं। वस्तु के अनन्त धर्मों

को कहीं नया करना नहीं पड़ता। वस्तु तो स्वभाव से ही वैसी है, परन्तु जब उस वस्तु का ज्ञान हुआ, तब सम्यग्ज्ञान हुआ, वह सम्यग्ज्ञान नया प्रगट होता है और वस्तु में अनन्त धर्म कहीं एक के बाद एक नहीं परन्तु सब धर्म एक साथ ही हैं और वे अनन्त धर्म एक साथ ज्ञान में आ जाते हैं। अनन्त धर्मों को जानने के लिए अनन्त काल नहीं लगता। जहाँ श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख झुकाकर अन्दर स्वभाव में एकाग्र किया, वहाँ अनन्त धर्मों का चैतन्यपिण्ड स्वसंवेदन में आ जाता है। एक-एक धर्म को पृथक् करके अनन्त धर्म छद्मस्थ को भले ज्ञात न हो, परन्तु जहाँ अन्तरस्वभाव में झुका, वहाँ अनन्त गुण का पिण्ड भगवान आत्मा श्रुतज्ञान के स्वसंवेदन में आ जाता है।

अनन्त धर्मोंवाले आत्मा का अनुभव करने के लिए अनन्त धर्म के भेद पाड़कर भिन्न-भिन्न विकल्प नहीं करना पड़ता क्योंकि अनन्त धर्मों को धारण करनेवाला धर्मी एक है। जैसे आत्मा अनन्त धर्मों का एक स्वामी है, इसी प्रकार उसे जाननेवाला श्रुतज्ञान भी अनन्त नयों का एक स्वामी है। इसलिए एक धर्म को भिन्न करके भेद के विकल्प द्वारा पूरा आत्मा प्रमेय नहीं होता और पूरे आत्मा को प्रमेय किये बिना ज्ञान प्रमाण नहीं होता। ज्ञान में अनन्त नय हैं और पदार्थ में अनन्त प्रकार के धर्म हैं। ज्ञान अनन्त नयोंवाला होने पर भी प्रमाणरूप से वह एक है, इसी प्रकार पदार्थ अनन्त धर्मोंवाला होने पर भी वस्तुरूप से वह एक है। ऐसे प्रमाण और प्रमेय की एकता होने पर अर्थात् श्रुतज्ञानप्रमाण स्वसन्मुख होकर अभेद आत्मा में ढलने से आत्मा का स्वानुभव होता है-आत्मा ज्ञात होता है।

आत्मा स्वयं वास्तव में अनन्त धर्मों का स्वामी है। अनन्त गुणों-धर्मों, पर्यायों या अपेक्षित धर्मों, इन सबका पिण्ड आत्मा है, उन सब धर्मों को आत्मा वास्तव में धारण करता है। आत्मा के किसी धर्म में पर की अपेक्षा भले आती हो, परन्तु उसका कोई भी गुण-पर्याय या धर्म पर के कारण नहीं है। नित्य-अनित्यपना या गति, स्थिति इत्यादि धर्म उसके अपने हैं। उस धर्मी को भी आत्मा ही धार रखता है, कोई काल इत्यादि निमित्तों के कारण वे धर्म नहीं हैं। अशुद्धता में कर्म निमित्त है, इसलिए वह अशुद्धता कर्म के कारण होती है, ऐसा नहीं है, अशुद्धता भी अपनी ही पर्याय का धर्म है। आत्मा का एक भी धर्म पर के आधार से नहीं है। शुद्धता या अशुद्धता, उसरूप होनेवाला स्वयं ही है। कर्म के कारण अशुद्धता हो, ऐसा नहीं है। अशुद्धता होने की योग्यतारूप धर्म भी अपना है। काल

के कारण आत्मा परिणमता है, ऐसा नहीं। परिणमने का धर्म अपना है। धर्मास्तिकाय के कारण आत्मा गति करता है, ऐसा नहीं है; गति करनेरूप धर्म स्वयं का है तथा अधर्मास्तिकाय के कारण आत्मा स्थिति को प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है। स्थिर रहनेरूप धर्म भी उसका स्वयं का ही है। इस प्रकार अपने समस्त धर्मों का स्वामी आत्मा स्वयं ही है। काल इत्यादि दूसरे निमित्त जगत में भले हो, परन्तु आत्मा के धर्म कहीं निमित्त के आधार से नहीं है, धर्म तो आत्मद्रव्य के ही आधार से है। सिद्ध भगवान को समय-समय में परिणमन होता है, उनका वह परिणमन धर्म कहीं कालद्रव्य के आधीन नहीं है, परन्तु परिणमन होने का वह आत्मा का अपना अनादि-अनन्त धर्म है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा स्वयं अपने अनन्त धर्मों का स्वामी है।

आत्मद्रव्य में अनन्त धर्म हैं और उन अनन्त धर्मों को जाननेवाले अनन्त नय हैं, उन अनन्त नयों में व्याप्त एक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से आत्मा ज्ञात होता है। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान, वह प्रमाण है और उसका एक पक्ष, वह नय है; प्रमाण पूरी वस्तु को जानता है और नय एक-एक धर्म को जानता है। यहाँ तो, जो नय जिस धर्म को जानता है, वह नय उस धर्म में व्याप जाता है, ऐसा कहकर आचार्यदेव नय और नय के विषय को अभेद बताते हैं। जिस धर्म के सन्मुख होकर उसे जो नय जानता है, उस धर्म के साथ वह नय अभेद हो जाता है अर्थात् अपने में नय और नय का विषय एक हो जाता है।

इस प्रवचनसार के तीन अधिकारों में वस्तुस्वरूप का बहुत वर्णन करने के पश्चात् अब तो यह अन्तिम परिशिष्ट है, इसमें आचार्यदेव ने बहुत बात स्पष्ट की है। शास्त्र में भले निमित्त से ऐसा कथन किया हो कि कर्म के कारण विकार होता है, धर्मास्तिकाय के कारण जीव-पुद्गल गति करते हैं, काल के कारण वस्तु परिणमति है-ऐसे निमित्त से चाहे जितने कथन किये हों, परन्तु ऐसा समझना कि उस-उस प्रकार का धर्म वस्तु का स्वयं का ही है, निमित्त के कारण उसका धर्म नहीं है। किसी वस्तु का कोई धर्म दूसरी वस्तु के कारण नहीं होता; प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने अनन्त धर्मोंवाली है। प्रत्येक आत्मा स्वयं अपने अनन्त धर्मों का स्वामी है।

अहो! आचार्यदेव ने संक्षिप्त कथन में बहुत रहस्य भर दिया है। आचार्यदेव कहते हैं कि यहाँ थोड़े से धर्मों का वर्णन किया है, वह थोड़ा लिखा बहुत जानना। थोड़ा लिखा

बहुत जानना – ऐसा कब कहलाये? कुछ भी लिखा ही न हो तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। थोड़ी सी मुद्दे की बाबत लिखी हो तो फिर 'थोड़ा लिखा बहुत जानना', ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ आत्मा के अनन्त धर्म हैं, उसमें से कितने ही मुद्दे के धर्म आचार्यदेव ने वर्णन किये हैं, उन प्रयोजनभूत धर्मों को जानकर पश्चात् 'ऐसे दूसरे अनन्त धर्म सर्वज्ञदेव ने जाने तद्नुसार हैं' ऐसी प्रतीति करे तो वह बराबर है। परन्तु आत्मा क्या और उसके धर्म क्या, वह कुछ जाने नहीं, प्रयोजनभूत वस्तु का निर्णय करे नहीं और भगवान ने कहा, वह सत्य–ऐसा मात्र ऊपर–ऊपर से मान ले, इससे स्वयं को कुछ लाभ नहीं होता।

यहाँ 'वास्तव में' शब्द प्रयोग करके आचार्यदेव कहते हैं कि हम वस्तु में अनन्त धर्म कहीं कल्पना से नहीं कहते, परन्तु वास्तव में वस्तु में ही वे अनन्त धर्म हैं। वस्तु में वाच्यरूप जो धर्म हैं, उनका यह कथन है और वही ज्ञान में ज्ञात होता है। यदि वस्तु में ऐसा वाच्य न हो तो उसका कथन भी नहीं हो सकता और उसे जाननेवाला ज्ञान भी नहीं हो सकता। इसलिए वस्तु में अनन्त धर्म, उन धर्मों को जाननेवाला ज्ञान और उसका कथन, ये तीनों सत् हैं, वास्तव में हैं।

वस्तु जैसी हो, वैसी पूरी–पूरी जिस ज्ञान में ज्ञात हो, उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण अर्थात् वस्तु का माप करनेवाला ज्ञान। 'प्र' अर्थात् विशेषरूप से और 'माण' अर्थात् माप। जैसे माणू दाना इत्यादि चीज़ों का माप करनेवाला है, वहाँ भी, उस माप को जाननेवाला तो ज्ञान ही है; इसी प्रकार आत्मा के धर्मों को जाननेवाला–आत्मा का माप करनेवाला ज्ञान, वह प्रमाण है। अनन्त धर्मों को कहनेवाली वाणी निमित्त है, परन्तु उस वाणी को आत्मा के धर्मों की खबर नहीं। वाणी और धर्म, इन दोनों को जाननेवाला तो ज्ञान है, वह ज्ञान ही प्रमाण है।

देखो भाई! अनन्त धर्मोंवाला अपना आत्मा है, उसकी यह बात है। यह बात समझने जैसी है। जैसे रुपये का ढ़ेर पड़ा हो, उसे गिनने का कितना उत्साह आता है! तो यहाँ तेरे आत्मा में एक समय में अनन्त धर्मों का ढ़ेर पड़ा है। अन्तर्मुख होकर उसका माप करने का तुझे उत्साह आता है? यदि उसका माप करना हो तो वह तेरे श्रुतज्ञान प्रमाण से ही होता है, कोई परनिमित्त से या राग से उसका माप नहीं होता, परन्तु ज्ञान को अन्तर में

झुकाने से तो उस ज्ञान से ही आत्मा का माप होता है। अनन्त धर्मों की पूँजी प्रत्येक आत्मा में सदा पड़ी है, परन्तु अन्तर्मुख होकर उसे जानने की अज्ञानी ने कभी दरकार नहीं की है। आत्मा के अनन्त धर्मों में किंचित् भी कम मानेगा तो वह नहीं चलेगा, इसी प्रकार उस पूँजी को मापने में किसी पर की मदद काम नहीं आयेगी। जैसे घर का स्वामी, पूँजी को सन्दूक में रखी हो तो वहाँ बाहर के मजदूर से उसे नहीं रखाता, परन्तु घर के व्यक्ति से ही उसे रखाता है, इसी प्रकार आत्मा के स्वभाव घर की जो बेहद पूँजी है, उसका माप कोई बाहर के साधन से नहीं होता, परन्तु स्वयं अपने श्रुतज्ञान प्रमाण को अन्तर में झुकाये तो ही उसका यथार्थ माप और स्वानुभव होता है। अपने अनन्त धर्मों को जाननेवाला ज्ञान अपने पास ही है, उस ज्ञान को अन्तर स्वभाव में झुकाये तो ही आत्मा ज्ञात होता है, उसमें दूसरे किसी का ज्ञान अपने काम नहीं आता।

'गुरु का ज्ञान तो हमारे आत्मा को जानता है न?' ऐसा कोई कहे तो उसका स्पष्टीकरण—गुरु का ज्ञान दूसरे के आत्मा को भी जानता है, यह सही है, परन्तु उस गुरु का ज्ञान तो गुरु के पास रहा, उसमें दूसरे को क्या लाभ? गुरु का ज्ञान उनके अपने आत्मा को ही स्वद्रव्यरूप से जानता है, उनके ज्ञान में यह आत्मा तो परद्रव्यरूप से ज्ञात होता है। उसमें कहीं इस आत्मा के धर्मों को स्वामीरूप से नहीं जानते। उनके अपने आत्मा के धर्मों को ही स्वामीरूप से वे जानते हैं। उनकी तरह यह आत्मा भी यदि स्वयं अपने ज्ञान को अन्तर में झुकाये तो वह ज्ञान अपने अनन्त धर्मों को स्वामीरूप से जानता है, अर्थात् स्वयं अपने आत्मा को स्वद्रव्यरूप से जानता है और वह ज्ञान ही अपने परमानन्द का कारण होता है। इसके अतिरिक्त, अपने आत्मा को स्वद्रव्यरूप से जानने के लिए कोई पर का ज्ञान काम नहीं आता। प्रमेय भी स्वयं ही है और प्रमाणज्ञान भी अपना ही है। धर्म अनन्त है परन्तु वस्तु एक ही है; नय अनन्त हैं परन्तु प्रमाण एक ही है।

अनन्त नय हैं, वे सब एक श्रुतज्ञान प्रमाण में समाहित हो जाते हैं, श्रुतज्ञान प्रमाण से नय पृथक् नहीं रह जाते; अनन्त धर्म हैं, वे सब एक वस्तु में समाहित हो जाते हैं, वस्तु का एक भी धर्म भिन्न नहीं रह जाता। प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा ही आत्मद्रव्य स्वयं को प्रमेय होता है। अनन्त धर्म और अनन्त नय हैं, ऐसा बतलाया अवश्य, परन्तु अनुभव में उन धर्मों का या नयों का भेद नहीं रहता, अभेद हो जाता है। एक अभेद श्रुतप्रमाण स्वानुभव

से पूरी वस्तु को जानता है। श्रुतज्ञान में अनन्त नयरूप से भेद है, परन्तु प्रमाणरूप से वह अभेद है; इसी प्रकार वस्तु में अनन्त धर्मरूप से भेद है और वस्तुरूप से एक अभेद है। जैसे वस्तु में अभेद और भेद—ऐसे दो प्रकार पड़ते हैं, वैसे ही इसे जाननेवाले ज्ञान में भी भेद और अभेद (अर्थात् प्रमाण और नय)—ऐसे दो प्रकार छद्मस्थ को पड़ते हैं।

आत्मा कैसा है? ऐसा शिष्य ने पूछा था, उसका यह वर्णन चलता है। जिसे अन्दर से खटक मारता हुआ आत्मा का प्रश्न उठा, ऐसे शिष्य को आत्मा समझ में आये और मुक्ति हुए बिना नहीं रहे। जिसे आत्मा समझने की धगश जगी है, वह जीव अनन्त धर्मवाले आत्मा को समझेगा और अनन्त धर्मों में जितने अव्यक्त-शक्तिरूप हैं, वे सब उसे पूर्ण व्यक्त हो जाएँगे। अनन्त धर्मवाले आत्मा की रुचि-प्रतीति की, उसे केवलज्ञानादि समस्त धर्म खिले बिना रहते ही नहीं। केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्रुतज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है, तो भी केवलज्ञान में जैसा आत्मा ज्ञात हुआ, वैसा ही आत्मा श्रुतज्ञानप्रमाण से परोक्ष ज्ञात होता है। श्रुतज्ञान परोक्ष होने पर भी वह सन्देहवाला नहीं, परन्तु निःसन्देह है। श्रुतज्ञान वह परोक्ष प्रमाण है, उस ज्ञान को अन्तर में झुकाकर जिसने अनन्त धर्मवाले आत्मा को स्वीकार किया, उसे उसमें एकाग्रता होकर केवलज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाण खिल जाएगा और अनन्त धर्मवाली वस्तु भी उसके ज्ञान में प्रत्यक्ष हो जाएगी अर्थात् स्वज्ञेय और ज्ञान दोनों पूरे हो जाएँगे।

केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है, वह परोक्ष होने पर भी स्वसंवेदन में आंशिक प्रत्यक्ष है। श्रुतज्ञान अन्तर्मुख होने पर रागरहित चैतन्य स्वसंवेदन का जो अंश है, वह तो प्रत्यक्ष है। आत्मा के अनन्त धर्मों को श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है, परोक्ष होने पर भी वह ज्ञान भी प्रमाण है, निःसन्देहरूप है, उस परोक्ष प्रमाण से जिसने अपने आत्मा को अनुभव किया, उसे पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रमाण हुए बिना रहेगा नहीं।

श्रुतज्ञान प्रमाण होने पर भी, वह पूर्ण ज्ञान नहीं है। पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है, श्रुतज्ञान अपूर्ण ज्ञान है। पूर्ण ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसमें नय नहीं होते। श्रुतज्ञान अपूर्ण होने पर भी वह भी यथार्थ प्रमाण है। केवली ने जैसा जाना, वैसे यथार्थ आत्मा को वह भी परोक्षरूप से बराबर जानता है। साधक को ऐसे श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मा ज्ञात होता है।

यहाँ श्रुतज्ञान में अनन्त नय और वस्तु में अनन्त धर्म स्थापित किये हैं। यह बात बैठे बिना प्रमेय पदार्थ यथार्थ ज्ञात नहीं होता तथा श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं होता अर्थात् प्रमाण और प्रमेय की एकता नहीं होती और वहाँ आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। जिस वस्तु को प्राप्त करनी हो, उसे पहले बराबर पहचाननी तो चाहिए न! भगवान आत्मा की प्राप्ति करके परमात्मा होने के लिए पहले उसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। आत्मा का ज्ञान किस प्रकार हो, उसका यह वर्णन चलता है। जो श्रुतज्ञान अनन्त नयोंवाला है, ऐसे श्रुतज्ञानपूर्वक स्वानुभव से आत्मा ज्ञात होता है।

श्रुतज्ञान अनन्त नयोंवाला कब होता है? कि अनन्त धर्मोंवाले एक आत्मा को जाने तब। यदि ऐसा न जाने और आत्मा को सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा शुद्ध या सर्वथा अशुद्ध इत्यादि रूप से एक ही धर्मवाला मान ले तो, उसने माना हुआ आत्मा पूरा (अनन्त धर्मात्मक) नहीं होता और उसका श्रुतज्ञान भी अनन्त नयोंवाला नहीं होता, अर्थात् प्रमाणज्ञान नहीं होता परन्तु मिथ्याज्ञान ही रहता है। इसलिए यहाँ ऐसा कहा कि अनन्त नयवाले श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। ऐसे श्रुतज्ञान को या आत्मा के अनन्त धर्मों को जो न स्वीकार करे, उसे आत्मा का स्वानुभव कभी सच्चा नहीं होता।

इस जगत में अनन्त आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं, एक-एक आत्मा में अनन्त धर्म हैं, उन एक-एक धर्म को जाननेवाला एक-एक नय है; ऐसे अनन्त नयोंवाला एक श्रुतज्ञान प्रमाण है और उन धर्मों को कहनेवाली वाणी भी है; इस प्रकार पदार्थ के धर्म, उन्हें जाननेवाला ज्ञान और उन्हें कहनेवाली वाणी—इन सबको यदि न स्वीकार करे तो श्रुतज्ञान प्रमाण होकर आत्मा का अनुभव नहीं होता। पूर्ण आत्मा के स्वानुभव बिना उसके एक-एक अंश का-एक-एक धर्म का भी ज्ञान सच्चा नहीं होता और उसे सम्यक्नय भी नहीं होते। इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या, उसकी वाणी मिथ्या और उसने माना हुआ धर्म भी मिथ्या है। यहाँ तो साधक जीव की बात है। साधक जीव अनन्त धर्मवाले आत्मा को श्रुतज्ञान प्रमाण से अनुभव करता है और उसे ही सम्यक्नय होते हैं। वह नय-प्रमाण से आत्मा को कैसा जानता है, उसका यहाँ वर्णन करते हैं। ये नय साधक को होते हैं, अज्ञानी को या केवली को नय नहीं होते। केवली को तो केवलज्ञान में आत्मा पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञात हो गया है और पूर्णता हो गयी है, इसलिए उन्हें अब नय से कुछ साधना नहीं रहा और अज्ञानी को तो वस्तु

का भान ही नहीं है, इसलिए उसे भी नय नहीं होते। नय, वह श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है, वह साधक को ही होते हैं। आत्मा के ज्ञान की पाँच प्रकार की अवस्थाएँ हैं : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। उनमें से मुख्यरूप से श्रुतज्ञान ही आत्मा का साधक हो सकता है। क्योंकि केवलज्ञान तो छद्मस्थ जीव को होता नहीं, अवधि और मन:पर्ययज्ञान का विषय परपदार्थ है, इसलिए वे भी साधक नहीं होते। मतिज्ञान सामान्यरूप से जानता है, इसलिए उसमें नय नहीं पड़ते और श्रुतज्ञान प्रमाण ही अनन्त धर्मवाले आत्मा को जानता है और उस प्रमाण से ही आत्मा का स्वानुभव होता है, उस श्रुतज्ञान में नय होते हैं।

अनन्त धर्मोंवाला आत्मा है, वह प्रमेय है और अनन्त नयोंवाला श्रुतज्ञान है, वह प्रमाण है। उसमें से अब सैंतालीस नयों द्वारा आत्मा के सैंतालीस धर्मों का वर्णन करेंगे। वस्तु में अनन्त धर्म हैं, वे सब वाणी से भिन्न-भिन्न वर्णन नहीं किये जा सकते, वाणी में तो अमुक ही आते हैं। यहाँ सैंतालीस नय से सैंतालीस धर्म कहकर आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, परन्तु उसमें दूसरे अनन्त धर्म भी साथ में आ ही जाते हैं। नयों के समूह द्वारा आत्मा कैसा ज्ञात होता है, उसका यह वर्णन है। सब नयों का समूह, वह प्रमाण और सब धर्मों का समूह, वह प्रमेय वस्तु। ऐसे प्रमाणपूर्वक प्रमेय की ओर ढलने से स्वानुभव से आत्मा ज्ञात होता है।

हे प्रभु! यह आत्मा कैसा है ? ऐसा शिष्य ने पूछा था। उसके उत्तर में आचार्यदेव ने पहले तो संक्षिप्त में कहा कि आत्मा अनन्त धर्मोंवाला एक द्रव्य है और वह अनन्त नयोंवाले श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा ज्ञात होता है।

अब आचार्यदेव सैंतालीस नयों से आत्मा का वर्णन करते हैं। यहाँ एक-एक नय से एक-एक धर्म का वर्णन है, परन्तु उसमें पूरा प्रमाण और पूरा प्रमेय साथ ही आ जाता है।

✦✦✦

आत्मा के किसी भी धर्म को स्वीकार करनेवाला आत्मद्रव्य के सन्मुख देखकर ही उस धर्म को स्वीकार करता है; नहीं कि परसन्मुख; क्योंकि आत्मा के अनन्त धर्मों में से कोई भी धर्म पर के आधार से नहीं है किन्तु अनन्त धर्म के पिण्डरूप आत्मद्रव्य के आधार

से ही प्रत्येक धर्म रहा हुआ है। इसलिए पूरा धर्मी दृष्टि में आये बिना उसके एक-एक धर्म की स्वीकृति यथार्थ नहीं होती। नय से एक-एक धर्म को मुख्य करके देखनेवाला गौणरूप से अनन्त धर्मवाली पूर्ण वस्तु को भी स्वीकार करता है, क्योंकि धर्म तो वस्तु का है। एक धर्म कहीं वस्तु से पृथक् पड़कर नय का विषय नहीं होता, इसलिए किसी भी नय से एक धर्म को मुख्य करके देखनेवाले की दृष्टि भी अकेले धर्म पर नहीं होती। धर्म तो धर्मी ऐसी अखण्ड वस्तु के आधार से रहा हुआ है; इसलिए उस पर ही दृष्टि रखकर एक-एक धर्म का सच्चा ज्ञान होता है। समस्त नयों के वर्णन में यह बात विशेष ध्यान में रखना चाहिए।●●

यह वस्तु के स्वभाव का वर्णन है। वस्तु के स्वभाव का जो निर्णय करता है, उसे अपने में स्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्याय शुरु हो जाती है। किसी भी शक्ति से आत्मस्वभाव का निर्णय करने से ज्ञान अन्तर्मुख होकर परिणमता है इसलिए उस ज्ञान में आत्मा की प्रसिद्धि होती है.... यही उसका फल है।

(1)
द्रव्यनय

तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् १।

यह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति चिन्मात्र है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से चैतन्यमात्र है, जैसे वस्त्र, वस्त्रमात्र है।)

अनन्त धर्मात्मक आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है। अनन्त धर्मात्मक पूरा आत्मद्रव्य है, वह प्रमाण का विषय है और नय से देखने पर वही आत्मद्रव्य एक धर्मात्मक दिखायी देता है। नय अर्थात् ज्ञान का पहलू। वस्तु के सामान्य पहलू को जाननेवाला ज्ञान, वह द्रव्यनय है। जैसे वस्त्र में कितने ताना-बाना हैं, ऐसे ताना-बाना का भेद किये बिना एक वस्त्ररूप ही उसे जानना कि यह वस्त्र है; उसी प्रकार आत्मद्रव्य में अनन्त गुण-पर्याय के भेदों को गौण करके आत्मा चिन्मात्र द्रव्य है, ऐसा सामान्यरूप से लक्ष्य में लेना, इसका नाम द्रव्यनय है। आत्मा में तो एक साथ में अनन्त धर्म हैं, परन्तु उनमें से 'आत्मा चैतन्यमात्र द्रव्य है।' ऐसे धर्म की मुख्यता से आत्मा को लक्ष्य में लेना, इसका नाम द्रव्यनय है। इस द्रव्यनय से देखने पर आत्मा चैतन्यमात्र है। आहाहा!

आचार्यदेव ने समस्त बोलों में दृष्टान्त देकर समझाया है। यहाँ वस्त्र का दृष्टान्त आया है। जैसे वस्त्र में कितने ताना, कितना लम्बा-चौड़ा और कैसा रंग - ऐसे किसी भेद को लक्ष्य में नहीं लेकर, एकरूप सामान्य वस्त्ररूप देखने से 'यह वस्त्र है', ऐसा ज्ञात होता है; उसी प्रकार अनन्त धर्मोंवाले आत्मा को द्रव्यनय से देखने पर—सिद्ध या संसारी, साधक और बाधक, ऐसे कोई पर्यायभेद या दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसे गुणभेदों को गौण करके देखने से—एकरूप सामान्य चैतन्यरूप से आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा में गुण-पर्याय के भेद किये बिना सामान्यरूप से देखने से वह चैतन्यमात्र द्रव्य है; द्रव्यनय से ऐसा आत्मा प्रमेय होता है। इस प्रकार, आत्मा के धर्म को जानकर श्रुतज्ञान को प्रमाण करके

स्वानुभव करे तो ही अनन्त धर्मात्मक आत्मा जैसा है, वैसा प्रमेय होता है।

'इतने सब नयों से आत्मा को जानने का क्या काम है ?' मात्र (आत्मा है) ऐसा जान लें तो नहीं चलेगा ? ऐसा कोई पूछे तो उसका उत्तर : भाई ! 'आत्मा है', ऐसा ऊपरी तौर से तो सब कहते हैं, परन्तु आत्मा में जैसे अनन्त धर्म हैं, वैसे धर्मों से उसे पहिचाने तो ही आत्मा को जाना कहलाये। 'आत्मा है', ऐसा कहे परन्तु उसके अनन्त धर्म जिस प्रकार से हैं, उस प्रकार से न जाने तो उसने आत्मा को जाना नहीं कहलाता।

बहुत से लोग, आत्मा है—ऐसा कहते हैं, परन्तु उसमें अनन्त धर्म हैं, ऐसा नहीं मानते, या तो सर्वथा एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य, एकान्त शुद्ध या एकान्त अशुद्ध मानते हैं; इसलिए यहाँ आचार्यदेव ने अनेक नयों से आत्मा के धर्मों का वर्णन करके वस्तुस्वरूप बहुत स्पष्ट किया है।

इन नयों में विकल्प या राग की मुख्यता नहीं है, परन्तु वस्तुस्वरूप के ज्ञान की मुख्यता है। तत्त्व के अन्वेषण काल में या वस्तुस्वरूप का निर्णय करने के लिये ये नय कार्यकारी हैं। इन नयों से वस्तु का निर्णय करना, वह ज्ञान की निर्मलता का कारण है। आत्मा अपने अनन्त धर्मों से और पर के अभाव से टिका हुआ द्रव्य है। यदि आत्मा अनन्त धर्मोंवाला न हो, तब तो टिककर पलटे कैसे ? पर से भिन्न स्व-रूप से रह कैसे सके ? यदि आत्मा में 'नित्य' धर्म ही हो और 'अनित्य' धर्म न हो तो वह पलट ही नहीं सकता। यदि अनित्य धर्म ही हो और नित्य धर्म न हो तो वह कायम टिक नहीं सकता, पलटने से उसका नाश ही हो जाये; और, आत्मा में 'अस्ति' धर्म न हो और 'नास्ति' धर्म न हो, तब तो पररूप भी हो जाये। इस प्रकार, नित्य-अनित्य, अस्ति-नास्ति इत्यादि अनन्त धर्म आत्मा में एकसाथ न हों तो आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होती। अस्ति-नास्ति, द्रव्य-पर्याय इत्यादि अनन्त धर्मों के बिना आत्मा रह ही नहीं सकता और उसे जाननेवाला ज्ञान भी यदि अनन्त नयोंवाला न हो तो वह अनन्त धर्मों को जान नहीं सकता। अनन्त धर्मात्मक एक आत्मा को अनन्त नयात्मक एक ज्ञान से जाने तो ही आत्मा ज्ञात होता है। पूरे अनन्त धर्मात्मक पदार्थ का ज्ञान, वह प्रमाण है और वस्तु के एक-एक धर्म को जाने, वह एक-एक नय है। श्रुतज्ञान से आत्मस्वभाव को भलीभाँति जानकर उपयोग को उसमें जोड़ना, इसका नाम ही

योग है। श्रुतज्ञान से जैसा आत्मा है, वैसा जाने बिना उसके साथ उपयोग का जुड़ान नहीं होता; इसलिए ज्ञान उसमें एकाग्र नहीं हो सकता; उसमें एकाग्रता बिना उसका ध्यान नहीं होता। जाने बिना ध्यान किसका ? पहले प्रमाण द्वारा ऐसे आत्मा को प्रमेय करे तो ही उसमें एकाग्रतारूप ध्यान हो सकता है। इसलिए प्रथम सब पहलुओं से आत्मा का निर्णय करना चाहिए।

जीव ने अनादिकाल से सब किया है, परन्तु अपने आत्मस्वभाव को कभी नहीं जाना। यदि एक बार भी आत्मा को भलीभाँति जाने तो उसे परम आनन्द की प्राप्ति हुए बिना रहे नहीं। आत्मा कौन है और वह कैसे प्राप्त होता है ?—यह जानने की जिसे जिज्ञासा जागृत हुई है, ऐसे शिष्य के प्रश्न का यह उत्तर चल रहा है। आत्मा कैसा है ? उसका यह वर्णन चल रहा है, उसकी प्राप्ति का उपाय बाद में कहेंगे। पहले जैसा है, वैसा आत्मा जाने बिना उसकी प्राप्ति होगी नहीं।

अनन्त धर्मात्मक आत्मद्रव्य कहा, वह तो सामान्य-विशेष का पिण्ड, प्रमाण का विषय है और यहाँ आत्मा को सामान्य चिन्मात्र कहा, वह द्रव्यनय का विषय है, विशेष को गौण करके एक सामान्य पहलू है। अनन्त धर्मात्मक एक आत्मद्रव्य, वह प्रमाण का विषय है, उसकी बात पहले की। अब यहाँ नय के विषय का वर्णन है। प्रमाण के विषयरूप जो पूरा आत्मद्रव्य है, उसके एक धर्म को नय जानता है, नय का विषय वस्तु का एक धर्म है। गुण-पर्याय के भेद को गौण करके, सामान्य चिन्मात्र पहलू से आत्मा को लक्ष्य में लेने का नाम द्रव्यनय है।

आत्मा के अनन्त धर्मों में से यह एक धर्म है, उसके साथ दूसरे अनन्त धर्म हैं, उन्हें यदि न माने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। कोई ऐसा कहे कि आत्मा तो चैतन्यमात्र ही है और विकार तो पर के कारण होता है—तो ऐसा माननेवाले ने आत्मा के सब धर्मों को माना नहीं। जैसे चैतन्यमात्रपना, वह आत्मा का एक धर्म है, वैसे अवस्था में विकार होता है, वह भी आत्मा की पर्याय का धर्म है, उसे न माने तो प्रमाणज्ञान नहीं होता।

आत्मा चैतन्यमात्र स्वभाव है—ऐसे जो आत्मा के चिन्मात्र धर्म को जाने, वह जीव अपना ज्ञान बाहर से आना नहीं मानता, क्योंकि चैतन्यधर्म तो अपना है, उसमें से ही विशेष

ज्ञान आता है। विशेष ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता, किसी शास्त्र में से या वाणी के श्रवण में से आत्मा का ज्ञान नहीं आता। ज्ञान तो आत्मा के चैतन्यमात्र धर्म में से ही आता है, वह धर्म आत्मा के अपने ही आश्रय से है। आत्मा का जो सामान्य चैतन्यस्वभाव है, वह स्वयं ही तीनों काल विशेषरूप से परिणम जाता है। अज्ञानी को भी उसका जो सामान्य चैतन्यस्वभाव है, वही विशेष ज्ञानरूप परिणमा करता है, परन्तु उसे उस सामान्य की प्रतीति नहीं है, इसलिए सामान्य के साथ विशेष की एकता वह नहीं करता परन्तु पर के साथ एकता मानता है, इसलिए उसका विशेष अयथार्थ होता है। द्रव्यनय से आत्मा को चिन्मात्र कहा, उस चिन्मात्र धर्म को कहाँ देखना?—पर में नहीं, परन्तु आत्मवस्तु में देखना, क्योंकि वह धर्म पर में नहीं परन्तु अपने में ही है।

श्रोता : आत्मा तो सूक्ष्म है, उसे देखने का कोई सूक्ष्मदर्शकयन्त्र नहीं होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा को किस प्रकार से देखना, उसकी ही यह बात चलती है। श्रुतज्ञान को अन्तर में झुकाना, यही आत्मा को देखने का सूक्ष्मदर्शकयन्त्र है। आत्मा स्वयं सूक्ष्म अरूपी वस्तु है, वह द्रव्य अरूपी, उसके गुण अरूपी और उसकी पर्याय भी अरूपी है। इसलिए वे तीनों सूक्ष्म और उन्हें जाननेवाला श्रुतज्ञानप्रमाण भी सूक्ष्म है। आत्मा की ओर के झुकाववाला वह ज्ञान ही सूक्ष्म आत्मा को देखनेवाला सूक्ष्मदर्शकयन्त्र है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय इत्यादि कोई बाह्य पदार्थों से या विकल्प से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। एक बार यथार्थ सुनकर ऐसी वस्तु को समझे तो कहीं सन्देह नहीं रहता। देवाधिदेव सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि तेरा आत्मा ही तेरा चैतन्यदेव है, तू ही तेरे अनन्त धर्मों को धरनेवाला है, उसे पहिचानकर उसकी आराधना कर तो तेरी परमात्मदशा प्रगट हो जायेगी।

नय एक धर्म को मुख्य करके जानता है, परन्तु वस्तु में अनन्त धर्म एक साथ ही हैं। जहाँ रंग हो, वहाँ उसके साथ ही गन्ध, रस और स्पर्श भी होता ही है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये सब पुद्गल के धर्म हैं, उनमें से एक हो और दूसरा न हो, ऐसा नहीं होता। जहाँ एक धर्म होता है, वहाँ दूसरे सभी धर्म भी साथ ही रहे हुए हैं; इसी प्रकार आत्मा में ज्ञानादि अनन्त धर्म हैं, उनमें से कोई एक धर्म मुख्य करके कहा, वहाँ वस्तु में दूसरे अनन्त धर्म भी इकट्ठे ही हैं, उन्हें जाने तो ज्ञान प्रमाण है।

आत्मा में अनन्त धर्म हैं। आत्मा अनन्त धर्मोंवाला एक स्वतन्त्र द्रव्य है, उसे जाननेवाला श्रुतज्ञान अनन्त नयों के समूहरूप है; ऐसे श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। केवली भगवान को तो आत्मा पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, उनके लिये यह वर्णन नहीं है। यहाँ तो साधक जीव के लिये वर्णन है, इसलिए श्रुतज्ञान और नय से वर्णन किया है। साधक जीव श्रुतज्ञान प्रमाण से आत्मा को जानता है, वह श्रुतज्ञान अनन्त नयोंवाला है। उसमें से प्रत्येक नय आत्मा के एक-एक धर्म को जानता है।

यहाँ, द्रव्यनय से आत्मा कैसा है, यह बात चलती है। द्रव्यधर्म से अर्थात् सदृश एकरूप चिन्मात्रस्वभाव से आत्मा को लक्ष्य में ले, उसका नाम द्रव्यनय है। आत्मा के अनन्त धर्मों में एक ऐसा धर्म है कि आत्मा एकरूप सदृश है, उस धर्म को द्रव्यनय जानता है। वस्तु में जो धर्म हो, उसका ही ज्ञान होता है। वस्तु में धर्म न हो तो उसका ज्ञान भी कहाँ से होगा ? आत्मा में कैसे-कैसे धर्म हैं, वह यहाँ वर्णन करते हैं। चिन्मात्ररूप से कायम सदृशरूप टिकता ऐसा आत्मा का अपना स्वभाव है; इसलिए आत्मा किसी पर के आधार से टिका हुआ नहीं है, कोई ईश्वर उसका टिकानेवाला नहीं है, परन्तु स्वयं अपने चिन्मात्रस्वभाव से टिका हुआ है, ऐसा उसका एक धर्म है। एक-एक धर्म में ही पूरा आत्मा समाहित नहीं हो जाता, परन्तु अनन्त धर्मों का एकरूप पिण्ड आत्मा है; इसी प्रकार एक-एक नय में पूरी वस्तु का ज्ञान आ नहीं जाता, परन्तु सब नय इकट्ठे होकर पूरी वस्तु का प्रमाणज्ञान होता है। आत्मा के अनन्त धर्मों में चैतन्यमात्रपना, वह एक धर्म है। उस धर्म से चैतन्यमात्र आत्मा को जाने, वह द्रव्यनय है।

जिस धर्म को जो नय जाने, उस धर्म का उस नय में आरोप होता है अर्थात् द्रव्यधर्म को जाने, उस नय को द्रव्यनय कहा; पर्यायधर्म को जाने, उस नय को पर्यायनय कहा; अस्तित्व धर्म को जाने, उस नय को अस्तित्वनय कहा। इस प्रकार, सैंतालीस नयों द्वारा आत्मा कैसा ज्ञात होता है, यह आचार्यदेव बतलाते हैं। नय, वस्तु के एक धर्म को मुख्य करके जानता है और प्रमाण सब धर्मों को एक साथ जानता है। वस्तु तो एक साथ अनन्त धर्म का पिण्ड है। सैंतालीस नयों से आत्मा का वर्णन करके अन्त में आचार्यदेव ऐसा कहेंगे कि स्याद्वाद के वश वर्तते नयसमूह द्वारा जीव देखे तो भी अनन्त धर्मवाले अपने आत्मा को अन्दर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखता है ही। इसलिए चाहे जिस नय से वर्णन किया

हो परन्तु अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखना, वह ही सब नयों का प्रयोजन है; कोई भी एक सम्यक्नय से देखनेवाला अपने शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा को देखता है।

देखो, जगत में आत्मा है और उस प्रत्येक आत्मा में अनन्त धर्म हैं - ऐसा वस्तुस्वरूप जो कहते हों, वे ही देव-गुरु-शास्त्र सच्चे हैं। जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्मा और प्रत्येक आत्मा में अनन्त धर्म-उसे जो स्वीकार न करते हों, वे कोई देव-गुरु या शास्त्र सच्चे नहीं हैं; ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को जो माने, उसे तो अभी व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है, वह तो धर्म से बहुत दूर है। वस्तु का स्वरूप जिस प्रकार से है, उस प्रकार से ज्ञान में आये बिना ज्ञान स्थिर नहीं होता और ज्ञान स्थिर हुए बिना विकल्प नहीं टूटता अर्थात् चित्त का निरोध नहीं होता। वस्तु स्वरूप को जैसा है, वैसा जानकर जहाँ ज्ञान उसमें एकाग्र हो, वहाँ राग या विकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती, इसका नाम ही चित्त का निरोध है। इसके अतिरिक्त 'मैं चित्त को रोकूँ, मैं विकल्प को रोकूँ' ऐसे नास्ति के लक्ष्य से कहीं विकल्प नहीं टूटता, परन्तु विकल्प उत्पन्न होता है। 'मैं चैतन्यमात्र स्वभाव हूँ'— ऐसे अस्तित्व स्वभाव की ओर ज्ञान का जोर देने से चित्त का निरोध सहज हो जाता है। स्वभाव की एकाग्रता के जोर से राग का अभाव हो जाता है, इसलिए पहले वस्तु के स्वभाव को समस्त पहलुओं से जैसा है, वैसा जानना चाहिए।

यहाँ जो द्रव्यनय कहा, उसका विषय तो एक ही धर्म है और समयसारादि में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो मुख्य नय लिये हैं, उसमें जो द्रव्यार्थिकनय है, उसका विषय तो अभेद द्रव्य है। यहाँ कहा गया द्रव्यनय तो वस्तु में भेद डालकर, उसके एक धर्म को लक्ष्य में लेता है और द्रव्यार्थिकनय तो भेद डाले बिना, वर्तमान पर्याय को गौण करके अभेद द्रव्य को लक्ष्य में लेता है। इस प्रकार दोनों के विषय में बहुत अन्तर है। समयसार में कथित शुद्धनिश्चयनय का विषय है, वह इस द्रव्यनय का विषय नहीं है; उस निश्चयनय का विषय तो वर्तमान अंश को तथा भेद को गौण करके पूरे अनन्त गुण का पिण्ड है और यह द्रव्यनय तो अनन्त धर्मों में से एक धर्म का भेद डालकर विषय करता है।

अध्यात्मदृष्टि के नयों में तो निश्चय और व्यवहार (अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) ऐसे दो भाग पड़ते हैं और यहाँ तो अनन्त नय लेना है, वहाँ दो नयों में पूरा

प्रमाण समाहित हो जाता है और यहाँ तो श्रुतप्रमाण के अनन्त नय कहे हैं। यहाँ कथित नयों का विषय एक-एक धर्म है और समयसारादि में कथित द्रव्यार्थिकनय का विषय तो धर्म का भेद डाले बिना अभेद वस्तु है। यहाँ जिसे द्रव्यनय कहा है, वह अध्यात्मदृष्टि के कथन में तो पर्यायार्थिकनय में अथवा व्यवहारनय में जाता है। इस परिशिष्ट में ज्ञानप्रधान वर्णन है, प्रमाण से वर्णन है, इसलिए बन्ध-मोक्ष की पर्याय को भी निश्चय में गिनेंगे; जबकि समयसारादि में कथित निश्चयनय के विषय में तो आत्मा को बन्ध-मोक्ष है ही नहीं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से जैसा कहा है, वैसा बराबर समझना चाहिए।

द्रव्यनय से आत्मा चैतन्यमात्र है, यह बात की। अब उस द्रव्यनय के सामने पर्यायनय की बात करते हैं। ●●

स्व-पर को सम्पूर्णरूप से जाने, ऐसा आत्मा का स्वभाव सामर्थ्य है। आत्मा के स्वभाव सामर्थ्य को जो जानता है, उस जीव को 'मैं मेरा कार्य नहीं साध सकता,' ऐसा अनुत्साह भाव नहीं रहता, तथा 'मैं पर का करूँ', ऐसा अभिमान भी नहीं रहता अर्थात् पर से उदासीनता होकर स्वभाव का उत्साह बढ़ता है। स्वभाव शक्ति के भरोसे चाहे जैसे प्रसंग में भी वह उत्साहहीन नहीं होता... किन्तु उत्साहपूर्वक वह स्वकार्य को साधता है।

(2)
पर्यायनय

पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् २।

आत्मद्रव्य पर्यायनय से, तन्तुमात्र की भाँति, दर्शन-ज्ञानादि मात्र है (अर्थात् आत्मा पर्यायनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि मात्र है, जैसे वस्त्र तन्तुमात्र है।)

अनन्त धर्मात्मक आत्मद्रव्य है, वह पर्यायनय से, तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञानादिमात्र है; जैसे वस्त्र तन्तुमात्र है, वैसे आत्मा पर्यायनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि मात्र है।

पर्यायनय, वह श्रुतज्ञान का प्रकार है, उस पर्यायनय से देखने पर आत्मद्रव्य दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि मात्र ज्ञात होता है। द्रव्यनय से अभेद एकरूप चैतन्यस्वभावमात्र ज्ञात होता है और पर्यायनय से वह आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि गुण-पर्याय के भेदवाला भी ज्ञात होता है, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। पर्यायनय से ज्ञानादि अनन्त गुण-पर्याय के भेदरूप से आत्मा भासित होता है और द्रव्यनय से एक अभेदरूप चैतन्यस्वभावमात्र आत्मा ज्ञात होता है। वस्तु एक है, परन्तु उसमें पहलू अनेक हैं। चीज़ तो जैसी है, वैसी सब पहलुओं से जानकर निर्णय करे, तत्पश्चात् ही ज्ञान उसमें स्थिर हो न! वस्तु के स्वभाव को जाने बिना किसमें एकाग्र होकर ध्यान करे? जैसे किसी ने हाथ में बाण तो लिया परन्तु वह बाण मारना किसे है? जिसे बाण मारना है, उस लक्ष्य को निश्चित न किया हो तो वह बाण लेना किस काम का? इसी प्रकार जिसके ऊपर बाण छोड़ना हो, उस लक्ष्य को बराबर निर्णय करने के पश्चात् ही बाण छोड़ता है; उसी प्रकार आत्मा का ध्यान करने के लिये पहले उसका बराबर ज्ञान करना चाहिए। आत्मा जैसा है, वैसा लक्ष्य में लिये बिना ध्यान किसका करेगा? बहुत लोग कहते हैं कि हमारे ध्यान करना है—परन्तु किसका?

ध्यान में लेनेयोग्य आत्मा का स्वभाव क्या है, यह जाने बिना उसका ध्यान किस प्रकार करेगा ? वस्तु को यथार्थ ज्ञान से जानने के पश्चात् ही वस्तु में ज्ञान की एकाग्रता हो, उसका नाम ध्यान है। जिसे वस्तु का सच्चा ज्ञान ही नहीं, उसे तो ज्ञान की एकाग्रतारूप ध्यान भी नहीं होता।

जैसे वस्त्र सामान्यरूप से एक होने पर भी वह लम्बा-चौड़ा, रंगवाला तथा ताना-बानावाला है—ऐसे भेदरूप से भी ख्याल में आता है; वैसे ही चैतन्यबिम्ब भगवान आत्मा द्रव्यरूप से एक होने पर भी उसमें दर्शन-ज्ञानादि अनन्त धर्म भरे हैं, इसलिए पर्यायनय से वह दर्शन-ज्ञानादि भेदरूप है। द्रव्यरूप से देखने पर भेद गौण होकर एक ओर चिन्मात्र भासित होता है और पर्यायनय से देखने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुण-पर्यायों के भेदरूप भी भासित होता है—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में दर्शन-ज्ञान इत्यादि भेद हैं, वे कहीं कल्पनारूप नहीं है परन्तु सत् है। वस्तु में कथंचित् गुणभेद भी है, वस्तु सर्वथा अभेद नहीं परन्तु भेदाभेदरूप है, ऐसी वस्तु, वही प्रमाण का विषय है।

तीनों काल में पर्याय होने का आत्मा का स्वभाव है। वस्तु में गुणभेद पड़ें, उन्हें भी पर्याय कहा जाता है और विशेष अवस्था हो, उसे भी पर्याय कहा जाता है। द्रव्यनय से वस्तु नित्य एकरूप होने पर भी, पर्यायनय से उसमें तीनों काल नयी-नयी अवस्था हुआ करती है, ऐसा उसका स्वभाव है। आत्मा की कोई पर्याय पर के कारण नहीं होती, परन्तु अपने पर्यायस्वभाव से ही उसकी पर्याय तीनों काल हुआ करती है। आत्मा में पर्यायधर्म कब नहीं हैं ?—सदा हैं। यदि आत्मा के पर्यायधर्म को जाने तो पर के आश्रय से अपनी पर्याय होना नहीं माने परन्तु द्रव्य के आश्रय से ही पर्याय का होना माने, इसलिए उसे पर से लाभ-नुकसान होता है, ऐसी मिथ्याबुद्धि रहती ही नहीं। यदि पर से अपनी पर्याय में लाभ-नुकसान माने तो उसने आत्मा के पर्यायधर्म को वास्तव में नहीं जाना है।

द्रव्यनय से निगोद से सिद्ध तक सदा ही आत्मा एकरूप है, न्यून पर्याय या अधिक पर्याय - ऐसे भेद उसमें नहीं है, परन्तु पर्यायनय से वह भेदरूप है। संसार-मोक्ष ऐसी पर्यायरूप से आत्मा स्वयं परिणमता है। पर्यायधर्म अपना है, कोई दूसरी चीज़ के कारण उसका पर्यायधर्म नहीं होता। यदि दूसरा पदार्थ आत्मा की पर्याय करे तो आत्मा के

पर्यायधर्म ने क्या किया ? यदि निमित्त से पर्याय हुई, ऐसा होवे तो आत्मा का पर्यायधर्म ही नहीं रहा ! अपनी अनादि-अनन्त पर्यायें स्वयं से ही होती है-ऐसे यदि अपने पर्यायधर्म को न जाने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। स्वभाव-सन्मुख ढलता हुआ ज्ञान प्रमाणपूर्वक ही ढलता है। वस्तुस्थिति जानकर ज्ञान प्रमाण हुए बिना वह वस्तुस्वभाव में ढलता ही नहीं, इसलिए उसे आत्मा का अनुभव होता ही नहीं।

यदि द्रव्यनय से भी आत्मा को संसार होवे तो वह संसार नित्य रहा ही करे और यदि पर्यायनय से भी आत्मा को संसार न हो तो आत्मा की मुक्ति ही होनी चाहिए; इसलिए दोनों नय से वस्तु के स्वरूप को जानना चाहिए। यदि द्रव्यनय से आत्मद्रव्य में संसार होवे तो वह मिटेगा कहाँ से ? और पर्याय में संसार है, वह पर्याय के अवलम्बन से मिटेगा कैसे ? द्रव्यनय से आत्मा को संसार-मोक्ष नहीं है। संसारपर्याय में या मोक्षपर्याय में सदा ही आत्मा चिन्मात्र ही है, परन्तु पर्याय में संसार-मोक्ष है, उसे पर्यायनय जानता है, परन्तु उस पर्याय के आश्रय से संसार मिटता नहीं है, द्रव्य का आश्रय करने से संसारपर्याय मिटकर मोक्षपर्याय हो जाती है; इसलिए पर्यायनयवाला भी पर्यायबुद्धि रखकर पर्याय को नहीं जानता, परन्तु द्रव्य पर दृष्टि रखकर पर्याय का ज्ञान करता है। द्रव्य की दृष्टि बिना मात्र पर्याय को जानने जाये तो उसे पर्यायबुद्धि का मिथ्यात्व हो जाता है। पूरे द्रव्य के ज्ञानपूर्वक उसके पर्यायधर्म को पर्यायनय जानता है, उस पर्यायनय से आत्मद्रव्य गुण-पर्याय के भेदवाला ज्ञात होता है।

द्रव्यदृष्टि से जो वस्तु सामान्य एकरूप रहती है, वही वस्तु पर्यायदृष्टि से समय-समय में अन्य-अन्य होती है; यदि पर्यायदृष्टि से भी वह वैसी की वैसी ही रहा करती हो तो समय-समय में जो विशेष कार्य होता है, वह ही नहीं हो सकता अथवा विशेष बदलने पर सामान्य पृथक् रह जाये अर्थात् सामान्य और विशेष सर्वथा पृथक् हो जायेंगे, परन्तु ऐसा होता ही नहीं, क्योंकि सामान्य कभी विशेष बिना नहीं होता और विशेष कभी सामान्य के बिना नहीं होता। वस्तु अनेक धर्मात्मक है, सामान्य-विशेष दोनों को एकसाथ न मानो तो वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी।

नय से विचार करनेवाला भी, सब धर्मों का समुदाय, वह आत्मा है – ऐसा लक्ष्य

में रखकर उसके एक-एक धर्म का भेद डालकर नय से विचार करता है; तत्त्व के विचार के काल में ऐसे धर्मों से वस्तु को निश्चित करना चाहिए। तत्त्व का निर्णय करके अभेद चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं। जहाँ अभेदस्वभाव के अनुभव में ढला, वहाँ ऐसे धर्म के भेद के विचार नहीं रहते।

नय से एक धर्म को देखने पर भी दृष्टि में तो पूरी वस्तु आ जाती है और तब ही एक धर्म के ज्ञान को नय कहा है। नय कहते ही वस्तु का एक पक्ष आया, अर्थात् दूसरे पक्ष (पहलू) बाकी हैं, ऐसा भी उसमें आ गया। नय एक धर्म को मुख्य करके वस्तु को लक्ष्य में लेता है, वह धर्म वस्तु का है और वस्तु अनन्त धर्मवाली है, इसलिए नय के साथ ही उस अनन्त धर्मवाली वस्तु का प्रमाणज्ञान भी साथ ही है। नय तो अंश को जानता है।— अंश किसका ?—कि अंशी का। अंशी के ज्ञान बिना अंश का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। पूरी वस्तु के प्रमाणज्ञानपूर्वक उसके एक अंश का ज्ञान होवे तो ही उसे नय कहा जाता है। इस प्रकार नय के साथ प्रमाण भी साथ ही है।

इस प्रकार द्रव्यनय और पर्यायनय, इन दो नयों से आत्मा का वर्णन किया। अब अस्तित्वनय इत्यादि सात नयों से आत्मा के अस्ति-नास्ति इत्यादि सात धर्मों का वर्णन करते हैं। ●●

(3)
अस्तित्वनय

अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ३।

आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है—लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधानदशा में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति। (जैसे कोई बाण स्वद्रव्य से लोहमय है, स्वक्षेत्र से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित है, स्वकाल से संधान-दशा में है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खेंची हुई दशा में है, और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्वनय से स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है।) ३.

अनन्त धर्मों के पिण्डरूप पूर्ण आत्मद्रव्य तो प्रमाण का विषय है और उसी को अस्तित्वनय से देखने पर वह अस्तित्ववाला है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा अस्तित्ववाला है, इस प्रकार अस्तित्वनय स्व से अस्ति को ही लक्ष्य में लेता है। पर से आत्मा नास्तित्वरूप है, वह बात नास्तित्वनय में आयेगी। अस्तित्व धर्म को जाने, वह अस्तित्वनय; नास्तित्वधर्म को जाने, वह नास्तित्वनय। प्रमाणज्ञान से पूर्ण वस्तु की स्वीकृतिपूर्वक उसके एक पक्ष को मुख्य करके जाने, उसका नाम नय है। वस्तु अपने अनन्त भावों से भरी हुई है, भावरहित कोई वस्तु नहीं होती। वस्तु को पहिचानने के लिये उसमें भरे हुए भावों को जानना चाहिए। वस्तु के भावों को (-धर्मों को) जाने बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे – बाजार में कोई वस्तु लेने जाये तो उसका भाव जान लेता है; उसी प्रकार यहाँ चैतन्यवस्तु की प्राप्ति करने के लिये उसमें विद्यमान उसके स्व-भावों को जानना चाहिए। वस्तु में अनन्त स्वभाव हैं, उनमें से यह अस्तित्व स्वभाव का वर्णन चल रहा है। [स्वभाव का अर्थ है वस्तु का धर्म।]

आत्मा का अस्तित्व है—ऐसा सामान्यरूप से तो अनेक लोग मानते हैं, किन्तु उसका अस्तित्व किस प्रकार है, उसके स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कैसे हैं, उसे जाने बिना यथार्थ आत्मा का अस्तित्व ज्ञात नहीं होता। आत्मा का अस्तित्व जिस स्वरूप से है, उसी स्वरूप से पहिचानकर माने तो वह सच्चा आस्तिक कहलाता है, किन्तु आत्मा के अस्तित्व को जो विपरीतरूप से माने, वह परमार्थत: नास्तिक है।

आत्मा अपने द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से अस्तिरूप है। आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को समझाने के लिये यहाँ आचार्यदेव ने तीर का दृष्टान्त दिया है—जिस प्रकार कोई तीर स्वद्रव्य से लोहमय है, स्वक्षेत्र से डोरी और कमान के मध्य में स्थित है, स्वकाल से सन्धानदशा में अर्थात् धनुष पर खिंची हुई स्थिति में है और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख अर्थात् निशान के सन्मुख है; इस प्रकार वह तीर अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है।

(१) स्वद्रव्य : जिस प्रकार बाण लोहमय है, वह उसका स्वद्रव्य है; उसी प्रकार आत्मा अनन्त गुण-पर्याय का पिण्ड चैतन्यमय है, वह उसका स्वद्रव्य है।

(२) स्वक्षेत्र : जिस प्रकार डोरी और कमान के बीच स्थित है, वह बाण का स्वक्षेत्र है; उसी प्रकार आत्मा अपने असंख्य चैतन्यप्रदेशों में स्थित है, वह उसका स्वक्षेत्र है।

(३) स्वकाल : जिस प्रकार बाण छूटने की तैयारी में अर्थात् खिंची हुई अवस्था में है, वह उसका स्वकाल है; उसी प्रकार आत्मा अपनी साधक आदि वर्तमान अवस्था में है, वह उसका स्वकाल है।

(४) स्वभाव : जिस प्रकार अपने निशान के सन्मुख रहनेरूप भाव, वह तीर का स्वभाव है; उसी प्रकार उस-उस काल की पर्याय के सन्मुख हुआ आत्मा का जो त्रिकाली भाव है, वह उसका स्वभाव है।

इस प्रकार, जैसे बाण अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में स्थित है; उसी प्रकार आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से अस्तित्ववाला है। वस्तु का ऐसा अस्तित्व अपने से ही है, किसी पर के कारण नहीं है।

बाण की खिंची हुई अवस्था, वह बाण का अपना स्वकाल है; मनुष्य के विकल्प के कारण अथवा हाथ के कारण बाण की उस अवस्था का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो बाण का अपना स्वकाल नहीं रहता। उसका स्वकाल उसके अपने अस्तित्व धर्म से है, किसी दूसरे के कारण नहीं है। उसीप्रकार आत्मा की सम्यग्दर्शनादि पर्यायें, वह उसका अपना स्वकाल है, किन्हीं देव-गुरु आदि पर के कारण उस स्वकाल का अस्तित्व नहीं है। अपने वर्तमान प्रवर्तित स्वकाल में द्रव्य स्वयं ही स्थित है, द्रव्य का ही वैसा अस्तित्वधर्म है। इसी प्रकार कमान और डोरी के बीच अपनी लम्बाई-चौड़ाई में तीर स्थित है, वही उसका क्षेत्र है; आकाश का क्षेत्र, वह बाण का स्वक्षेत्र नहीं है, वह तो परक्षेत्र है, उसमें बाण स्थित नहीं है। भाई! तू देख तो कि तेरा अस्तित्व कहीं बाह्य में नहीं है, तुझमें ही तेरा अस्तित्व परिपूर्ण भरा है; सिद्ध भगवान होने का सामर्थ्य भी तेरे अस्तित्व में ही भरा पड़ा है, वह कहीं बाहर से नहीं आता।

जो ज्ञान ऐसे स्व-अस्तित्व को जाने, उसका नाम अस्तित्वनय है। अहो! एक अस्तित्वधर्म कहने से उसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चारों का समावेश हो जाता है। आत्मा का अस्तित्व जानने के लिये उसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जानना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

१- चैतन्यमय अनन्त गुणों का पिण्ड, वह आत्मा का स्वद्रव्य है।

२- शरीर के प्रमाण में, तथापि शरीर से भिन्न, असंख्यप्रदेशी विस्तृत, वह आत्मा का स्वक्षेत्र है।

३- सम्यग्दर्शन, मुनिपना अथवा सिद्धदशा आदि प्रत्येक समय की वर्तमान वर्तती पर्याय, वह आत्मा का स्वकाल है। आत्मा का स्वकाल कहा, इसलिए पर से कोई अवस्था हो, वह बात ही नहीं रहती। निगोदिया जीव की निगोददशा भी उसका स्वकाल है; वह अपने से है—कर्म के कारण नहीं है।

४- उस-उस समय की पर्याय में परिणमित आत्मा के ज्ञानादि भाव त्रिकाल रहते हैं; वर्तमान पर्याय के सन्मुख हुआ भाव स्थायी रहता है अर्थात् ज्ञानादि गुण तीनों काल उस-उस काल की पर्यायरूप परिणमित हो जाते हैं; ऐसा जो त्रिकालस्थायी रहनेवाला भाव है, वह आत्मा का स्वभाव है।

—ऐसे स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव से आत्मा अस्तित्वरूप है। एक अस्तित्वधर्म से आत्मा को बराबर समझे तो सब गड़बड़ी दूर हो सकती है। अस्तित्वधर्म ऐसा बतलाता है कि आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को ग्रहण करनेवाला आत्मा ही है। बस! कहीं परसन्मुख देखने की या पर में से कुछ लेने की बुद्धि नहीं रहती; अपने धर्म के लिये अपने में ही देखना रहता है; आत्मा के ऐसे अस्तित्वस्वभाव को समझे तो वह अपने में ढले बिना न रहे और उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होकर परमानन्द की प्राप्ति हुए बिना न रहे।

प्रश्न—यह तो अत्यन्त सूक्ष्म बात है, इसलिए समझना कठिन लगता है; इससे अच्छा तो, 'स्वाश्रय से मुक्ति और पराश्रय से बन्धन'—ऐसा संक्षेप में ही समझा दीजिये न?

उत्तर—'स्वाश्रय से मुक्ति और पराश्रय से बन्धन'-यह बात सच है, किन्तु इसमें भी साथ में यह बात भी आ जाती है; क्योंकि 'स्वाश्रय से मुक्ति'—ऐसा कहनेवाले को भी स्व का आश्रय करने के लिये 'स्व' कौन है, वह तो जानना पड़ेगा न? स्व अर्थात् अपना आत्मा कौन है-कैसा है, उसे जाने बिना उसका आश्रय कैसे करेगा? प्रथम आत्मा को यथावत् जाने, तभी उसका आश्रय कर सकता है। इस प्रकार 'स्वाश्रय से मुक्ति'-ऐसा कहने से भी पहले स्व को जानने की ही बात आयी।

यहाँ परिशिष्ट में शिष्य का भी यह प्रश्न था कि हे भगवान! यह मेरा आत्मा कौन है-कैसा है कि जिसे जानकर उसका आश्रय करने से मैं परमानन्ददशा को प्राप्त कर लूँ?

शिष्य के उस प्रश्न के उत्तर में यह आत्मा का वर्णन चल रहा है; उसमें आत्मा का अस्तित्व कैसा है, वह बतलाते हैं। इसलिए यदि यह बात सूक्ष्म मालूम हो, तो भी रुचिपूर्वक ध्यान रखकर समझने योग्य है। अब तो बहुत ही स्पष्ट और सरल करके समझाया जा रहा है, किन्तु उसे समझने के लिये मस्तिष्क में से दूसरी चिन्ताओं को निकालकर, जिस प्रकार कहा जाता है, उसी प्रकार लक्ष्य में लेकर अन्तर में विचार करना चाहिए। इसे समझे बिना शान्ति का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं।

आत्मा अनन्त धर्मोंवाला एक पदार्थ है। उसे सामान्य एकरूप अभेद चैतन्यपिण्डरूप से लक्ष्य में लेना, वह निश्चयनय है और एक धर्म का भेद करके लक्ष्य में लेना, वह

व्यवहारनय है। निश्चय से आत्मा को बन्ध-मोक्षवाला कहना भी व्यवहार है।—ऐसी अध्यात्मनय की शैली है; किन्तु इस परिशिष्ट में तो आत्मा बन्ध-मोक्षवाला है, वह भी निश्चयनय में लेंगे; क्योंकि आत्मा स्वयं अकेला ही बन्ध और मोक्षपर्यायरूप परिणमित होता है-वह बतलाने के लिये उन्हें भी यहाँ निश्चय में गिना है; क्योंकि यहाँ द्रव्यदृष्टि के विषय का वर्णन नहीं है किन्तु वस्तु के सभी पक्षों का ज्ञान कराके प्रमाणज्ञान करने की यह बात है। यद्यपि प्रमाण से सभी पक्षों का ज्ञान करनेवाला भी अभेदस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसी ओर ढलता है, किन्तु पहले तत्त्व का निर्णय करते समय धर्म के भेद करके विचार आता है।

आत्मा के अस्तित्वधर्म को जाने तो उसमें स्वकाल की पहिचान भी आ जाती है। प्रतिक्षण जो पर्यायें होती हैं, वह उसका स्वकाल है, वह उसका अपना धर्म है, उसमें दूसरे का अभाव है। तीर की जो पर्याय है, वह उसका अपना स्वकाल है; वह पर्याय हाथ के कारण अथवा आत्मा के कारण नहीं हुई है। पराधीनदृष्टिवाले को ऐसा लगता है कि यदि तीर की पर्याय उसके अपने से ही होती हो तो हाथ लगने से पूर्व क्यों न हुई ? हाथ के आने पर ही क्यों हुई ?—ऐसा पूछनेवाले को वस्तु की पर्याय के समय-समय के उपादान की खबर नहीं है। तीर में पहले अन्य प्रकार की अवस्था का स्वकाल था और पश्चात् धनुष पर अनुसन्धान अवस्था होने का उसका स्वकाल आया, तब वह अवस्था उसी के उपादान से हुई है।

उपादान दो प्रकार के हैं:—एक शाश्वत उपादान और दूसरा क्षणिक उपादान। द्रव्य का जो त्रिकाली स्वभाव है, वह शाश्वत् उपादान है और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय की योग्यता, वह क्षणिक उपादान है; प्रत्येक पर्याय का क्षणिक उपादान भिन्न-भिन्न प्रकार का है। अज्ञानी को प्रतिसमय की पर्याय के स्वतन्त्र उपादान का अर्थात् स्वकाल का भान नहीं है, इसलिए जैसा निमित्त आता है, वैसी पर्याय होती है—ऐसा वह मानता है; वह उसकी मूल में भूल है। और क्षणिक पर्याय जितना ही पूर्ण आत्मा के स्वभाव को मान ले, उसे वस्तु के त्रिकाली शुद्ध उपादान का अर्थात् स्वभाव का भान नहीं है। स्वकाल क्षणिक उपादान है और स्वभाव त्रिकाली उपादान है। आत्मा के अस्तित्वधर्म को जाने, उसमें यह सब आ जाता है। अस्तित्व में स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आ जाते हैं, और द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में यह सब रहस्य समा जाता है।

वस्तु की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल से होती है, निमित्त से नहीं होती—ऐसा वस्तुस्वरूप है। शास्त्रों में 'कर्म जीव को विकार कराते हैं'—ऐसा व्यवहारनय का उपचारकथन आता हो, वहाँ अज्ञानी उसका अर्थ वैसा ही मान लेता है, उसे निश्चय-व्यवहार की खबर नहीं है। निश्चय-व्यवहार में भी अनेक अपेक्षाएँ हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) जब, आत्मा स्वयं विकारी परिणाम करता है-ऐसा बतलाने के लिये उसे निश्चय कहा तब, उसमें कर्म का उदय निमित्त है, उसका ज्ञान कराने के लिये उस निमित्त को व्यवहार कहा; किन्तु वास्तव में कर्म का उदय जीव को विकार कराता है—ऐसा कहने का उस व्यवहार का आशय नहीं है। [वहाँ स्व, वह निश्चय और पर, वह व्यवहार-ऐसी शैली है।]

(२) मोक्षमार्ग का वर्णन चलता हो, वहाँ शुभराग को व्यवहार और शुद्धता को निश्चय कहते हैं। [वहाँ पर्याय की शुद्धता, वह निश्चय और पर्याय की अशुद्धता, वह व्यवहार-ऐसी शैली है।]

(३) जब द्रव्य की बात चलती हो तब, अभेद द्रव्य, वह निश्चय और गुण-पर्याय के जितने भेद पड़ें, वह सब व्यवहार है—ऐसा कहा जाता है। [वहाँ अभेद, वह निश्चय और भेद, वह व्यवहार—ऐसी शैली है।]

इस प्रकार जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे समझना चाहिए।

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्ति है और पर से नास्ति है—यह बात यथार्थ समझे तो सब गुत्थी सुलझ जाये। यह अस्ति-नास्ति धर्म सभी द्रव्यों में है; प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से वह नास्तिरूप है। यहाँ आत्मा के अस्तित्वधर्म की बात चलती है। प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ, वे वस्तु को सिद्ध करती हैं; विरोधी शक्तियाँ ऐसी नहीं होती कि एक-दूसरे का निषेध करें। यदि एक धर्म दूसरे धर्म का निषेध करे, तब तो वस्तु ही अनन्त धर्मवाली सिद्ध न हो। अस्तिधर्म और नास्तिधर्म—दोनों परस्पर विरुद्ध होने पर भी वस्तु में दोनों एकसाथ विद्यमान हैं, इसलिए वस्तु अनेकान्त-

स्वभाववाली है। धर्म अपेक्षा से विरोध होने पर भी एक वस्तु में साथ रहने की अपेक्षा से उनमें विरोध नहीं है। धर्म अनन्त भिन्न-भिन्न होने पर भी धर्मी वस्तु एक है; वह अनन्त धर्मवाली वस्तु प्रमाण का विषय है और उसका प्रत्येक धर्म नय का विषय है।

आत्मा त्रिकाल अपने से ही अस्तित्ववाला है; इसलिए किसी परवस्तु की सहायता हो तो मेरा अस्तित्व बना रहे और मुझे अनुकूलता रहे—यह बात ही नहीं रहती। अहो! मैं अपनी चैतन्यसत्ता से ही सदैव स्थित रहनेवाला हूँ—इस प्रकार यदि अपने अस्तित्व का निर्णय करे तो कितनी निर्भयता हो जाये! जगत का कोई भी प्रतिकूल संयोग आकर मेरा नाश करेगा अथवा मुझे हैरान करेगा—ऐसा भय दूर हो जाये। अपने से ही आत्मा का अस्तित्व है; इसलिए आत्मा का समस्त परपदार्थों के बिना ही चल रहा है। 'मेरा पर के बिना नहीं चल सकता'—ऐसी विपरीत मान्यता करनेवाले अज्ञानी जीव का भी पर बिना ही त्रिकाल निभ रहा है। अपनी पर्याय में उसने राग के बिना अनादिकाल से नहीं चलाया, तथापि द्रव्यस्वभाव में तो राग नहीं है, त्रिकाली तत्त्व राग के बिना ही निभ रहा है। ऐसा समझे तो स्वभावसन्मुख होकर राग से पृथक् हो जाये-पर से पृथक् तो है ही। यहाँ प्रमाण के विषयभूत पूर्ण वस्तु का वर्णन होने से राग को भी आत्मा का धर्म—आत्मा का स्वभाव—कहेंगे। किन्तु उसे जानने का फल भी तो रागरहित चैतन्यस्वभाव की ओर ढलना ही है। आत्मा रागरूप परिणमित होता है; इसलिए राग भी आत्मा का ही एक धर्म है।—ऐसा जाननेवाला जीव, राग में रुककर वह नहीं जानता, किन्तु राग का ज्ञाता रहकर जानता है। राग को जाननेवाला ज्ञान, राग में एकाकार होकर नहीं जानता किन्तु राग से पृथक् रहकर जानता है।

(१) समस्त गुण-पर्यायों का पिण्ड, वह स्वद्रव्य।

(२) अपने असंख्य आत्मप्रदेश, वह स्वक्षेत्र।

(३) अपने वर्तमान समय की अवस्था, वह स्वकाल। और

(४) उस-उस पर्याय के सन्मुख झुका हुआ जो त्रिकाली शक्तिरूप भाव, वह स्वभाव।

—इस प्रकार स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव से आत्मा अस्तित्वरूप है। आचार्यदेव ने तीर का दृष्टान्त देकर यह बात स्पष्ट की है।

(१) जिस प्रकार तीर लोहमय है। लोहमयपना, वह उसका स्वद्रव्य है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अपने गुण-पर्याय में है, वह उसका स्वद्रव्य है, ऐसे स्वद्रव्य से उसका अस्तित्व है।

(२) जिस प्रकार वह लोहमय तीर डोरी और धनुष के बीच अपने लोहमय स्व-क्षेत्र में स्थित है; उसी प्रकार आत्मा अपने असंख्यात चैतन्यप्रदेशरूपी स्व-क्षेत्र में स्थित है, वही आत्मा का निवासस्थान अर्थात् स्वक्षेत्र है। इसके अतिरिक्त आत्मा सौराष्ट्र देश में विद्यमान है अथवा आत्मा शरीर में विद्यमान है-ऐसा कहना, वह आत्मा का सच्चा क्षेत्र नहीं है; वह तो आत्मा से बाह्य क्षेत्र है। बाह्य क्षेत्र में आत्मा का अस्तित्व नहीं है किन्तु अपने ही क्षेत्र में आत्मा का अस्तित्व है।

(३) किसी लक्ष्य के सन्मुख अनुसन्धानित अवस्था, वह तीर का स्वकाल है, उसमें वह स्थित है; उसी प्रकार आत्मा अपनी वर्तमान एक समय की जो अवस्था वर्त रही है, उसमें विद्यमान है, वह उसका स्वकाल है। पैसा-कुटुम्ब-प्रतिष्ठा आदि सब बराबर हो, तब लोग कहते हैं कि आजकल हमारे दिन अच्छे हैं और थोड़ी-सी प्रतिकूलता आने पर कहते हैं कि भाई! हमारे लिये बुरा समय आ गया है; किन्तु वास्तव में पैसादि परवस्तुएँ आयें या जायें—उनके साथ आत्मा के स्वकाल का सम्बन्ध नहीं है।—ऐसा समझ ले तो पैसादि के संयोग-वियोग के समय एकत्वबुद्धि से हर्ष-शोकादि न हों। मेरी एक-एक समय की पर्यायरूप स्वकाल से मेरा अस्तित्व है; द्रव्य त्रिकाल है, वह कारण है और पर्याय प्रत्येक समय की है, वह कार्य है। मेरे त्रिकाली द्रव्य का एक-एक समय का वर्तमान कार्य ही मेरा स्वकाल है;—ऐसा समझकर द्रव्योन्मुख होने से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा का शुद्ध स्वकाल-सुकाल है।

(४) लक्ष्य के सन्मुख रहनेरूप जो भाव है, वह तीर का स्वभाव है; उसी प्रकार आत्मा का जो शक्तिरूपभाव है, वह परिणमित होकर पर्याय के सन्मुख होता है; इसलिए प्रत्येक समय की पर्याय होने की शक्तिवाला जो स्थायी भाव (-शक्ति) है, वह आत्मा का स्वभाव है।

इस प्रकार, अस्तित्वनय यह जानता है कि मेरा आत्मद्रव्य मेरे अपने द्रव्य-क्षेत्र-

काल-भाव से अस्तित्ववाला है। ऐसा अस्तित्व समझनेवाले को आत्मा की स्वतन्त्रता की प्रतीति होती है और पराधीनता की दृष्टि छूट जाती है, उसका नाम अपूर्व धर्म है।

अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव—इन चारों के मेल से अपना अस्तित्व है, एक अस्तित्वधर्म में उन चारों प्रकारों का समावेश हो जाता है। स्वकाल अर्थात् अपने श्रद्धा-ज्ञानादि की प्रत्येक समय की वर्तमान पर्याय, उससे आत्मा सत् है। अशुभ, शुभ अथवा शुद्धभावरूप उस-उस समय की पर्याय में वह द्रव्य ही विद्यमान है, वह उसका अपना ही स्वकाल है, अपने स्वकाल से रहित वस्तु नहीं होती और वस्तु का स्वकाल किसी दूसरे से नहीं होता।

रागपर्याय एक समय का स्वकाल है और स्वद्रव्य में तो सिद्धदशा के अनन्त स्वकाल प्रगट होने का सामर्थ्य है; इसलिए यदि राग के समय राग जितना ही आत्मा का अस्तित्व मान ले तो दूसरे समय निर्मल स्वकाल कहाँ से आयेगा तथा वह राग दूर होकर दूसरे समय द्रव्य का अस्तित्व रहेगा कहाँ? वर्तमान स्वकाल पलटकर दूसरे समय का स्वकाल हो, वह द्रव्य में से ही आता है और उस स्वकाल में भी द्रव्य का ही अस्तित्व है। इसलिए जो जीव वर्तमान विकारी स्वकाल जितना ही अपने को माने और वह स्वकाल पलटकर दूसरी सीधी पर्यायों का स्वकाल प्रगट हो—ऐसा स्वभावसामर्थ्य है, उसकी प्रतीति न करे तो उसने अपने पूर्ण अस्तित्व को नहीं पहिचाना। एक समय के स्वकाल जितना ही मेरा पूर्ण अस्तित्व नहीं है किन्तु मैं तो तीनों काल के स्वकाल के पूर्ण सामर्थ्य का पिण्ड हूँ—ऐसा समझे तो क्षणिक राग जितना ही आत्मा को न माने; इसलिए राग के साथ की एकत्वबुद्धि छूटकर त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की ओर ढले बिना न रहे। प्रथम ऐसी दृष्टि हुए बिना आत्मा की ओर ढलकर एकाग्र होना नहीं रहता, इसलिए उसे मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिए प्रथम वस्तु का स्वरूप समझना ही मोक्षमार्ग का उपाय है। इसके अतिरिक्त किसी भी रीति से मोक्षमार्ग के प्रारम्भ का अंश भी नहीं होता।

श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति करने का जो शुभभाव हुआ, वह भी आत्मा का स्वकाल है; धर्मी को भी वीतरागी स्वकाल प्रगट होने से पूर्व वैसा भाव हो जाता है। वहाँ धर्मी जीव को अन्तर में भान है कि मेरी निर्बलता का काल है, इसलिए यह राग होता है।

स्वभाव की प्रभुता का भान है और पर्याय के राग का भी भान है। यह राग मुझे किसी पर के कारण नहीं होता किन्तु अपने स्वकाल के कारण होता है; और उस समय बाह्य में जो पुष्प, जल आदि की क्रिया होती है, वह मेरे स्वकाल से भिन्न है; मेरे शुभराग के कारण वह क्रिया नहीं होती; आत्मा उस समय के अपने स्वकाल के ज्ञानभाव तथा पूजा-भक्ति के भाव करता है किन्तु पुष्प, जल आदि परद्रव्यों को उठाने-रखने की क्रिया आत्मा नहीं करता। जल आदि की जो क्रिया होती है, उसमें परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, उसमें उसी का अस्तित्व है, आत्मा का अस्तित्व उसमें नहीं है; इसलिए आत्मा उसे नहीं कर सकता। आत्मा का अस्तित्व अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है और पर का अस्तित्व पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है; किसी के अस्तित्व के कारण किसी दूसरे में कुछ नहीं होता। ऐसा होने से पुष्प, जल आदि परवस्तु की क्रिया हो, उसमें आत्मा का आरम्भ-समारम्भ नहीं है और न उसके कारण आत्मा को पुण्य-पाप होता है। आत्मा का आरम्भ-समारम्भ तो अपने अस्तित्व में-अपने भाव में है; अपने भाव में यदि शुभ परिणाम हो तो वह पुण्य का कारण है और अपने भाव में यदि अशुभ परिणाम हो तो वह पाप का कारण है; तथा शुभ-अशुभ से रहित शुद्ध परिणाम, वह धर्म है। इस प्रकार आत्मा को अपने भावों का ही फल है। बाह्य क्रिया हो, उससे आत्मा को आरम्भ-समारम्भ का पाप लग जाता है और बाह्य क्रिया को आत्मा रोके तो आरम्भ-समारम्भ का पाप रुकता है—यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि बाह्य क्रिया में तो आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है।

अज्ञानी लोग पुष्प, जल आदि को देखकर भड़कते हैं किन्तु अन्तर में परिणाम कैसे हैं, वह नहीं जानते। भगवान की परमशान्त वीतरागी प्रतिमा के समक्ष सम्यक्त्वी एकावतारी इन्द्र-इन्द्राणी भी भक्ति से नाच उठते हैं। देखो, नन्दीश्वर नामक द्वीप में रत्नों के शाश्वत् जिनबिम्ब हैं, वहाँ कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ़ मास में शुक्ला ८ से १५ तक देव भक्ति करने जाते हैं। जिसप्रकार आत्मा में परमात्मपने की शक्ति सदैव है और वह शक्ति जिनके प्रगट होती है, ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा भी जगत में सदैव क्रमश: होते ही रहते हैं; उसी प्रकार उस परमात्मपने के प्रतिबिम्बरूप वीतरागी प्रतिमाएँ भी जगत् में शाश्वत् हैं। आत्मा का ज्ञायकबिम्बस्वभाव अनादिकालीन है, वैसे ही उसके निमित्तरूप से-उसके प्रतिबिम्बरूप से जिनप्रतिमा भी अनादि से हैं। उनके निकट जाकर इन्द्र-इन्द्राणी जैसे

एकावतारी जीव भी भक्ति से थिरकते हुए नृत्य करने लगते हैं ! उस समय अन्तर में भान है कि इस मूर्ति का अस्तित्व इसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है, मूर्ति में अथवा देह की क्रिया में हमारा अस्तित्व नहीं है; हमारा अस्तित्व अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है। ऐसे सम्यक् भान में स्वाश्रय से अपना स्वकाल अंशत: तो निर्मल हुआ है और अल्प काल में द्रव्य का पूर्ण आश्रय करने से पूर्ण निर्मल स्वकाल उसे प्रगट हो जायेगा, इसलिए वह स्वयं परमानन्दमय परमात्मा हो जायेगा ! भगवान की भक्ति के समय, अशुभराग दूर होकर जो शुभराग हुआ, वह आत्मा का स्वकाल है, उसमें आत्मा का अस्तित्व है, किन्तु पर की क्रिया में आत्मा का अस्तित्व नहीं है। अष्ट प्रकार की पूजा के समय आठ वस्तुएँ एकत्रित करने की जो बाह्य-क्रिया होती है, उसे आत्मा की प्रवृत्ति माने और उस क्रिया के न होने को आत्मा की निवृत्ति माने, उसे अपने और पर के भिन्न-भिन्न स्वकाल का भान नहीं है; अस्तित्वधर्म की खबर नहीं है; उसका ज्ञान मिथ्या है। मिथ्याज्ञान, महान अधर्म है।

साधक के श्रुतज्ञान में नय पड़ते हैं, उन नयों से आत्मा कैसा ज्ञात होता है, उसका यह वर्णन है। केवलज्ञान होने से तो ज्ञान और स्वज्ञेय दोनों पूर्ण हो गये; पूर्ण ज्ञान हो जाने के पश्चात् नय से जानना नहीं रहता। वहाँ तो लोकालोक के समस्त पदार्थ ज्ञान के ज्ञेय हो गये हैं, समस्त ज्ञेयों को ज्ञान एकसाथ स्पष्ट-प्रत्यक्ष जान लेता है; इसलिए उस ज्ञान का विषय परिवर्तित नहीं होता अर्थात् ज्ञान एक ज्ञेय में से दूसरे ज्ञेय में नहीं जाता और वहाँ राग भी नहीं है। निचली दशा में रागी जीव को पूर्ण ज्ञानस्वभाव का भान होने पर भी ज्ञान अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुआ है, इसलिए उसके ज्ञान का लक्ष्य एक ज्ञेय में से दूसरे ज्ञेय में बदलता है। एक समय में लोकालोक को जानने के सामर्थ्यवाला पूर्ण द्रव्य उसकी श्रद्धा में आया है किन्तु ज्ञान अभी अपूर्ण है, इसलिए एक समय में वह लोकालोक को नहीं जान सकता, इससे उसके ज्ञान का उपयोग एक ज्ञेय में से दूसरे ज्ञेय में बदलता है और राग भी है। जिस समय जिस प्रकार के राग की योग्यता हो, उस समय वैसा ही राग होता है और वैसा ही निमित्त होता है, वहाँ उस-उस समय के राग को और निमित्त को ज्ञान जानता है। इसलिए जिस प्रकार राग और निमित्त पृथक्-पृथक् परिवर्तित होते हैं, उसी प्रकार उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी बदलता है। राग अनेक प्रकार का है, जिस समय जिस प्रकार का राग हो, उस समय उस प्रकार के निमित्त पर ही लक्ष्य जाता है। भक्तिभाव के समय भगवान पर लक्ष्य

जाता है, किन्तु स्त्री पर लक्ष्य नहीं जाता; और विषय के भावों के समय स्त्री पर लक्ष्य जाता है किन्तु सिद्ध भगवान पर लक्ष्य नहीं जाता।—इस प्रकार जैसा राग हो, वैसे ही निमित्त पर लक्ष्य जाता है, तथापि राग के कारण निमित्त नहीं आता और निमित्त के कारण राग नहीं होता। राग और निमित्त दोनों का स्वकाल पृथक् है, और ज्ञान भी जिस समय जैसा राग तथा जैसा निमित्त हो, उसे जानता है। किन्तु राग या निमित्त के कारण मुझे ज्ञान हुआ—ऐसा धर्मी नहीं मानते। उस काल वैसे ही राग और वैसे ही निमित्त को जाने—ऐसी मेरे स्व-परप्रकाशक ज्ञान की ही योग्यता थी, इसलिए मुझे ज्ञान हुआ है—ऐसा धर्मी जानता है, इसलिए उसे ज्ञान और राग की भिन्नता का भान है, इससे एकत्वबुद्धि का राग तो उसके होता ही नहीं। यह सब समझे, तभी अस्तित्वधर्म को यथार्थ पहिचाना कहा जाता है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा का अस्तित्व है—ऐसा समझे, उसमें यह सारी बात साथ ही आ जाती है।

इस प्रकार अस्तित्वनय से आत्मा को अस्तित्वधर्मवाला बतलाया। अब, नास्तित्वनय से देखने पर वही आत्मा परचतुष्टय से नास्तित्वरूप है—ऐसा कहते हैं। ●●

(4)

नास्तित्वनय

नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्था-लक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्र-कालभावैर्नास्तित्ववत् ४।

आत्मद्रव्य नास्तित्वनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला है—अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धानदशा में न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण अन्य बाण के द्रव्य की अपेक्षा से अलोहमय है, अन्य बाण के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित नहीं है, अन्य बाण के काल की अपेक्षा सन्धानदशा में नहीं रहा हुआ और अन्य बाण के भाव की अपेक्षा से लक्ष्योन्मुख है, उसी प्रकार आत्मा नास्तित्वनय से परचतुष्टय से नास्तित्ववाला है।)४.

अस्तित्व और नास्तित्व—यह दोनों धर्म एक ही वस्तु में एकसाथ स्थित हैं; इसलिए अस्तित्वधर्म के वर्णन में जो तीर का दृष्टान्त था, वही तीर नास्तित्वधर्म के दृष्टान्त में लिया है। इसलिए अस्तित्वधर्म दूसरी वस्तु का और नास्तित्वधर्म दूसरी वस्तु का—ऐसा नहीं है किन्तु एक ही वस्तु के दोनों धर्म हैं।

जिस तीर को स्वचतुष्टय से अस्तिरूप कहा, वही तीर अन्य तीर के द्रव्य की अपेक्षा से अलोहमय है; अन्य तीर के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और कमान के बीच में स्थित नहीं है; अन्य तीर के काल का अपेक्षा से संधानित अवस्था में स्थित नहीं है और अन्य तीर के भाव की अपेक्षा से अलक्ष्योन्मुख है; उसी प्रकार आत्मा अपने स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप है और वही आत्मा परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है; उसके साथ अन्य अनन्त धर्म हैं; उन सब धर्मों का पिण्ड आत्मा है। आत्मा के अनन्त धर्मों में से कोई भी धर्म पर के आधार से नहीं है और न पर के कारण हैं; और परवस्तु का कोई धर्म आत्मा में नहीं है और न आत्मा के

कारण है। प्रत्येक वस्तु में अपने-अपने अनन्त धर्म स्वतन्त्र हैं। यहाँ तो आत्मा को बतलाने के लिये आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है।

आत्मद्रव्य में अनन्त धर्म हैं; उन सब धर्मों को प्रमाण एकसाथ जानता है और नय उनके एक-एक धर्म को मुख्य करके जानता है। वस्तु में अनन्त धर्म हैं, उसी प्रकार उन्हें जाननेवाले नय भी अनन्त हैं। उनमें से द्रव्यनय, पर्यायनय और अस्तित्वनय—इन तीन नयों से आत्मा के धर्मों का वर्णन किया। अब, चौथे नास्तित्वनय से आत्मा कैसा है, वह बात चलती है।

जो आत्मद्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है, वही आत्मद्रव्य पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप नहीं है अर्थात् नास्तित्ववाला है। पर से अस्तित्व का न होना भी वस्तु का ही एक अंश है। वस्तु में जहाँ भाव-अंश है, वहीं ऐसा अभाव-अंश है; जहाँ स्व से अस्तित्वरूप धर्म है, वहीं पर से नास्तित्वरूप धर्म भी साथ में ही है; एक ही अंशी के दो अंश हैं। नास्तित्वधर्म भी अपना ही अंश है। नास्तित्वधर्म स्वयं कहीं वस्तु में अभावरूप नहीं है किन्तु सत् है। उस धर्म में 'पररूप नहीं है'—ऐसी पर की अपेक्षा भले आये किन्तु नास्तित्वधर्म कहीं पर के आधार से या पर का नहीं है, वह धर्म तो वस्तु का अपना ही है।

आत्मा का नास्तित्वधर्म यह बतलाता है कि समस्त परपदार्थोंरूप से आत्मा नास्तिरूप है, इसलिए परवस्तु आत्मा में क्या करेगी ? और आत्मा किसी परवस्तु में क्या करेगा ? दो द्रव्यों के बीच परस्पर अभावरूप ऐसी अभेद्य दीवार है कि कोई किसी में कुछ नहीं कर सकता। परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर में उसके अपने से हैं और आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आत्मा में अपने से हैं; एक की दूसरे में नास्ति है। जो जीव यह बात बराबर समझ ले, वह पराश्रय की बुद्धि छोड़कर स्वाश्रयोन्मुख हुए बिना न रहे।

कर्म के चतुष्टय से कर्म का अस्तित्व है और आत्मा उसके चतुष्टयरूप नहीं है, इसलिए कर्म, आत्मा को कुछ करे—ऐसा नहीं हो सकता। उसी प्रकार शास्त्र और वाणी का अस्तित्व आत्मा से भिन्न है, इसलिए शास्त्र या वाणी के कारण आत्मा को ज्ञान हो—ऐसा नहीं हो सकता। शास्त्रादि परवस्तु से मुझे ज्ञान होता है या कर्मादि परवस्तु से मेरा ज्ञान रुकता है—ऐसा जिसने माना है, उसने पररूप से आत्मा का नास्तित्व है—ऐसा नहीं जाना,

अर्थात् आत्मा के नास्तित्वधर्म को नहीं जाना; इसलिए उसने आत्मा को ही नहीं जाना है। आत्मा कैसा है, यह जाने बिना कहाँ धर्म करेगा?

जगत् में एक आत्मा ही है और दूसरा सब भ्रम है—ऐसा जो मानता है, वह आत्मा के नास्तित्वधर्म को नहीं मान सकता। जगत में आत्मा का और आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का अस्तित्व है, उसे स्वीकार करे, तभी 'आत्मा उन परपदार्थोंरूप नहीं है'—ऐसे नास्तित्वधर्म को मान सकता है। सर्वज्ञ के शासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ऐसे वस्तुधर्मों का वर्णन नहीं हो सकता।

जिस प्रकार जगत में 'खरगोश के सींग' हैं ही नहीं; इसलिए 'मुझे खरगोश के सींग दिखायी दिये'—ऐसा ज्ञान भी किसी को नहीं होता; उसी प्रकार जगत में यदि अजीवादि परपदार्थों को भी सर्वथा अभावरूप ही माने तो उसे 'पर से मेरा नास्तित्व है'—ऐसा समझना भी नहीं रहता, अर्थात् परोन्मुखता छोड़कर स्वोन्मुख होना ही नहीं रहता। इस प्रकार पर का सर्वथा अभाव मानने से अपना 'अभावधर्म' ही सिद्ध नहीं होता; इसलिए आत्मवस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

इस जगत में यदि आत्मा के अतिरिक्त परवस्तुएँ न हों तो आत्मा को भ्रान्ति कैसे हो? अकेले स्वभाव में भ्रान्ति नहीं होती। यदि अकेले स्वभाव में भी भ्रान्ति हो, तब तो वह भ्रान्ति भी स्वभावरूप हो जाये, इसलिए वह दूर ही न हो। इसलिए, भ्रान्ति के निमित्तरूप परवस्तु है, उसके अस्तित्व को ही जो न माने, उसकी भ्रान्ति कभी दूर हो ही नहीं सकती।

और, वह भ्रान्ति यदि परवस्तु के कारण होती हो तो, परवस्तुएँ जगत में सदैव होने से वह भ्रान्ति भी सदैव होती ही रहे! आत्मा के सन्मुख होने से उस भ्रान्ति का छेदन हो जाता है, इसलिए निश्चित हुआ कि वह भ्रान्ति पर के लक्ष्य से है किन्तु पर के कारण नहीं है। जो परवस्तु को बिल्कुल न माने, वह कभी भ्रान्ति दूर कर ही नहीं सकता और जो परवस्तु के कारण भ्रान्ति माने, उसकी भ्रान्ति कभी दूर नहीं हो सकती।

जगत में मैं स्व हूँ और पर भी है; उसमें स्व-पर की एकत्वबुद्धि को छेदने के लिये स्व-पर की एकत्वबुद्धि का छेदन करना चाहिए, उसके बदले अज्ञानी, परवस्तु के अस्तित्व का ही सर्वथा निषेध कर डालते हैं, वह स्थूल मिथ्यात्व है। मैं स्व-रूप से हूँ और

पर पर-रूप से है, पर से मेरा नास्तित्व है—ऐसा समझकर स्व-पर का भेदज्ञान करने से भ्रान्ति दूर होकर सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है; वह अपूर्व धर्म है!

नय भले ही वस्तु के धर्मों को मुख्य-गौण करके जाने, किन्तु वस्तु में तो समस्त धर्म एकसाथ ही हैं। वस्तु का स्व से अस्तित्व जाने, उसमें पर से नास्तित्व का ज्ञान साथ में आ ही जाता है। अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एकसाथ ही हैं।

ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय के कारण नहीं है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञानधर्म और ज्ञेय होने का धर्म है। उसमें ज्ञेयधर्म (प्रमेयत्वधर्म) के कारण ज्ञानधर्म नहीं है और ज्ञान के कारण प्रमेयत्वधर्म नहीं है। अहो! अपने में भी एक धर्म के कारण दूसरा धर्म नहीं है, तब फिर अपना कोई धर्म पर के कारण हो—यह बात ही कहाँ रही? ज्ञानधर्मरूप से ज्ञान का अस्तित्व है और प्रमेयत्वधर्मरूप से ज्ञानधर्म का नास्तित्व है।—ऐसा यदि न हो तो अनन्त धर्म सिद्ध नहीं हो सकते।

पुनश्च, ज्ञान ज्ञानरूप है और परज्ञेयरूप वह नहीं है; इसलिए ज्ञेय के कारण ज्ञान हो—यह बात ही नहीं रहती। यदि ज्ञेय के कारण ज्ञान होता हो, तब तो केवलज्ञान पराधीन हो जाये... और ज्ञेय तो जगत में सदैव हैं, इसलिए केवलज्ञान भी सदैव होना चाहिए! किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता। जिसमें ज्ञान का नास्तित्व है, उससे ज्ञान कैसे हो सकता है? यद्यपि जैसा ज्ञेय पदार्थ हो, वैसा ही केवलज्ञान में ज्ञात होता है, तथापि ज्ञेय के कारण वह ज्ञान नहीं होता; ज्ञान का अपना स्वभाव ही वैसा है।

जिस प्रकार पर के कारण ज्ञान नहीं होता; उसी प्रकार पर के कारण ज्ञान रुकता भी नहीं है। ज्ञानावरणीयकर्म, ज्ञान को रोकता है—ऐसा कहना, वह निमित्त के उपचार का कथन है; वहाँ वास्तव में ज्ञान अपने स्वकाल से रुका है—ऐसे अनुपचार वस्तुस्वरूप को लक्ष्य में रखकर समझे, तभी उपचार कथन का आशय समझ सकता है। यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है, उसके भान बिना उपचार को ही सच्चा स्वरूप मान ले तो वह वस्तुस्थिति को नहीं समझता।

गोम्मटसार आदि में कथन आता है कि—

- ज्ञानावरणीयकर्म ज्ञान को रोकता है,
- दर्शनावरणीयकर्म दर्शन को रोकता है,

● मोहनीय कर्मचारित्र तथा सम्यक्त्व को रोकता है,

● अन्तराय कर्म वीर्यको रोकता है।

— यह सब कथन निमित्त के हैं। सन्मुख जब कर्म के उदय का स्वकाल है, उसी समय उस निमित्त से पृथक् आत्मा का अपना स्वकाल है या नहीं? जब आत्मा स्वयं अपने स्वकाल में—अपनी योग्यता से—ज्ञानादि के विकास में रुका है, उस समय सामने कैसे निमित्त का अस्तित्व है, वह बतलाने के लिये निमित्त से कथन किया है। वहाँ अज्ञानी अपने स्वकाल से च्युत होकर निमित्त को ही लिपट जाता है—मानो निमित्त से पृथक् अपना कोई स्वकाल ही न हो! भाई! सामने जो ज्ञानावरणीय कर्म निमित्त है, वह तो तेरे नैमित्तिकभाव की इस प्रकार घोषणा करता है कि इस समय आत्मा के स्वकाल में ज्ञान की पूर्णता नहीं है। ज्ञान की पूर्णता हो तो सामने आवरण का निमित्त न हो। 'कर्म ने ज्ञान को रोका'—ऐसा निमित्त से कथन भले हो, किन्तु वहाँ उपादान का स्वकाल निमित्त से पृथक् स्वतन्त्र है, उसे पहिचान लेना चाहिए। कथन की शैली भले भिन्न-भिन्न प्रकार की हो किन्तु वस्तुस्वरूप तो जैसा हो, वैसा समझना चाहिए न! चरणानुयोग हो या प्रथमानुयोग हो—किसी भी अनुयोग का कथन हो, किन्तु चारों अनुयोगों में आत्मा तो एक ही प्रकार का है, आत्मा कहीं भिन्न-भिन्न चार प्रकार का नहीं है। द्रव्यानुयोग का आत्मा दूसरा है और चरणानुयोग का आत्मा तो दूसरा ही है—ऐसा नहीं है। प्रयोजनवश मात्र कथनशैली में अन्तर होता है।

समयसार और नियमसार आदि में ऐसा कहा है कि भगवान शुद्ध आत्मा में कोई उदयभाव हैं ही नहीं; वहाँ द्रव्यदृष्टि का वर्णन है। दृष्टि के विषय में पर्याय गौण हो जाती है। और तत्त्वार्थसूत्र आदि में ऐसा कहते हैं कि उदयभाव आत्मा का स्वतत्त्व है; वहाँ प्रमाण के विषय का वर्णन है। उदयभावरूप भी आत्मा स्वयं परिणमित होता है, आत्मा की ही वह पर्याय है, इसलिए उसे स्वतत्त्व कहा है। वह उदयभाव आत्मा के स्वकाल से अस्तिरूप है और कर्म से नास्तिरूप है, इसलिए कर्म के उदय के कारण वह उदयभाव हुआ—ऐसा वास्तव में नहीं है। पर से तो आत्मा का नास्तित्व है, इसलिए आत्मा और पर के बीच महान नास्तित्वरूपी किला है; इसलिए पर, आत्मा का कुछ भी कर सके—ऐसा नहीं हो सकता।

अरिहन्त प्रभु संसार में रहे हैं, वह अपने योग के कम्पन आदि की योग्यता से रहे हैं; चार अघातिकर्म शेष हैं, इसलिए अरिहन्त प्रभु को संसार में रहना पड़ा है—ऐसा नहीं

है। चार अघातिकर्मों का अरिहन्त के आत्मा में तो नास्तित्व है, तो वे क्या करेंगे?

'यह आत्मा अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करनेवाला है'—ऐसा केवली भगवान ने ज्ञान में देखा, वहाँ भगवान के ज्ञान के कारण यह आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है—ऐसा नहीं है। भगवान का केवलज्ञान, वह उनका स्वकाल है; इस आत्मा के लिये तो वह परकाल है; उस परकाल से आत्मा का अस्तित्व नहीं है किन्तु नास्तित्व है। यदि ऐसे अस्ति-नास्तिधर्म को बराबर जाने तो, जगत के समस्त पदार्थ स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा समझे; इसलिए कहीं भी पर में एकत्वबुद्धि न रहे, किसी दूसरे से लाभ-हानि होने की मान्यता न रहे, किसी पर के आश्रय की रुचि न रहे और अपने स्वभाव की ओर ढले—यही उसका फल है

मैं पर से पृथक हूँ—ऐसा कहनेवाला यदि स्वोन्मुख होकर वैसा मानता हो, तभी वास्तव में पर से पृथक्त्व माना कहलाये। शास्त्र पढ़कर 'पर से पृथक् हूँ'—ऐसा तो कहे, किन्तु परसन्मुख पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभाव के आश्रय की ओर न ढले तो उसने यथार्थरूप में पर से भिन्नता नहीं जानी। पर्याय में विकार होता है, उसे मैं दूर कर दूँ—ऐसी बुद्धि भी पर्यायबुद्धि है, उसकी दृष्टि विकार पर है; स्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है।

'यह विकार हुआ, इसे दूर करूँ'—इस प्रकार विकार-सन्मुख देखने से विकार का अभाव नहीं होता, किन्तु उत्पत्ति होती है। जिस समय जो विकार उत्पादरूप है, उस समय तो वह सत् है, उसी समय उसका अभाव नहीं हो सकता; और दूसरे समय तो वह स्वयं व्यय हो जाता है, इसलिए दूसरे समय भी दूर करना नहीं रहता। इस प्रकार विकार को दूर करना नहीं रहता, किन्तु द्रव्य की सन्मुखता में विकार की उत्पत्ति ही न हो, यही विकार के अभाव की रीति है। इसलिए वास्तव में सब का अन्तिम तात्पर्य तो द्रव्य की सन्मुखता करना ही आता है।

❀❀❀

आत्मा कैसा है, उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा में अनन्त धर्म हैं, वे अनन्त नयों से ज्ञात होते हैं। आत्मा को जान ले, तभी उसकी प्राप्ति कर सकता है। प्रथम, समस्त पक्षों से आत्मतत्त्व का निर्णय करने के लिये धर्म के भेद से विचार आता है; स्वभाव के साक्षात् अनुभव के समय भेद के विकल्प नहीं होते, किन्तु प्रथम जो विचारपूर्वक निर्णय न करे, उसे तो अभेद आत्मा का अनुभव हो ही नहीं सकता।

जिसे आत्मा को समझने की आकांक्षा जागृत हुई है—ऐसे शिष्य को आचार्य भगवान समझाते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा अपने स्वरूप से है और पररूप से वह नास्तिवाला है। आत्मा ज्ञायक चैतन्यस्वरूप सिद्ध जैसा है, उसके स्वभाव में तो आनन्द ही है; किन्तु अन्तर के अवलम्बन से उस स्वभाव का भान अनादि काल से कभी नहीं किया, इसलिए उसकी प्राप्ति नहीं हुई। पूर्व काल में आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई, वह काल तो बीत गया, किन्तु अब उसका भान करके परमात्मदशा की प्राप्ति किस प्रकार हो, उसकी यह बात चल रही है। लोग भी कहते हैं कि—'जागे तब सवेरा।' उसी प्रकार आत्मा का भान जब स्वयं करे, तब होता है। उसमें पूर्व का काल विघ्नरूप नहीं होता।

आत्मा अपने स्वचतुष्टयरूप से है और किसी भी परवस्तु से किसी काल में, किसी क्षेत्र में वह नहीं है; इसलिए आत्मा को पर के कारण संसार या मोक्ष नहीं होता। आत्मा स्व-रूप से है, उसमें पर का अभाव है, वह अभाव उसे कोई लाभ-हानि करे—ऐसा नहीं हो सकता। वर्तमान दशा में परम आनन्द का अभाव है और विकारदशा प्रगट है, वही संसार है। शरीरादि पर का आत्मा में अभाव है, इसलिए उनकी क्रिया द्वारा आत्मा में कोई भाव होता है—यह यथार्थ नहीं है। अभाव में से भाव कैसे हो सकता है?

आत्मा स्वयं परिपूर्ण अनन्त धर्मवाला है, किन्तु अपनी महिमा का उसे भान नहीं है, इसलिए अपने स्वभाव की मैत्री से च्युत होकर परनिमित्त की मैत्री करके संसार में भटकता है। पर से आत्मा को संसार नहीं है, किन्तु पर के संग से संसार है। स्वभाव का संग (-स्वकाल का आश्रय) करे तो उसमें पर के संग की (पर के आश्रय की) नास्ति है। पर का आश्रय छोड़कर अपना आश्रय कब करता है?—पर से अपनी भिन्नता समझ ले तब। मेरे स्वचतुष्टय से मेरी अस्ति है और पर के स्वचतुष्टय से उसकी अस्ति है; पर के चतुष्टय में मेरी नास्ति है और मेरे चतुष्टय में पर की नास्ति है।

चतुष्टय अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—यह चार। उनमें से द्रव्य-क्षेत्र और भाव तो त्रिकाली हैं और काल प्रत्येक समय की वर्तमान पर्याय है। प्रत्येक वस्तु में अपने एक-एक समय के स्वकाल की भी अपने से अस्ति है और पर से नास्ति है, अर्थात् पर्याय स्वतन्त्र है, उसमें किसी दूसरे का प्रभाव नहीं है।

एक परमाणु की दूसरे परमाणु में नास्ति है, इसलिए वास्तव में एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। शरीर में छुरी घुस जाये और दु:ख हो, वहाँ संयोग से देखनेवाले लोगों को ऐसा लगता है कि 'शरीर में छुरी घुस गयी, इसलिए दु:ख हुआ;' किन्तु वास्तव में वैसा नहीं है। शरीर की अवस्था शरीर में, छुरी की अवस्था छुरी में और दु:खरूप आत्मा की अवस्था आत्मा में है। छुरी के कारण शरीर की अवस्था नहीं होती और शरीर छिदा, उस कारण आत्मा की दु:ख-अवस्था नहीं हुई है। प्रत्येक की अवस्था अपने-अपने काल से स्वतन्त्र है। इस प्रकार नास्तित्वधर्म को यथार्थ समझे तो उसमें यह सब न्याय एक ही साथ आ जाते हैं।

जिस प्रकार, जो तीर अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है, वही तीर दूसरे तीर के लोहरूप नहीं है, दूसरे क्षेत्र में नहीं है, दूसरी अवस्था में नहीं है और दूसरे भाव में नहीं है; इस प्रकार परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से वह नास्तिरूप है; उसी प्रकार आत्मा अपने चतुष्टय से अस्तिरूप है और वही परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तिरूप है। दूसरे आत्मा की अपेक्षा से दूसरे आत्मा हैं, किन्तु एक आत्मा की अपेक्षा दूसरे सभी आत्मा 'अनात्मा' हैं; तब फिर एक आत्मा दूसरे आत्मा को क्या कर सकता है? नास्तित्व का अर्थ है अभाव; एक में दूसरे का अभाव है। जिस में जिसका अभाव हो, उसमें वह क्या करेगा? 'अभाव' कुछ नहीं कर सकता।

जिस प्रकार खरगोश के सींगों का जगत में अभाव है तो वह लगे और घाव हो— ऐसा कभी नहीं हो सकता; उसी प्रकार पर में आत्मा का अभाव है तो वह पर में क्या करेगा? और परवस्तु, आत्मा का क्या कर सकती है? सिद्धभगवान से लेकर निगोद तक के सभी जीव अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हैं और पर से नहीं हैं।—ऐसा वस्तुस्वरूप जाने बिना सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन का विषय तो अभी अत्यन्त सूक्ष्म है। प्रथम, पर से भेदज्ञान किये बिना अन्तर के सूक्ष्म रागादिभावों से स्वभाव का भेदज्ञान कैसे करेगा?

क्षणिक रागादिभाव भी अपने स्वकाल से अस्तित्वरूप है, जड़कर्म के कारण उसका अस्तित्व है—ऐसा नहीं है, अर्थात् कर्म के कारण रागादि नहीं होते किन्तु स्वपर्याय की योग्यता से होते हैं।—ऐसा निश्चित करके स्वभाव की अन्तर्दृष्टि से ऐसा समझे कि यह

राग का अस्तित्व तो मात्र एक समय जितना ही है और मेरे स्वभाव का अस्तित्व त्रिकाल है; मेरा त्रिकाली स्वभाव, राग जितना नहीं है, मेरे त्रिकाली स्वभाव में एकसमय के राग का नास्तित्व है; इस प्रकार स्वभाव को दृष्टि में लेकर उसकी प्रतीति करे, तब भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ कहलाये।

यदि पर्याय में अशुद्धता का एक समय का अस्तित्व न हो तो जीव को संसार ही सिद्ध न हो, और मोक्षपर्याय तो हुई नहीं है, इसलिए स्वकाल का अभाव होने से जीव का ही अभाव हो जाये। यदि जीव का अस्तित्व माने तो जीव का स्वकाल भी मानेगा या नहीं? स्वकाल में पूर्ण शुद्धता तो है नहीं; इसलिए संसारदशा है। इस प्रकार जीव के स्वकाल को माने बिना जीव का अस्तित्व ही वास्तव में नहीं मान सकता। पर से भिन्न अस्तित्व जानने के पश्चात्, अपने में क्षणिक राग जितना त्रिकाली स्वभाव का अस्तित्व नहीं है, त्रिकाली स्वभाव तो रागरहित है—ऐसा पहिचानकर, उस स्वभाव की मैत्री करके, पर की मैत्री छोड़े, उसका नाम धर्म है। पर से मुझे लाभ-हानि होते हैं—ऐसी पर के साथ एकत्वपने की मान्यता, वह पर के साथ मैत्री है, वह संसार का कारण है। जिसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, उसे अन्तर में स्वभाव और परभाव के बीच का भेदज्ञान कहाँ से होगा? आत्मा के इन अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों को समझे तो भेदज्ञान हुए बिना न रहे।

आत्मा का द्रव्य, असंख्यप्रदेशी क्षेत्र और अनन्त गुणोंरूप भाव—वे तो त्रिकाल हैं; पर्यायें क्रमशः तीनों काल होती रहती हैं, किन्तु उन पर्यायों का काल एकसमयपर्यन्त है। विकारी या अविकारी भाव हो, वह उसका स्वकाल है। उस समय जगत में दूसरी वस्तु का अस्तित्व है किन्तु उससे इस आत्मा के स्वकाल का नास्तित्व है, इसलिए उस पर से कुछ भी लाभ-हानि नहीं होता। अब, आत्मा में स्वकाल का आधार तो स्व-द्रव्य है, इसलिए शुद्ध द्रव्य पर दृष्टि जाती है। मैं स्व-रूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ—ऐसा पर से भेदज्ञान करके, स्व में भी 'मैं त्रिकाल शुद्ध चिदानन्द हूँ—विकार जितना नहीं हूँ'—ऐसा भेदज्ञान करके शुद्धस्वभाव का आश्रय करने से अपूर्व धर्म होता है। द्रव्य त्रिकाल है और पर्याय क्षणिक है—ऐसा जो जान लेता है, उसकी रुचि का बल त्रिकाली द्रव्य की ओर ढले बिना न रहता।

जिस प्रकार स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव—यह चारों मिलकर एक

अस्तित्व है, कहीं अस्तित्व के चार भिन्न-भिन्न प्रकार नहीं हैं; उसी प्रकार परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव—इन चारोंरूप न होनेरूप एक ही नास्तित्वधर्म है, कहीं भिन्न-भिन्न चार धर्म नहीं हैं।

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व कहा, उसमें तो एक अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा आयी; और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व कहा, उसमें अपने अतिरिक्त दूसरे अनन्त पदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आ गये। उन सब के रूप से आत्मा का नास्तित्व है।

यह आत्मा अपने स्वद्रव्य से अस्तिरूप है और वही आत्मा परद्रव्य की अपेक्षा से 'अद्रव्य' है। पर से नास्तित्व है—ऐसा कहो, या पर की अपेक्षा से अद्रव्य है—ऐसा कहो, दोनों एक ही हैं। उसी प्रकार आत्मा स्वक्षेत्र से है और परक्षेत्र की अपेक्षा से वह 'अक्षेत्र' है; स्वकाल से है और परकाल की अपेक्षा से वह 'अकाल' है; स्व-भाव से है और पर-भाव की अपेक्षा से वह 'अभाव' है।

जिस प्रकार तीर अपनी अपेक्षा से लोहमय है और दूसरे तीर के लोहे की अपेक्षा से वह स्वयं अलोहमय भी है; उसी प्रकार आत्मा अपने द्रव्यमय है और पर के द्रव्यमय नहीं है; इसलिए अद्रव्यमय भी है। अस्तित्वनय से देखने पर वह अपने द्रव्यमय है और नास्तित्वनय से देखने पर वह स्वयं ही अद्रव्यमय है अर्थात् पर के द्रव्यरूप वह नहीं है। इसी प्रकार पर का क्षेत्र, पर का काल और पर का भाव—उससे भी आत्मा का नास्तित्व है। अपने चतुष्टय से देखने पर आत्मा है और पर के चतुष्टय से देखने पर आत्मा स्वयं अभावरूप है।—ऐसे दोनों धर्म प्रत्येक आत्मा में एकसाथ विद्यमान हैं। यह धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिए किसी भी एक धर्म को मुख्य करके जानते समय ही उसके साथ दूसरे अनन्त धर्मों की अपेक्षा साथ ही हैं।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि जो तीर लोहमय है, वही अलोहमय कैसे हो सकता है? जो आत्मा 'है', वही आत्मा 'नहीं है'—ऐसा कैसे हो सकता है? किन्तु भाई! तू स्याद्वाद से समझ। स्याद्वाद में अपेक्षा कहाँ बदलती है, वह जाने बिना वस्तु का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। तीर को लोहमय कहा, वह अपनी अपेक्षा से है और उसी को

अलोहमय कहा, वह पर की अपेक्षा से है; जगत में दूसरे जो लोहमय तीर हैं, उनकी अपेक्षा पहला तीर अलोहमय है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से दोनों धर्म उसमें सिद्ध होते हैं। उसी प्रकार जो आत्मा स्वचतुष्ट से है, वही आत्मा परचतुष्टय से नहीं है;—इस प्रकार दोनों धर्म उसमें सिद्ध होते हैं। ऐसा अनेकान्त वस्तुस्वरूप है।

मेरा आत्मा मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप है और अपने अतिरिक्त समस्त पदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से मैं अद्रव्यमय-अक्षेत्रमय-अकालमय और अभावमय हूँ—ऐसा नास्तित्वधर्म है; उसे जो समझे, वह जीव, पर में से मुझे सुख प्राप्त होगा - ऐसा न माने; पर मुझे अनुकूल हो तो ठीक और प्रतिकूल हो तो अठीक—ऐसा मिथ्याभाव उसे न हो। पर से मुझे सुख होता है—ऐसा मिथ्याभाव स्वयं दुःखरूप है; पर में से सुख तो आता ही नहीं। 'पर से मुझे सुख होता है'—ऐसा अज्ञानी ने माना अवश्य है, किन्तु वहाँ उसे पर में से सुख होने का तो अभाव ही है; उसकी पर्याय में वह मिथ्या मान्यता का भाव अस्तिरूप है और उस मिथ्याभाव का आत्मा को दुःख होता है। वह दुःखरूप भाव आत्मा की पर्याय में एकसमयपर्यन्त होता है, किन्तु त्रिकाली भाव में तो उसका भी अभाव है।

इस प्रकार, नास्तित्वनय से आत्मा को पर के अभावरूप जानने से ज्ञान स्वोन्मुख होता है। आत्मा, पर से तो बिल्कुल अभावरूप है; इसलिए पर से किंचित् भी लाभ-हानि उसे नहीं है,—ऐसा निश्चित करे, उसे पर के प्रति तीव्र राग-द्वेष तो होते नहीं हैं; अल्प राग-द्वेष होते हैं, वे भी पर के कारण नहीं होते। राग अपना स्वकाल है, स्वकाल का परकाल में अभाव है, इसलिए राग है, वह अपना स्वकाल है—ऐसा निश्चित करनेवाले को स्वोन्मुख होना रहा। स्व-पर्याय में विकार है और त्रिकाली द्रव्य में नहीं है—ऐसा जिसने जाना, उसके ज्ञान का बल त्रिकाली स्वभाव की ओर ढले बिना नहीं रहता। इस प्रकार, स्वभावोन्मुख होना ही नय का तात्पर्य है। नय भले ही चाहे जिस धर्म को मुख्य करके जाने, किन्तु उसका परमार्थ तात्पर्य—अन्तिम योगफल तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य की ओर ढलना ही है।

पर की अपेक्षा से आत्मा का अभाव है और आत्मा में पर का अभाव है; इसलिए पर के कारण आत्मा का ज्ञान विकसित हो अथवा पर से आत्मा की बुद्धि बिगड़े—ऐसा

नहीं है। निर्दोष सादा आहार करे तो उसके कारण निर्दोष भाव रहे और रसयुक्त सदोष आहार करे तो उससे बुद्धि बिगड़ जाये—ऐसा नहीं है। यह सब बात नास्तित्वधर्म में आ जाती है।

अस्ति-नास्ति स्वभाव को बराबर समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। सिद्ध का आत्मा या निगोद का आत्मा—कोई भी आत्मा, पर से नहीं है। सिद्ध भगवान के आत्मा का स्वकाल ही ऐसा है कि अलोक में वह नहीं जाता; लोक में रहने का उसका स्वकाल है। निमित्त नहीं है; इसलिए वे अलोक में नहीं जा सकते—ऐसा नहीं है। इसी प्रकार निगोद का जीव निगोददशा में रहा है, वह भी उसके अपने अस्तित्व का स्वकाल है, उसमें कर्म की नास्ति है; और कर्म के अस्तित्व में आत्मा का नास्तित्व है, इसलिए कर्म के कारण वह जीव निगोद में रहा है—ऐसा नहीं है। यदि कर्म के बल के कारण उस जीव को निगोद में रहना पड़ता है—ऐसा कोई माने तो वहाँ कर्म के अस्तित्व के कारण आत्मा के स्वकाल का अस्तित्व हो जाता है; इसलिए जीव का अस्तित्व नहीं रहता और जीव का नास्तित्वधर्म भी नहीं रहता। जीव तो कर्म के अभावरूप है, तब फिर कर्म उसका क्या करेंगे?

अहो! पररूप से मेरा अभाव है, इसलिए पर में मेरी शान्ति का भी अभाव है। इसलिए मेरी शान्ति मुझे अपने में ही ढूँढ़ना पड़ेगी।—ऐसा निश्चित करनेवाला स्वोन्मुख होकर शान्ति का अनुभव करता है। आत्मा के अपने अन्तरंग-स्वभाव में ही शान्ति है और अशान्ति भी अपनी ही पर्याय में ही है। आत्मा को पर के कारण शान्ति या अशान्ति नहीं है। शरीर और आत्मा के बीच नास्तित्व होने से उनमें अनन्त योजन का अन्तर है; आकाश क्षेत्र की अपेक्षा से भले अन्तर न हो किन्तु भाव से तो उनमें अनन्त योजन का अन्तर है; इसलिए इस देह के साथ आत्मा की शान्ति-अशान्ति का सम्बन्ध नहीं है। आत्मा तो अपने नास्तित्वधर्म के बल से देहातीत... वचनातीत... कर्मातीत है, और पर्याय में जो क्षणिक विकार है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है; इसलिए वह स्वभाव तो विकार से भी अतीत है; आत्मा के अस्ति-नास्ति स्वभाव को समझने से इस प्रकार का भेदज्ञान होता है।—ऐसा यह लोकोत्तर वीतरागी विज्ञान है। इस विज्ञान को समझे, उसे पर के साथ की एकत्वबुद्धि छूटकर वीतरागस्वभाव में एकत्वबुद्धि हो और अल्प काल में ही उसकी मुक्ति हो जाये।

इस प्रकार यहाँ नास्तित्वधर्म का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

(5)

अस्तित्व-नास्तित्वनय

अस्तित्वना-स्तित्वनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहिताव स्थासंहिता-वस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुख प्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्व-नास्तित्ववत् ५।

आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्वनय से क्रमशः स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वनास्तित्ववाला है—लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण क्रमशः स्वचतुष्टय की तथा परचतुष्टय की अपेक्षा से लोहमयादि और अलोहमयादि है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्वनय से क्रमशः स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्ववाला और नास्तित्ववाला है।)५.

आत्मा स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है और परचतुष्ट से नास्तिरूप; स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप—ऐसे 'अस्तित्व-नास्तित्व' धर्म को जो जाने, उसका नाम 'अस्तित्व-नास्तित्वनय' है। स्व से अस्ति और पर से नास्ति—ऐसे दोनों धर्म तो आत्मा में एक साथ ही हैं। वाणी द्वारा क्रम से उन धर्मों का कथन हो सकता है और उनके वाच्यरूप एक 'अस्तित्व-नास्तित्व' धर्म भी आत्मा में है तथा उसे जाननेवाला अस्तित्व-नास्तित्वनय भी है। वस्तु का धर्म, उसका कथन करनेवाली वाणी और उसे जाननेवाला ज्ञान—यह तीनों स्वतन्त्र है, कोई किसी के कारण नहीं है।

वस्तु में एक साथ अस्ति-नास्तिधर्म हैं और वे वाणी द्वारा कथञ्चित् कहे भी जा सकते हैं; आत्मा सर्वथा अवक्तव्य नहीं है। आत्मा स्वयं वाणी नहीं बोल सकता, परन्तु वाणी द्वारा आत्मा के धर्म का वर्णन हो सके—ऐसा आत्मा का एक धर्म है। यदि आत्मा

सर्वथा अवक्तव्य ही हो तो सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जो वस्तुस्वरूप ज्ञात हुआ, उसकी दूसरे जीवों को कैसे खबर पड़ेगी। और यदि आत्मा सर्वथा अवक्तव्य ही हो तो 'आत्मा अवक्तव्य है'—ऐसा कहा, वहीं कथञ्चित् वक्तव्यपना हो गया। यहाँ आत्मा को वक्तव्य कहा, उसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा कभी-कभी वाणी बोल सकता है। आत्मा तीन काल में वाणी कर ही नहीं सकता, और न वह वाणी से ज्ञात होता है; क्योंकि वाणी तो जड़ है। आत्मा 'वाणी से वक्तव्य' है परन्तु 'वाणी से ज्ञात होने योग्य' नहीं है;—ज्ञात तो अपने ज्ञान से ही होता है।

आत्मा में स्व से अस्तित्व है और पर से नास्तित्व भी साथ ही है। छद्मस्थ की वाणी द्वारा वे दोनों धर्म भले ही एक साथ न कहे जा सकें, परन्तु क्रमशः वे दोनों धर्म कहे जा सकते हैं; वस्तु में तो धर्म एक साथ ही हैं और ज्ञान भी इन्हें एक साथ जानता है।

जिस प्रकार स्व से सद्भावरूप अस्तित्वधर्म वस्तु का अपना स्वभाव है; उसी प्रकार पर से न होनेरूप-अभावरूप-नास्तित्वधर्म भी वस्तु का अपना स्वभाव है।

शंका—वस्तु में मात्र अस्तित्व धर्म ही कहिए न! नास्तित्वधर्म कहने में तो पर की अपेक्षा आती है, इसलिए उसका क्या काम है?

समाधान—जिस प्रकार स्व-रूप से अस्तित्व, वह वस्तु का अपना धर्म है; उसी प्रकार पर-रूप से नास्तित्व भी वस्तु का अपना ही धर्म है। उसमें पर की अपेक्षा भले आये परन्तु वह धर्म पर के कारण या पर के आश्रय से नहीं है। पर-रूप न होना—ऐसा जो पर के अभावस्वरूप भाव (नास्तित्वधर्म) है, वह भी स्व-ज्ञेय का अंश है; यदि उसे न मानें तो पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति नहीं होती। और यदि आत्मा में मात्र अस्तित्व ही मानोगे और नास्तित्व नहीं मानोगे तो, जिस प्रकार आत्मा चेतनस्वरूप से अस्तिरूप है, उसी प्रकार वह जड़स्वरूप से भी अस्तिरूप हो जायेगा। 'आत्मा जड़स्वरूप नहीं है'—ऐसा कहते ही आत्मा का नास्तित्वधर्म सिद्ध हो जाता है। जड़ तो तीनों काल जड़ रहता है और चेतन तीनों काल चेतन रहता है; उसी प्रकार एक आत्मा दूसरे आत्मारूप नहीं होता।

यहाँ तो आचार्यदेव ने अस्ति-नास्ति के सातों भंगों का सात धर्मरूप से वर्णन किया है। एक अस्तित्वधर्म और दूसरा नास्तित्वधर्म; तदुपरान्त अस्तित्व-नास्तित्व नाम का

तीसरा धर्म भी आत्मा में है। 'आत्मा में अस्तित्व और नास्तित्व यह दो ही धर्म हैं और शेष पाँच भंग कहे, वे तो उपचार से ही हैं'—ऐसा नहीं है; सप्तभंगी के जो सात भंग हैं, उन सातों के वाच्यरूप सात भिन्न-भिन्न धर्म आत्मा में हैं। जिस प्रकार वाचक में सात प्रकार हैं, उसी प्रकार वाच्य में भी वे सात धर्म है।

देखो, यह किसी बाह्य पदार्थ की बात नहीं है, परन्तु अपना आत्मा अनन्त धर्मों से परिपूर्ण चैतन्यपिण्ड है, उसी की यह बात है। इसलिए अपने आत्मा की महिमा लाकर यह बात समझना चाहिए। अनेक प्रकार आयें, उससे आकुलित नहीं होना चाहिए। अनेक प्रकारों को जानना, वह कहीं उपाधि नहीं है; वह तो ज्ञान की निर्मलता का कारण है। जिसे अपना आत्महित करना हो—धर्म करना हो, उसे प्रथम इतना तो निश्चित कर लेना चाहिए कि किसी भी बाह्य वस्तु से मेरा धर्म नहीं होता है; अन्तर में आत्मस्वभाव को समझे बिना किसी भी प्रकार धर्म नहीं होता; इसलिए प्रथम आत्मा की सच्ची पहिचान करना ही धर्म का उपाय है। जिसे इस बात की आवश्यकता मालूम हो और जिज्ञासु होकर समझना चाहे, उसकी समझ में अवश्य ही आ जायेगी।

इस परिशिष्ट में शिष्य ने यही पूछा था कि प्रभो! यह आत्मा कैसा है ? जिसे धर्म करने की भावना जागृत हुई है, उसे प्रथम आत्मा समझने का ऐसा प्रश्न उठता है; क्योंकि आत्मा कैसा है, उसे जाने बिना धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो आत्मा में एकाग्रतारूप दशा है। प्रथम, आत्मा कैसा है, वह पहिचाने और उसकी महिमा जाने तो उसमें स्थिर होकर ज्ञान एकाग्र हो। आत्मा कैसा है, वह जाने बिना जीव ने अनादि से पर में और विकार में एकाग्रता की है, उसका नाम अधर्म है। अनन्त धर्मोंवाले आत्मा की महिमा जानकर उसमें एकाग्र होना, वह धर्म है। ऐसा धर्म प्रगट करने की भावनावाला शिष्य पूछता है कि 'प्रभो! यह आत्मा कैसा है—आत्मा कितना महान है-कि जिसकी महिमा जानकर उसमें लीन होने से मेरी परमात्मदशा प्रगट हो जाये और संसार-भ्रमण दूर हो ?'

—ऐसे शिष्य को समझाने के लिये आचार्यदेव आत्मा का वर्णन करते हैं; आत्मा अनन्त स्वभावों को धारण कर रखनेवाला द्रव्य है; अनन्त धर्मोंवाला आत्मा स्वानुभव से ज्ञात होता है। स्वानुभव के अतिरिक्त बाह्य क्रियाकाण्ड आदि किसी भी उपाय से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। आत्मद्रव्य का स्वरूप समझाने के लिये यहाँ ४७ नयों से उसका

वर्णन किया है। उसमें प्रथम ऐसा कहा है कि द्रव्यनय से आत्मा सामान्य चिन्मात्र एकरूप है। फिर उसके समक्ष दूसरा धर्म बतलाते हुए कहा कि पर्यायनय से आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि भेदरूप है। इस प्रकार वस्तु में परस्पर-विरुद्ध दो धर्म सिद्ध किये। वस्तु में समस्त धर्म एक साथ ही हैं। पहले द्रव्यनय और पर्यायनय—इन दो नयों से वर्णन करके पश्चात् तीसरे बोल से सप्तभंगी का वर्णन प्रारम्भ किया है। तीसरे बोल में ऐसा कहा कि अस्तित्वनय से देखने पर आत्मद्रव्य स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है; चौथे बोल में कहा कि नास्तित्वनय से आत्मद्रव्य परचतुष्टय से नास्तित्वाला है और इस पाँचवें बोल में ऐसा कहते हैं कि अस्तित्व-नास्तित्वनय से देखने पर आत्मद्रव्य क्रमशः स्व-परचतुष्टय से अस्तित्व-नास्तित्ववाला है।

कई लोगों को ऐसा ज्ञान करने में तो प्रमाद आता है और अन्तर में ध्यान करना चाहते हैं, परन्तु ऐसे धर्मों द्वारा आत्मा को जाने बिना ध्यान किसका करोगे? आत्मा की महिमा कैसी है, वह तो ज्ञान में भासित नहीं हुआ है, फिर ज्ञान उसमें स्थिर कैसे होगा? स्थूल विकल्प कम हों और अन्तर में सातावेदनीय के कारण आनन्द जैसा लगे, इसलिए मान लेता है कि मुझे बहुत एकाग्रता होती है, परन्तु वास्तव में उसे एकाग्रता नहीं होती किन्तु मूढ़ता बढ़ती जाती है। मूढ़ता के कारण वह अपने परिणाम को नहीं पकड़ सकता। अभी तत्त्व के निर्णय का भी ठिकाना नहीं है, वहाँ एकाग्रता कैसी और आनन्द कैसा? मूढ़रूप से राग में एकाग्र होकर आनन्द मान रहा है, वह धर्मी नहीं, किन्तु मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ तो आचार्यदेव ने स्पष्टरूप से वस्तुस्वरूप समझाया है। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न, अपने-अपने अनन्त धर्मोंवाला है। प्रत्येक आत्मा में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्त्व और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व—ऐसे दोनों प्रकार एक ही साथ हैं।

शंका—अकेला अस्तित्व ही कहिये न! एक अस्तित्व में द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव—ऐसे चार प्रकार क्यों डालते हैं? चार प्रकारों को जानने से तो विकल्प होता है?

समाधान—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, ऐसे प्रकार वस्तु में ही हैं। वस्तु के द्रव्य को, क्षेत्र को, काल को और भाव को बराबर समझे, तभी वस्तु के अस्तित्व को माना कहा जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ऐसे चार प्रकारों को जानना, वह तो वस्तु का यथार्थ ज्ञान

है, वह कहीं विकल्प का नहीं है। 'आत्मा है'—ऐसा माने, परन्तु उसका क्षेत्र कितना है, उसकी पर्यायें कैसी हैं और धर्म कैसे हैं, वह न जाने तो आत्मवस्तु का अस्तित्व ही यथार्थ रूप से ख्याल में नहीं आयेगा। अस्तित्व कहने से उसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव इन चारों का समावेश हो जाता है; इसलिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जानना चाहिए।

द्रव्य—आत्मा अनन्त गुण-पर्याय का पिण्ड है, वह द्रव्य है। अन्य अनन्त आत्मा और जड़ द्रव्यों से वह भिन्न है।

क्षेत्र—आत्मा अपने असंख्य प्रदेशोंवाला है, वह उसका स्वक्षेत्र है। जिस क्षेत्र में आत्मा है, उसी क्षेत्र में अन्य जीव और पुद्गलादि द्रव्य भी स्थित हैं, किन्तु प्रत्येक का स्वक्षेत्र पृथक् है।

काल—प्रत्येक समय की पर्याय, वह आत्मा का स्वकाल है। प्रत्येक पर्याय अपने से अस्तिरूप और दूसरे से नास्तिरूप है।

भाव—आत्मा की अनन्त शक्तियाँ, वह आत्मा का स्व-भाव है। इस प्रकार अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से आत्मा है तथा पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है; ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व नाम का आत्मा का धर्म है।

निगोद से लेकर सिद्ध तक की आत्मा की कोई भी पर्याय लो, वह प्रत्येक पर्याय स्व से है और पर से नहीं है। निगोद पर्याय हो, उस समय वह पर्याय अपने से है और पर से नहीं है; सिद्ध पर्याय भी अपने से है और पर से नहीं है; साधक पर्याय भी अपने से है और पर से नहीं है। बस! समय-समय की प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है। यदि स्वतन्त्र पर्याय को न मानें तो स्वकाल से अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा।

निगोद की पर्याय स्वतन्त्र है—ऐसा कहा, उसका अर्थ यह नहीं समझना कि वह पर्याय भी पूरी है। जिस प्रकार सिद्ध पर्याय परिपूर्ण है, उसी प्रकार कहीं निगोद पर्याय भी परिपूर्ण नहीं है। निगोद की पर्याय तो अनन्तवें भाग हीन है; उस पर्याय में ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि अनन्तवें भाग हैं। परन्तु यहाँ तो ऐसा कहना है कि वह पर्याय अत्यन्त हीन होने पर भी स्वकाल से पूर्ण द्रव्य के अस्तित्व को बनाये रखती है; इसलिए उस एक पर्याय में पूर्ण द्रव्य के अस्तित्व को सिद्ध करने की शक्ति है। यदि उस एक अंश को निकाल दें तो द्रव्य

ही सिद्ध नहीं होता। वर्तमान प्रवर्तित स्वकाल के बिना द्रव्य का अस्तित्व ही कहाँ से निश्चित होगा? 'अस्तित्व' कहने से उसमें स्वकाल भी साथ में आ ही जाता है।

निगोद पर्याय के समय भी आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्व-चतुष्टय से परिपूर्ण अस्तित्ववाला है। यद्यपि पर्याय का परिणमन पूरा नहीं है परन्तु अस्तित्व तो प्रतिसमय पूर्ण ही है। पीछे की विशेष पर्याय की अपेक्षा वर्तमान पर्याय में अपूर्णता कहलाती है, परन्तु वर्तमान समय की अपेक्षा तो उस समय का अस्तित्व स्वचतुष्टय से पूर्ण है। जब देखो तब एक समय में आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव में स्थित है। आत्मा एक समय भी पर की अपेक्षा से स्थित नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टय में ही विद्यमान है।

आत्मा कैसा है-उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा अनन्त धर्मवाला है और उसे जाननेवाले ज्ञान में अनन्त नय हैं। अनन्त धर्मोंवाले आत्मा को स्वीकार करने में ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ आता है। किन्हीं इन्द्रियों से या राग से अनन्त धर्मोंवाले आत्मा का स्वीकार नहीं हो सकता, स्वसन्मुख हुए ज्ञान में से ही अनन्त धर्मोंवाले आत्मा का यथार्थ स्वीकार होता है। साधक जीव का श्रुतज्ञानप्रमाण है, वह अनन्त नयोंवाला है और वह स्वानुभव से अपने अनन्त धर्मात्मक आत्मा को जानता है।

ज्ञान के पाँच प्रकारों में से श्रुतज्ञान में ही नय होते हैं, अन्य किसी ज्ञान में नय नहीं होते।

शंका— श्रुतज्ञान में ही नय क्यों?—दूसरे ज्ञान में नय क्यों नहीं होते?

समाधान— मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल—इन पाँच प्रकार के ज्ञान में अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष हैं और मति-श्रुतज्ञान परोक्ष हैं; अब, जो नय है, वह परोक्षज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान का अंश तो प्रत्यक्ष ही होता है, इसलिए उसमें नय नहीं होते। केवलज्ञान पूर्ण स्पष्ट प्रत्यक्ष है और अवधि तथा मन:पर्यय ज्ञान भी अपने-अपने विषय में प्रत्यक्ष हैं; इसलिए उन प्रत्यक्ष ज्ञानों में परोक्षरूप नय नहीं होते।

मतिज्ञान यद्यपि परोक्ष है, परन्तु उसका विषय अल्प है; वह मात्र साम्प्रतिक अर्थात् वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है, सर्व क्षेत्र और सर्व कालवर्ती पदार्थों को वह ग्रहण नहीं करता, इसलिए उसमें भी नय नहीं पड़ते, क्योंकि पूर्ण पदार्थ के ज्ञानपूर्वक उसमें भाग करके जाने, उसे नय कहा जाता है।

श्रुतज्ञान अपने विषयभूत समस्त क्षेत्र-कालवर्ती पदार्थों को परोक्षरूप से ग्रहण करता है, इसलिए उसी में नय पड़ते हैं। श्रुतज्ञान में भी जितना स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हो गया है, उतना तो प्रमाण ही है और जितनी परोक्षता रही है, उसमें नय पड़ते हैं। श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष ही नहीं है, स्वसंवेदन में वह अंशत: प्रत्यक्ष है; ऐसे स्वसंवेदनपूर्वक ही सच्चे नय होते हैं। श्रुतज्ञान, केवलज्ञान की भाँति समस्त पदार्थों को भले न जाने, परन्तु अपने विषय के योग्य पदार्थ को सकल काल-क्षेत्रसहित पूर्ण ग्रहण करता है, और उसमें एकदेशरूप नय होते हैं।

इस प्रकार, जो ज्ञान परोक्ष हो और सर्व क्षेत्र-कालवर्ती पदार्थ को ग्रहण करता हो, उस ज्ञान में ही नय होते हैं;—ऐसा तो श्रुतज्ञान है; इसलिए उसी में नय होते हें। तीन ज्ञान तो प्रत्यक्ष हैं—स्पष्ट हैं और मतिज्ञान का विषय अल्प है, इसलिए उस किसी भी ज्ञान में नय नहीं होते।

'श्रुतज्ञान त्रिकाली पदार्थ को परोक्ष जानता है, इसलिए उसी में नय होते हैं'—ऐसा आचार्यदेव ने कहा है, उसमें सूक्ष्म रहस्य है; उसमें से ऐसा न्याय भी निकलता है कि द्रव्यार्थिक मुख्य है और पर्यायार्थिक गौण है। त्रिकाली पदार्थ का ज्ञान हो, तभी उसके अंश के ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है। जब द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाली द्रव्य को जाना, तब उसके पर्यायरूप अंश को जाननेवाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा गया। त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख होकर उसे जाना, तभी उसके अंश के ज्ञान को व्यवहारनय कहा गया। त्रिकाली के ज्ञान बिना अंश के ज्ञानरूप व्यवहारनय नहीं होता। इसलिए यह बात निश्चित हुई कि निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता, द्रव्य के ज्ञान के बिना पर्याय का ज्ञान नहीं होता। व्यवहारनय तो अंश को जानता है; अंश किसका ? त्रिकाली पदार्थ का। तो उस त्रिकाली पदार्थ के ज्ञान बिना उसके अंश का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। श्रुतज्ञान भी त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की ओर ढले, तभी उसमें नय होते हैं। त्रिकाली के ज्ञान बिना अकेली पर्याय को या भेद को जानने जाये तो वहाँ पर्यायबुद्धि का एकान्त हो जाता है, मिथ्यात्व हो जाता है, उसमें नय नहीं होते। आत्मा नित्य है; शुद्ध है—ऐसा जाननेवाले नय, त्रिकाली पदार्थ के ज्ञान बिना नहीं होते; और शुद्धता, नित्यता आदि को जाने बिना मात्र अशुद्धता को या

अनित्यता को जानने जाये तो वहाँ एकान्तमिथ्यात्व हो जाता है, इसलिए वहाँ व्यवहारनय भी नहीं होता।

यहाँ साधक के नयों की बात है। साधक को केवलज्ञान नहीं होता; साधक के चार ज्ञान में श्रुतज्ञान की सामर्थ्य अधिक है; अवधि-मन:पर्ययज्ञान प्रत्यक्ष हैं, तथापि उनका विषय अल्प है और श्रुतज्ञान परोक्ष है, तथापि उसका विषय अति विशाल है; श्रुतज्ञान अपने विषयभूत पदार्थ के सर्व क्षेत्र-काल को जानता है। ऐसे श्रुतज्ञान में अनन्त नय हैं। यहाँ पर को जानने के नयों की बात नहीं है परन्तु अपने आत्मा को जाननेवाले नयों की बात है। साधक जीव अपने आत्मा को नयों द्वारा कैसा जानता है, उसका यह वर्णन है।

'अस्तित्व-नास्तित्व' नाम के नय से देखने पर आत्मा अस्तित्व-नास्तित्ववाला है। स्व से अस्तित्व और पर से नास्तित्व वस्तु में एक-साथ ही है; ज्ञान भी एक समय में ही उसे जानता है और वाणी द्वारा वह कथञ्चित् कहा भी जा सकता है; इस प्रकार सप्तभंगी के तीसरे बोल में 'अस्ति-नास्ति' धर्म कहा। वाणी द्वारा अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते, इसलिए अवक्तव्य है—यह बात आगे आयेगी। यह वक्तव्य का बोल है; अस्ति-नास्ति दोनों धर्म ज्ञान में एकसाथ आ जाते हैं और वाणी द्वारा वे क्रम करके कहे भी जा सकते हैं, ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व नाम का आत्मा का धर्म है।

वाणी में क्रम पड़ता है परन्तु ज्ञान और वस्तु के धर्म तो अक्रम हैं। अस्ति, नास्ति—ऐसा कहने में क्रम पड़ता है परन्तु वाच्यरूप वस्तु में वे धर्म कहीं क्रमानुसार स्थित नहीं हैं; वस्तु में तो समस्त धर्म एक साथ हैं। द्रव्य में अनन्त धर्म एक साथ ही हैं, अनन्त धर्मों का भाव एक साथ वर्तता है, वही द्रव्य है, ज्ञान में भी अनन्त धर्म एक साथ नहीं आ सकते परन्तु क्रम पड़ता है; वाणी से समस्त धर्म नहीं कहे जा सकते किन्तु अमुक धर्मों का ही वर्णन हो सकता है; इसलिए शब्द की ओर देखने से वस्तु पकड़ में नहीं आ सकती, परन्तु ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके वस्तुस्वभाव को पकड़े, तभी वस्तु समझ में आ सकती है। इन ४७ नयों से ४७ धर्मों का वर्णन किया है, उसका तात्पर्य एक-एक धर्म के भेद-सन्मुख देखने का नहीं है परन्तु ऐसे अनन्त धर्मों को धारण करनेवाले चैतन्य द्रव्य को लक्ष्य में लेकर उसका अनुभव करना ही तात्पर्य है।

इस प्रकार यहाँ अस्तित्व-नास्तित्वधर्म का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

(6)

अवक्तव्यनय

अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्त-रालवर्त्य गुणकार्मुकान्तरालवर्ति-संहितावस्थासंहिता-वस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखा-लक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्व-परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ६।

आत्मद्रव्य अव्यक्तव्ययन से युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है—लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण युगपत् स्व-चतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से युगपत् लोहमयादि तथा अलोहमयादि होने से अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अवक्तव्यनय से युगपत् स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।)६.

स्वचतुष्टय से अस्तित्व और परचतुष्टय से नास्तित्व, ऐसे दोनों धर्म युगपद नहीं कहे जा सकते। 'स्व से अस्ति है'—ऐसा कहने से उसी समय दूसरे नास्तिधर्म का कथन बाकी रह जाता है और 'पर से नास्ति है'—ऐसा कहने से उसी समय दूसरे अस्तिधर्म का कथन बाकी रह जाता है; इस प्रकार वाणी द्वारा दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते, इसलिए आत्मा अवक्तव्य है। सर्वथा अवक्तव्य नहीं है परन्तु दोनों धर्म युगपद नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से अवक्तव्य है; क्रमश: तो कहे जा सकते हैं, उस अपेक्षा से वक्तव्य है। वस्तु में दोनों धर्म एक साथ ही हैं। अवक्तव्यनय से वस्तु को अवक्तव्य कहा, उसी समय वस्तु में कथञ्चित् 'वक्तव्य' धर्म भी है, उसे यदि स्वीकार न करे तो अवक्तव्य नय भी मिथ्या है। अनन्त धर्मवाली पूर्ण वस्तु के स्वीकारपूर्वक उसके एक-एक धर्म का ज्ञान, वह नय है।

'अवक्तव्य'—ऐसा शब्द वाचक है और उसके वाच्यरूप भाव, वह आत्मा का

अवक्तव्य धर्म है। 'अवक्तव्य'—ऐसे शब्द में आत्मा का अवक्तव्य धर्म नहीं भरा है; वह धर्म तो आत्मा में विद्यमान है।

आत्मा कितना?—एक साथ अनन्त धर्मों को अपने में धारण कर रखे उतना। किसी भी अन्य की सहायता के बिना स्वयं अपने स्वभाव से ही अनन्त धर्मोंवाला है। इतने महान अनन्त महिमावान अपने आत्मा को प्रतीति में ले, तभी सम्यक्-श्रद्धा कहलाती है। इतने महान धर्मी को स्वीकार करे, तभी उसके आश्रय से धर्म का प्रारम्भ होता है। प्रत्येक आत्मा अनन्त धर्मोंवाला धर्मी है, उसे स्वीकार करनेवाली श्रद्धा भी उतनी ही महान और गम्भीर है। वह श्रद्धा किसी निमित्त के अथवा राग के आश्रय से नहीं होती परन्तु स्वभाव के आश्रय से ही होती है। ऐसे आत्मा की स्वीकृति बिना 'आत्मा तो अखण्ड है, शुद्ध है'—ऐसा ऊपर-ऊपर से सुनकर माने तो उसे आत्मा की जितनी महिमा है, उतनी भासित नहीं होगी; इसलिए उसकी श्रद्धा अपूर्ण-पतली-मिथ्या है। जितने अनन्त धर्मोंवाला आत्मा केवलज्ञान में ज्ञात होता है, उन समस्त धर्मोंवाला आत्मा सम्यक्श्रद्धा की प्रतीति में आ जाता है। श्रद्धा, धर्मों के भेद नहीं पाड़ती, किन्तु अभेद आत्मा की प्रतीति में उन समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है। अनन्त धर्मों के स्वीकारपूर्वक अभेद आत्मा की श्रद्धा करती है। जो जीव अपने आत्मा को अनन्त धर्मवाला स्वीकार करे, वह जीव क्षणिक रागादि भावों जितना ही अपने को माने तो अनन्त धर्मोंवाले आत्मा को स्वीकार नहीं कर सकता; इसलिए अनन्त धर्मोंवाले आत्मा की यथार्थ स्वीकृति में तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आ जाते हैं।

जो आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वधर्मवाला है, वही आत्मा पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्वधर्मवाला है, वही आत्मा एक साथ दोनों धर्मोंवाला होने से अस्तित्व-नास्तित्वधर्मवाला है; और वे दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वही आत्मा अवक्तव्यधर्मवाला है;—इस प्रकार सप्तभंगी के चार भंग कहे। देखो! यह अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगी है, वह वीतरागदेव कथित आत्मद्रव्य को पहिचानने का चिह्न है, उसके द्वारा अपने आत्मा को पर से भिन्न और अपने अनन्त धर्मों से एकमेक पहिचान लेना चाहिए। यह सप्तभंगी तो प्रत्येक पदार्थ में लागू होती है, परन्तु इस समय तो आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है, इसलिए आत्मा पर सप्तभंगी को उतारा है।

सप्तभंगी के चार भंग कहे; अब पाँचवाँ भंग कहते हैं। ४७ धर्मों के क्रम में यह सातवाँ धर्म है:—

(7)

अस्तित्व-अवक्तव्यनय

अस्तित्वावक्तव्य-नयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्त रालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ७।

आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-अवक्तव्य है — (स्वचतुष्टय से) लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्व-परचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति।[जैसे पहले का बाण (१) स्वचतुष्टय से तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) लोहमयादि तथा (२) अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-अवक्तव्यनय से (१) स्वचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्तित्ववाला तथा (२) अवक्तव्य है।] ७.

यह अस्तित्व, नास्तित्व आदि सातों प्रकार के धर्म वस्तु के स्वभाव में हैं; अस्तित्व और नास्तित्व—यह दो ही धर्म वस्तु में हैं और अन्य पाँच धर्म नहीं हैं—ऐसा नहीं है। यदि वस्तु में सातों धर्म न हों तो उनका कथन भी न हो, क्योंकि जो वाचक है, वह वाच्य को बतलाता है।

(१) वस्तु स्व-रूप से है,—ऐसा अस्तित्व कहा जा सकता है।

(२) वस्तु पररूप से नहीं है,—ऐसा नास्तित्व कहा जा सकता है।

(३) वस्तु स्व-रूप से है और पररूप से नहीं है,—ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व क्रम से कहा जा सकता है।

—इस प्रकार प्रथम तीनों भंग वक्तव्य में आते हैं।

(४) वस्तु स्व-रूप से है और पर रूप से नहीं है,—इस प्रकार दोनों एक साथ नहीं कहे जा सकते, इसलिए अवक्तव्य है।

(५) 'वस्तु स्व-रूप से है'—ऐसा अस्तित्व का कथन करने से, 'वस्तु पररूप से नहीं है'—ऐसा नास्तित्व का कथन बाकी रह जाता है, 'अस्तित्व' कहा जा सका, परन्तु दोनों एक साथ नहीं कहे जा सके, इस अपेक्षा से वस्तु अस्तित्व-अवक्तव्य है।

अस्तित्व और अवक्तव्य—यह दोनों धर्म एकत्रित करके यह धर्म कहा है—ऐसा नहीं है, परन्तु अस्तित्व और अवक्तव्य—इन दोनों के अतिरिक्त यह भी एक स्वतन्त्र धर्म है। ज्ञान के अनन्त नयों में अस्तित्वनय आदि सात नय भिन्न-भिन्न हैं और उन सातों नयों के विषयभूत सात धर्म वस्तु में भिन्न-भिन्न हैं।

'अस्तित्व' कहने से वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, यह चारों एक साथ आ जाते हैं। मैं आत्मा हूँ, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हूँ; इस प्रकार अस्तित्व को जाना, उसी क्षण 'मैं पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं हूँ'—ऐसा नास्तित्व का ज्ञान भी साथ ही पड़ा है। वस्तु में समस्त धर्म एक साथ हैं; प्रमाणज्ञान में सब एक साथ ज्ञात होते हैं, परन्तु वाणी में एक साथ नहीं कहे जा सकते। आत्मा स्व-रूप से है—ऐसा कहा, उसी समय आत्मा में दूसरे अनन्त धर्म हैं, उनका कथन नहीं हो सका—इस अपेक्षा से आत्मा 'अस्तित्व-अवक्तव्य' धर्मवाला है। जो ज्ञान इस अपेक्षा से आत्मा को लक्ष्य में ले, उसे अस्तित्व-अवक्तव्यनय कहा जाता है।

प्रत्येक आत्मा एक समय में अपने अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता है; उसे पहिचानने के लिये यह वर्णन चलता है। जितने धर्मी जीव हों, उन सबके श्रद्धा-ज्ञान में ऐसा अनन्त धर्मोंवाला आत्मा एक समान ही होता है। एक धर्मी के श्रद्धा-ज्ञान में अमुक प्रकार का आत्मा हो और दूसरे धर्मी के श्रद्धा-ज्ञान में उससे भिन्न प्रकार का आत्मा हो, ऐसी विविधता नहीं होती। ऐसे आत्मा के सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान करने के पश्चात् किसी को उसमें

विशेष लीनता हो और किसी को अल्प लीनता हो—इस प्रकार चारित्र में विविधता होती है, परन्तु उसमें विरोधता नहीं होती। हीनाधिकता के कारण विविधता होने पर भी उसकी जाति तो एक ही प्रकार की है; इसलिए उसमें विरोध नहीं है।

अनन्त ज्ञानियों का अभिप्राय एक समान ही है। जैसा आत्मा केवली भगवान की श्रद्धा में आया है, वैसा ही आत्मा चौथे गुणस्थान में प्रवर्तमान छोटे से छोटे धर्मी जीव की श्रद्धा में आया है। आत्मा को उसके धर्मों द्वारा पहिचाने, तभी उसकी सच्ची श्रद्धा होती है; इसलिए यहाँ आचार्यदेव ने धर्मों का वर्णन किया है। उसमें सप्तभंगी में से 'अस्तित्व-अवक्तव्य' नाम का पाँचवाँ भंग कहा। अब, छठवाँ भंग कहते हैं। ४७ धर्मों में वह आठवाँ धर्म है।●●

(४)

नास्तित्व-अवक्तव्यनय

नास्तित्वावक्तव्य-नयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयान-योमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्य- गुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखा-लक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्र-कालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च नास्तित्ववदवक्त्व्यम् ८।

आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला-अवक्तव्य है— (परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। [जैसे पहले का बाण (१) परचतुष्टय की तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अलोहमयादि तथा (२) अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा नास्तित्व-अवक्तव्यनय से (१) परचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) नास्तित्ववाला तथा (२) अवक्तव्य है।] ८.

अस्तित्व-अवक्तव्य की भाँति यह धर्म भी समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार अस्तित्वधर्म का कथन करने से नास्तित्व आदि का कथन बाकी रह जाता था, इसलिए अस्तित्व-अवक्तव्य धर्म कहा; उसी प्रकार यहाँ 'आत्मा पररूप से नहीं है'—ऐसा नास्तित्वधर्म कहने से 'आत्मा स्व-रूप से है'—ऐसा अस्तित्व का कथन बाकी रह जाता है; नास्तित्व कहा जा सकता है किन्तु दोनों साथ नहीं कहे जा सकते; इसलिए आत्मा 'नास्तित्व-अवक्तव्य' धर्मवाला है।

अब सप्तभंगी का अन्तिम भंग कहते हैं:—

(9)

अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय

अस्तित्वनास्तित्वाववक्तव्य-नयेनायोमय-गुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखान-योमयागुणकार्मुकान्त-रालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायो-मयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुण-कार्मुकान्तराल-वर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुख-प्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्व-नास्तित्ववदवक्तव्यम् ९।

आत्मद्रव्य अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव से, पदद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-नास्तित्ववाला अव्यक्त है—(स्वचतुष्टय से) लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे—(परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे—(परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा प्रत्यञ्चा और धनुष के मध्य में स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। [जैसे पहले का बाण (१) स्वचतुष्टय की, (२) परचतुष्टय की तथा (३) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) लोहमय, (२) अलोहमय तथा (३) अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय से (१) स्वचतुष्टय की, (२) परचतुष्टय की तथा (३) युगपत् स्व-परचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्तित्व-वाला, (२) नास्तित्ववाला तथा (३) अवक्तव्य है।] ९.

आत्मा में स्व-रूप से अस्तित्व है, पररूप से नास्तित्व है, यह दोनों धर्म एक के पश्चात् एक कहे जा सकते हैं परन्तु एक साथ नहीं कहे जा सकते; इस प्रकार आत्मा 'अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य' नाम के धर्मोंवाला है। इस धर्म में तीन शब्द आये, इसलिए उनके वाच्यरूप तीन पृथक् धर्म नहीं समझना चाहिए, परन्तु तीनों के वाच्यरूप एक धर्म है—ऐसा समझना।

इस प्रकार अस्ति, नास्ति आदि सात भंगों का वर्णन पूरा हुआ।

यह जो अस्ति-नास्ति आदि धर्म कहे, वे सब पदार्थों में हैं। प्रत्येक सूक्ष्म रजकण में भी यह सातों धर्म हैं। मेरा अस्तित्व मुझमें है और पर में नहीं है; पर का अस्तित्व उसमें है और मुझमें नहीं है; इसलिए न तो किसी परवस्तु से मुझे सुख है और न किसी से दु:ख है; और मुझसे परवस्तु में कुछ भी आगे-पीछे नहीं होता;—ऐसा समझे तो अस्ति-नास्ति धर्म को यथार्थ समझा कहा जाता है। पर से मुझे सुख-दु:ख होता है और मैं परवस्तु को आगे-पीछे कर सकता हूँ—ऐसा माननेवाला वस्तु के अस्ति-नास्ति धर्म को नहीं समझा है। देव-गुरु-शास्त्र से मुझे लाभ होता है और कर्मों से हानि होती है—ऐसा जो मानता है, वह जीव भी इन धर्मों को नहीं समझा है; क्योंकि जिसका अपने में अभाव है, वह अपने को लाभ-हानि कैसे कर सकता है ? नहीं ही कर सकता।

नरक के जीव को अग्नि का या शीत का दु:ख नहीं है, क्योंकि उससे तो आत्मा नास्तिरूप है।

इन्द्र के जीव को इन्द्राणी के संयोग का सुख नहीं है, क्योंकि उससे तो आत्मा नास्तिरूप है।

—इस प्रकार जो समझे, उसे अनुकूलता में सुखबुद्धि और प्रतिकूलता में दु:खबुद्धि न रहे; इसलिए अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष तो उसके होंगे ही नहीं। इस प्रकार वस्तुस्वरूप समझते ही अनन्त राग-द्वेष दूर हो जाते हैं। वस्तुस्वरूप समझे बिना अन्य चाहे जितने बाह्य उपाय करे, तथापि अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष दूर नहीं हो सकते। अस्ति-नास्ति धर्म द्वारा वस्तु का स्वरूप समझने से पर से भिन्नत्व का भान होकर स्वाश्रय से सच्चा सुख प्रगट होता है।

आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप वर्तता है और कर्म के चतुष्टयरूप से नहीं वर्तता; और कर्म, आत्मा के चतुष्टयरूप से नहीं वर्तते; इसलिए आत्मा को जड़ कर्मों का

बोझ है ही नहीं। जिस प्रकार सिद्ध के आत्मा में कर्म का बोझ नहीं है; उसी प्रकार किसी भी आत्मा में कर्म का बोझा नहीं है। आत्मा पर कर्म का बोझ है—ऐसा कहना, वह तो मात्र निमित्त के संयोग का कथन है; वास्तव में आत्मा में कर्म की नास्ति ही है। लोक के अग्रभाग में जहाँ अनन्त सिद्धभगवन्त अपने पूर्णानन्द में बिराज रहे हैं, वही निगोद के अनन्त जीव भी रहते हैं; वे जीव अनन्त दु:ख के वेदन में पड़े हैं। जहाँ सिद्ध, वहीं निगोद; तथापि दोनों के आत्मा भिन्न, दोनों का स्व-क्षेत्र भिन्न, दोनों की स्व-पर्याय भिन्न और दोनों के भाव भी भिन्न हैं। अनन्त सिद्धभगवन्त और निगोद के जीव जिस आकाशक्षेत्र में विद्यमान हैं, उसी क्षेत्र में अनन्त कर्म भी भरे हुए हैं, वहाँ जिस प्रकार सिद्धभगवन्तों को उन कर्मों का बोझा नहीं है; उसी प्रकार निगोद के जीवों को भी वास्तव में कर्मों का बोझ नहीं है। सिद्ध या निगोद प्रत्येक आत्मा अपने स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है और कर्म के चतुष्टय का उसमें अभाव है। निगोद के जीव की अत्यन्त हीन दशा है, वह उसके अपने स्वकाल के ही कारण है, कर्म के बोझ के कारण नहीं है। यदि ऐसा न माने तो अस्ति-नास्ति धर्म ही सिद्ध नहीं होगा।

प्रत्येक जीव को अपने ही कारण सुख या दु:ख होते हैं—ऐसा जानना, वह निश्चय है, और किसी परवस्तु से सुख-दु:ख होते हैं—ऐसा कहना, वह मात्र संयोगरूप निमित्त का ज्ञान करने का व्यवहार है; वास्तव में पर की आत्मा में नास्ति है; उससे आत्मा को सुख-दु:खादि कुछ भी नहीं होता।

आत्मा में अस्ति-नास्ति आदि अनन्त स्वधर्म अनादि-अनन्त एक समय में वर्त रहे हैं; ऐसे आत्मा को जानकर, उसकी श्रद्धा और ज्ञान करे तो सम्यक्त्व हो; इसके बिना धर्म का अंश भी नहीं हो सकता। परसन्मुख देखने से आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता क्योंकि आत्मा का कोई भी धर्म पर में नहीं है। आत्मा के अनन्त धर्म आत्मा में हैं, उसकी सन्मुखता से ही पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्रगट होते हैं।

✦✦✦

अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगी वह जैनधर्म का मूल है; उससे जगत की किसी भी वस्तु का स्वरूप निश्चित हो जाता है। कोई ऐसा कहे कि शास्त्र के कारण ज्ञान होता है; तो कहते हैं कि नहीं, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व में शास्त्र की नास्ति है। कोई कहे कि जड़

कर्म आत्मा के ज्ञान को रोकते हैं; तो कहते हैं कि नहीं, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व में कर्म का नास्तित्व है। सप्तभंगी द्वारा जीव दूसरे छहों द्रव्यों से पृथक् हो जाता है।

(१) जीव, जीवरूप है और दूसरे अनन्त पर जीवोंरूप वह नहीं है; इसलिए वह दूसरे जीवों का कुछ नहीं कर सकता, और दूसरे जीवों से भी उसका कुछ नहीं हो सकता।

(२) जीव अपनेरूप से है और अनन्त पुद्गलरूप से नहीं है; इसलिए वह शरीरादि पुद्गल में कुछ नहीं कर सकता, और शरीर तथा कर्म आदि जीव में कुछ नहीं कर सकते।

(३) जीव अपनेरूप है और धर्मास्तिकाय द्रव्यरूप नहीं है; इसलिए धर्मास्तिकाय के कारण जीव गति नहीं करता।

(४) जीव अपनेरूप है और अधर्मास्तिकाय द्रव्यरूप नहीं है; इसलिए अधर्मास्तिकाय के कारण वह स्थिर रहता है—ऐसा नहीं है।

(५) जीव अपनेरूप है और कालद्रव्यरूप वह नहीं है; इसलिए कालद्रव्य जीव को परिणमित करता है—ऐसा नहीं है।

(६) जीव अपनेरूप है और आकाशद्रव्यरूप वह नहीं है; इसलिए वास्तव में जीव आकाश के क्षेत्र में स्थित नहीं है परन्तु अपने स्वक्षेत्र में ही स्थित है।

—इस प्रकार जो जीव अस्ति-नास्ति धर्म द्वारा अपने को समस्त परद्रव्यों से पृथक् जाने, वह अपने स्वभाव की ओर ढले बिना नहीं रहता। आत्मा का नास्तित्व धर्म कहने से परद्रव्यों का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है; क्योंकि यदि परद्रव्य न हों तो उनके अभावरूप जीव का नास्तित्व धर्म सिद्ध नहीं हो सकता।

सप्तभंगी द्वारा समस्त परद्रव्यों से तो आत्मा को भिन्न किया; अब स्वयं अपने में भी अनन्त सप्तभंगी उतरती है।

जगत में अनन्त द्रव्य हैं, उनमें प्रत्येक द्रव्य की अपनेरूप से आस्ति और दूसरे अनन्त द्रव्यरूप से नास्ति;—इस प्रकार द्रव्य में अनन्त सप्तभंगी समझना।

अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि अनन्त गुण हैं, उनमें प्रत्येक गुण अपनेरूप है और दूसरे अनन्त गुणोंरूप वह नहीं है—इस प्रकार प्रत्येक गुण में अनन्त सप्तभंगी समझना।

प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें हैं, उनमें प्रत्येक पर्याय अपनेरूप है और आगे-पीछे की अनन्त पर्यायोंरूप वह नहीं है;—इस प्रकार अनन्त-पर्यायों में प्रत्येक की अनन्त सप्तभंगी समझना।

प्रत्येक पर्याय में अनन्त अविभागप्रतिच्छेद अंश है; उनमें का प्रत्येक अंश अपनेरूप है और दूसरे अनन्त अंशोंरूप वह नहीं है;—इस प्रकार प्रत्येक अविभागप्रतिच्छेद अंश में भी अनन्त सप्तभंगी उतरती है।

और द्रव्य-गुण-पर्याय में परस्पर अस्ति-नास्तिरूप सप्तभंगी उतरती है; वह इस प्रकार है—

द्रव्य, द्रव्यरूप है और गुणरूप या पर्यायरूप वह नहीं है; एक गुण, गुणरूप है और पूर्ण द्रव्यरूप अथवा एक पर्यायरूप नहीं है; एक पर्याय, पर्यायरूप है और द्रव्य या गुणरूप वह नहीं है;—ऐसा न हो तो द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों का भिन्न-भिन्न लक्षण ही सिद्ध नहीं हो सकेगा।

इस सप्तभंगी में बहुत विस्तार है; चौदह ब्रह्माण्ड इसमें समा जाते हैं; यह तो सूक्ष्म वीतरागी विज्ञान है। लोग बाह्य संयोग से पदार्थ को देखते हैं; वह देखने की ही भूल है—'देखत भूल' है। संयोगी दृष्टि कहो या 'देखत भूल' कहो, वही संसार का मूल है। वस्तु में संयोग का तो अभाव है—इस प्रकार यदि अस्ति-नास्ति से वस्तु के निरपेक्ष स्वभाव को देखें तो 'देखत भूल' दूर हो!

देखो, यह स्वतन्त्रता का ढंढेरा :—

जगत में अनन्त द्रव्य हैं, उनमें एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं; उनमें एक गुण कभी दूसरे गुणरूप नहीं होता।

प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें हैं, उनमें एक पर्याय कभी भी दूसरी पर्यायरूप नहीं होती। द्रव्यरूप से द्रव्य सत्, गुणरूप से गुण सत्, और पर्यायरूप से प्रत्येक समय की पर्याय भी सत्; कोई एक-दूसरेरूप नहीं हो जाते। अहो! देखो तो, यह वस्तुदर्शन! कितनी निरपेक्षता! ऐसा निरपेक्ष स्वरूप समझे तो ज्ञान में निरपेक्षता अर्थात् वीतरागता हो जाये, मात्र ज्ञाताभाव रह जाये;—इसका नाम धर्म है।

द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत्;—सब अपने-अपनेरूप से सत्‌रूप जैसे का

तैसा विद्यमान है। ज्ञाता-दृष्टा होकर उसे ज्ञेय करना ही तेरा काम है। कहीं आगे-पीछे या फेरफार हो सके—ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। और 'ऐसा क्यों ?'—ऐसा राग-द्वेष का विकल्प करना, वह ज्ञान का भी स्वरूप नहीं है। ऐसे वस्तुस्वभाव की प्रतीति करने से कर्तृत्व का मोह दूर होकर ज्ञातृत्व प्रगट हो, उसका नाम धर्म है।

✦✦✦

प्रत्येक आत्मा में अनन्त धर्म हैं; वे आत्मा को स्वानुभव से श्रुतज्ञानप्रमाण जानते हैं। उस श्रुतज्ञान में अनन्त नय हैं; प्रत्येक नय आत्मा के प्रत्येक धर्म को जानता है। धर्म अर्थात् द्रव्य का भाग; और नय अर्थात् श्रुतज्ञान का भाग। अनन्त धर्मात्मक पूर्ण वस्तु को जाने, वह प्रमाणज्ञान है और उसके एक धर्म को मुख्य करके जाने, वह नय है। यह नय साधक के श्रुतज्ञान में ही होते हैं। केवली भगवान के आत्मा में अस्तित्व आदि अनन्त धर्म हैं, परन्तु उनके ज्ञान में अस्तित्व आदि कोई नय नहीं होते; वे तो नयातीत हो गये हैं। यहाँ तो जिसे नय द्वारा वस्तुस्वरूप की साधना करना है—ऐसे साधक को ४७ नयों द्वारा आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं। सिद्ध परमात्मा या एक परमाणु,—प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मात्मक हैं; परन्तु यहाँ तो आत्मा को बतलाने का प्रयोजन है; इसलिए आत्मा के धर्मों की बात है। आत्मा वस्तु कैसी है, और वह कैसे ज्ञात होती है—उसकी यह बात चलती है।

स्वचतुष्टय से आत्मा अस्तिरूप है और पर-चतुष्टय से नास्तिरूप है। जो अस्तिरूप है, वही नास्तिरूप है।—किस प्रकार ?—स्व अपेक्षा से जो अस्तिरूप है, वही पर अपेक्षा से नास्तिरूप है, परन्तु जिस अपेक्षा से अस्तिरूप है, उसी अपेक्षा से नास्तिरूप नहीं है। एक ही वस्तु के दो धर्म हैं परन्तु एक ही अपेक्षा से दोनों धर्म नहीं हैं। जिस अपेक्षा से अस्तित्व है, उस अपेक्षा से तो अस्तित्व ही है, उस अपेक्षा नास्तित्व नहीं है। जो आत्मा है, वही अनात्मा है।—किस प्रकार ?—स्व-रूप से जो आत्मा है, वही आत्मा पर स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है; इसलिए वह अनात्मा है। आत्मा को 'अनात्मा' कहने से कई लोग उलझन में पड़ जाते हैं, कि अरे— आत्मा कहीं अनात्मा हो सकता है ? परन्तु 'आत्मा पर-रूप नहीं है'—ऐसा कहो या 'पर की अपेक्षा से आत्मा, अनात्मा है'—ऐसा कहो; अथवा तो आत्मा अपने आत्मा की अपेक्षा से आत्मा है और दूसरे आत्मारूप से स्वयं नहीं है; इसलिए दूसरे आत्मा की अपेक्षा से यह आत्मा 'अनात्मा' है।

जो क्षेत्ररूप है, वही अक्षेत्ररूप है; आत्मा अपने असंख्य प्रदेश अपेक्षा से क्षेत्ररूप है, परन्तु पर के क्षेत्र की अपेक्षा से वह अक्षेत्ररूप है। क्षेत्ररूपपना और अक्षेत्ररूपपना— यह दोनों धर्म आत्मा के हैं।

इसी प्रकार, स्वकाल अपेक्षा से जो कालरूप है, वही परकाल अपेक्षा से अकालरूप है। आत्मा अपने स्वकाल से अस्तिरूप है और परकाल से वह नास्तिरूप है। अपनी प्रत्येक समय की पर्याय स्वकाल से होनेरूप है और वही पर्याय, परकाल से नास्तिरूप है।

उसी प्रकार जो भावरूप है, वही अभावरूप है। आत्मा का भाव अपने रूप से है और पर के भाव की अपेक्षा से वह भाव नहीं है अर्थात् अभाव है। स्व अपेक्षा से आत्मा का भाव है और पर अपेक्षा से वह अभावरूप है।

—इस प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव—चारों में अस्ति-नास्ति समझना। आत्मा के स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल या भाव का एक अंश भी पररूप नहीं है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का एक अंश भी आत्मारूप नहीं है;—ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान, पर की एकत्वबुद्धि से छूटकर स्वभाव के आश्रय की ओर ही ढल जाता है, इसलिए मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है।

स्व-पर तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं;—ऐसे स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप को न समझे और वस्तु को पराधीन माने, उसे सच्चा समताभाव नहीं हो सकता। वस्तुस्वरूप को पराधीन माना, उस मान्यता में ही अनन्त विषमभाव विद्यमान हैं। भले ही बाह्य से क्रोधी दिखलायी न दे और मन्द कषाय रखता हो तथापि, वस्तुस्वरूप का जहाँ भान नहीं है, वहाँ समता का अंश भी नहीं होता; आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनादर ही महान विषमभाव है। प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है; मेरा स्वभाव सबको मात्र जानने का है—ऐसी वस्तु की स्वतन्त्रता को जानकर अपने ज्ञानस्वभाव का आदर करना ही सच्चा समभाव है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनन्त धर्मों को स्वतन्त्ररूप से धारण कर रखती है। वस्तु का धर्म पर के कारण नहीं होता। प्रत्येक आत्मा अपने अनन्त धर्मों का आधार है। द्रव्यनय, पर्यायनय, तथा अस्तित्व-नास्तित्व आदि सात नय—इस प्रकार कुल नव नयों से आत्मा का वर्णन किया। अब दसवें विकल्पनय से आत्मा का वर्णन करेंगे। ●●

(10)

विकल्पनय

विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत् सविकल्पम् १० ।

आत्मद्रव्य विकल्पनय से, बालक, कुमार और वृद्ध—ऐसे एक पुरुष की भाँति, सविकल्प है (अर्थात् आत्मा भेदनय से, भेदसहित है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध—ऐसे भेदवाला है।) १०.

यहाँ विकल्प का अर्थ भेद है। जिस प्रकार एक पुरुष में बालक, युवा और वृद्ध—ऐसे भेद पड़ते हैं; उसी प्रकार भेदनय से आत्मा गुण-पर्याय के भेदवाला है। वस्तु में अनन्त गुण हैं, उनमें परस्पर कथञ्चित् भेद है और उनकी क्रमशः होनेवाली पर्यायों में भी परस्पर भेद है। वस्तु में दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि जो भेद हैं, उन्हें विकल्प कहा जाता है। विकल्प का अर्थ राग नहीं परन्तु विकल्प अर्थात् भेद। एक आत्मा ही एक समय में भेदवाला है। विकल्पनय से देखने पर आत्मा अनन्त गुण-पर्यायों के भेदरूप भासित होता है, ऐसा उसका धर्म है। जिस प्रकार पुरुष एक होने पर भी वह बालक, युवा, वृद्ध आदि भिन्न-भिन्न अवस्थारूप से दिखायी देता है; उसी प्रकार आत्मा वस्तुरूप से एक है, तथापि उसमें गुण-पर्याय के भेद होते हैं, वह कहीं उपाधि नहीं है, विकार नहीं है, दोष नहीं है, परन्तु वस्तु का स्वरूप ही है। दृष्टान्त में तो पुरुष की बाल, युवा, वृद्ध अवस्थाएँ एक साथ नहीं किन्तु क्रमशः हैं; बाल्यावस्था के समय युवावस्था नहीं है और युवावस्था के समय वृद्धावस्था नहीं है परन्तु सिद्धान्त में वैसा नहीं है; सिद्धान्त में तो आत्मा में अनन्त धर्म एक साथ ही कथञ्चित् भेदरूप विद्यमान है। एक धर्म पहले और दूसरा धर्म फिर—ऐसा भेद नहीं है, परन्तु दर्शन, वह ज्ञान नहीं; ज्ञान, वह दर्शन नहीं—ऐसे भेद से दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अनन्त धर्म एक साथ हो विद्यमान हैं। एक समय में अनन्त गुण हैं; 'अनन्त गुण'—ऐसा कहते ही कथञ्चित् भेद सिद्ध हो जाता है। यदि एक धर्म को दूसरे धर्म से भेद न हो तो अनन्त धर्म ही न रहें।

आत्मा एक द्रव्य है, तथापि उसके स्वभाव में अनेक प्रकारता है, उसे विकल्पनय जानता है।

द्रव्य एक है और गुण अनन्त हैं; उन गुणों में एक गुण दूसरे गुणोंरूप नहीं होता-ऐसा भेद है।

द्रव्य एक है और प्रदेश असंख्य हैं; उनमें से एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप नहीं है-ऐसा भेद है।

द्रव्य एक और पर्यायें अनन्त; एक-एक गुण की एक-एक पर्याय, इस प्रकार अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें एक समय में हैं। उनमें एक गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्यायरूप नहीं है-ऐसा भेद है। अथवा एक वस्तु की तीनों काल की अनन्त पर्यायें हैं, उनमें से एक समय की पर्याय दूसरे समय की पर्याय से भेदवाली हैं। और

द्रव्य-गुण-पर्याय को भी परस्पर कथञ्चित् भेद है। जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है; गुण है, वह पर्याय नहीं है; 'द्रव्य' और 'गुण' इस प्रकार दोनों के नाम पृथक्; द्रव्य एक और गुण अनन्त—इस प्रकार दोनों की संख्या पृथक्, इत्यादि प्रकार से भेद पड़ते हैं।

—ऐसा आत्मा का भेदधर्म है। विकल्पनय से देखने पर आत्मा भेदवाला ज्ञात होता है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि भेदधर्म के समय ही अभेदधर्म भी साथ ही है। अभेदता को चूककर एकान्त भेदवाला ही माने तो उसे भेदनय नहीं कहा जा सकता, वह तो एकान्त मिथ्यामान्यता है।

सभी आत्मा एकत्रित होकर तो एक-अद्वैत नहीं है, परन्तु एक भिन्न आत्मा भी सर्वथा अद्वैत नहीं है, उसमें भी कथञ्चित् भेद है। यहाँ 'कथञ्चित् भेद' कहा, उसका अर्थ 'पर से कथञ्चित् भेद और पर के साथ कथञ्चित् अभेद'—ऐसा नहीं समझना। पर से तो बिल्कुल भेद ही है—पृथक्त्व ही है, परन्तु यहाँ तो स्वयं अपने में ही कथञ्चित् भेद-अभेदपना है, उसकी यह बात है। यह जो भेद है, वह अशुद्धता नहीं है, दोष नहीं है परन्तु वस्तु का धर्म है; शुद्ध आत्मा में भी ऐसा भेदधर्म है। सिद्ध के आत्मा में से ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि के भेद निकल नहीं जाते, सिद्ध के आत्मा में भी वैसे भेद हैं, उसे विकल्प

कहा जाता है। सिद्ध को रागरूप विकल्प नहीं है परन्तु ऐसा गुणभेदरूप विकल्प है।— ऐसा विकल्पनयवाला साधक जानता है; सिद्ध के कहीं नय नहीं होते।

सिद्धभगवान को सादि-अनन्त सिद्धदशा रहती है, तथापि प्रतिक्षण उनकी पर्याय बदलती रहती है; पहले समय की पर्याय दूसरे समय नहीं रहती—ऐसा भेद है। प्रतिक्षण पर्याय का बदलना, वह कहीं उपाधि नहीं है परन्तु वस्तु का स्वभाव है। सिद्ध को भी प्रति समय नवीन नवीन आनन्दमग्न पर्यायें होती रहती हैं। आत्मा की अपूर्ण पर्याय का नाश होकर पूर्ण पर्याय प्रगट होती है, परन्तु उस पूर्ण पर्याय का नाश होकर पुनः अपूर्ण पर्याय हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता। और पूर्णदशा प्रगट हो जाने के पश्चात् परिणमन रुक जाये—ऐसा भी नहीं है। पूर्ण दशा होने के पश्चात् ज्यों का त्यों पूर्ण दशारूप परिणमन सदैव होता ही रहता है। वहाँ भी गुणभेद और पर्यायभेद रहता है—ऐसा आत्मा का भेदधर्म है। यह धर्म प्रत्येक पदार्थ में अनादि-अनन्त है।

अब भेदधर्म के सन्मुख अभेदधर्म कहते हैं। ●●

(11)
अविकल्पनय

अविकल्पनये-नैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ११।

आत्मद्रव्य अविकल्प से, एक पुरुषमात्र की भाँति, अविकल्प है (अर्थात् अभेदनय से आत्मा अभेद है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध— ऐसे भेदरहित एक पुरुषमात्र है।) ११.

आत्मद्रव्य अविकल्पनय से, एक पुरुषमात्र की भाँति अविकल्प है। जिस प्रकार एक पुरुष बाल–युवा–वृद्ध—ऐसे भेदरहित एक पुरुषमात्र है; उसी प्रकार अभेदनय से आत्मा अभेद है। अनन्त गुण होने पर भी कहीं आत्मा अनन्त नहीं हो जाते, आत्मा तो एक ही है। जिस प्रकार बाल, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओं में रहनेवाला पुरुष तो एक ही है; जो बाल्यावस्था में था, वही युवावस्था में है,—इस प्रकार पुरुषरूप से उसमें भेद नहीं पड़ते, पुरुषरूप से तो वह एक ही है; उसी प्रकार गुण–पर्याय के भेद होने पर भी द्रव्यरूप से तो आत्मा एक अभेद है। अभेदनय से आत्मा को देखें तो उसमें भेद नहीं हैं, ऐसा आत्मा का अभेद धर्म है। यदि वस्तु में भेद न हो तो अनन्त धर्म नहीं हो सकते, और यदि अभेद न हो तो वस्तु की एकता नहीं हो सकती; अथवा तो प्रत्येक गुण स्वयं ही स्वतन्त्र वस्तु सिद्ध होगा। गुण अनन्त होने पर भी उनका धारक गुणी तो एक ही है। शक्तियाँ अनन्त और शक्तिमान एक—इस प्रकार वस्तु में भेद-अभेद धर्म हैं। अभेदनय में तो निगोद से सिद्ध तक सर्व अवस्थाओं में विद्यमान एक अभेद आत्मा ही भासित होता है; निगोद और सिद्ध ऐसी पर्यायों के भेद उसमें भासित नहीं होते। जिस प्रकार बाल–युवा–वृद्धदशा में पुरुष तो पुरुष ही है; उसी प्रकार अशुभ, शुभ या शुद्ध—सर्व अवस्थाओं में आत्मा तो वही का वही है; अवस्था या गुण के भेद किये बिना एक अभेद आत्मा को लक्ष्य में ले, उसका नाम अभेदनय अथवा अविकल्पनय है।

वस्तु में भेदधर्म और अभेदधर्म—दोनों एक समय में एक ही साथ हैं; आत्मा त्रिकाल ऐसे धर्मवाला है; ऐसी अनन्त धर्मवाली वस्तु का ज्ञान, वह अनेकान्त है। ऐसे ज्ञान के बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता।

जिस प्रकार राजा को उसके विशेषणों से सम्बोधन करके अर्ज करे तो उत्तर देता है; उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा तीन लोक का राजा है—तीन लोक का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ, उसे उसके अनन्त धर्मों से जैसा है, उसी प्रकार से सम्बोधन करे-जाने तो वह उत्तर दे, अर्थात् उसका अनुभव हो। अनन्त धर्मोंवाले आत्मा को यथावत् जाने बिना ज्ञान सच्चा नहीं होता, और उस ज्ञान के बिना आत्मा की प्राप्ति-अनुभव नहीं होता। इसलिए जिसे धर्म करना हो, उसे आत्मा के धर्मों द्वारा आत्मा को पहिचानना चाहिए।

११ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया; अब नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ऐसे चार नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन करेंगे। ●●

(12)
नामनय

नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि १२।

आत्मद्रव्य नामनय से, नामवाले की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है (अर्थात् आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म से कहा जाता है, जैसे कि नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है।) १२.

आत्मद्रव्य नामनय से, नामवाले पदार्थ की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है। जिस प्रकार नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है; उसी प्रकार नामनय से आत्मा शब्दब्रह्म से कहा जाता है। जिस प्रकार 'मिश्री' नाम के द्वारा मिश्री पदार्थ कहा जाता है, उसी प्रकार 'आत्मा' नाम के द्वारा आत्मपदार्थ कहा जाता है। शब्द का आत्मा में अभाव है, परन्तु शब्दब्रह्म द्वारा कहा जा सके—वाच्य हो—ऐसा नामनय से आत्मा का स्वभाव है। आत्मा स्वयं शब्द बोल सकता है—ऐसा इसका अर्थ नहीं है परन्तु शब्द बोले जाते हैं, उनसे आत्मा वाच्य हो—ऐसा उसका स्वभाव है; उस अपेक्षा से आत्मा शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है। शब्दब्रह्म स्वयं तो जड़ है, जीव स्वयं कहीं शब्दब्रह्म का कर्ता नहीं है। जीव स्वयं शब्दब्रह्म द्वारा अपने को बतलाता है—ऐसा नहीं समझना चाहिए। शब्दब्रह्म का कर्ता तो जड़ है, परन्तु वाणी के शब्द द्वारा आत्मा वाच्य होता है, इतना सम्बन्ध है, इसलिए आत्मा शब्दब्रह्म को स्पर्श करता है—ऐसा नामनय से कहा गया है। आत्मा को जानता तो ज्ञान है, कहीं वाणी में जानने का सामर्थ्य नहीं है। 'आत्मा'—ऐसा शब्द बोला जाये, वहाँ आत्मा नामक पदार्थ, ज्ञान के लक्ष्य में आता है; इसलिए नामनय से आत्मा उस शब्द को स्पर्श करता है। 'आत्मा'—ऐसा शब्द बोलने की शक्ति कहीं आत्मा में नहीं है; शब्द बोलने की शक्ति तो भाषावर्गणा में है; उस वाणी से वाच्य हो, ऐसा धर्म आत्मा में अनादि-अनन्त है। सिद्धभगवान के आत्मा में भी यह धर्म है। सिद्ध के वाणी नहीं है, परन्तु

'सिद्ध' 'भगवान' 'परमात्मा' ऐसे शब्द से वे कहे जाते हैं, इसलिए नामनय से सिद्ध का आत्मा भी शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है।

'अरिहन्त भगवान के वाणी है, इसलिए उनमें तो यह धर्म होता है, परन्तु सिद्ध भगवान के वाणी नहीं है, इसलिए उनमें यह धर्म नहीं होता'—ऐसा नहीं है। वास्तव में कोई आत्मा वाणीवाला है ही नहीं, परन्तु वाणी से वाच्य हो, ऐसे धर्मवाला है। आत्मा में वाणी का अभाव है, परन्तु वाणी से वाच्य हो, ऐसे धर्म का अभाव नहीं है। वह धर्म तो आत्मा का अपना ही है, कहीं वाणी के कारण वह धर्म नहीं है। 'आत्मा' शब्द है, इसलिए उसके कारण आत्मा का वाणी से वाच्य होने का धर्म है—ऐसा नहीं है। वाणी और आत्मा पृथक् है, आत्मा के वाणी नहीं है परन्तु आत्मा, वाणी से वाच्य होता है। यदि आत्मा शब्दब्रह्म को बिल्कुल स्पर्श न करता हो अर्थात् शब्द से बिल्कुल वाच्य न होता हो तो सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि का उपदेश व्यर्थ जाये! आत्मा सर्वथा वाणी से अगोचर नहीं है; जो जीव, शब्द से आत्मा को समझ जाये, उसे कथञ्चित् वाणीगोचर कहा जाता है। चैतन्यभगवान आत्मा परमब्रह्म है और उसकी द्योतक वाणी शब्दब्रह्म है। उस शब्दब्रह्म को आत्मा स्पर्श करता है अर्थात् उस शब्दब्रह्म से आत्मा का वर्णन होता है।

'सिद्ध भगवन्त अशरीरी, चैतन्यमूर्ति परम सुखी हैं'—ऐसा कहने से सिद्ध का स्वरूप लक्ष्य में आता है; इसलिए सिद्ध में भी कथञ्चित् वचनगोचर होने का धर्म है। यदि सर्वथा वचनातीत हों तो 'सिद्ध भगवन्त अशरीरी चैतन्यमूर्ति, परम सुखी हैं'—इतना भी वचन में नहीं आ सकेगा। आत्मा सर्वथा वचनातीत नहीं है। आत्मा, शब्द को जानता है, उसके वाच्यरूप पदार्थ को भी जानता है और उसका जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान को भी जानता है; इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों को आत्मा जानता है।

वाणी द्वारा आत्मा के अनेक धर्मों का विवेचन करने में क्रम पड़ता है और समय लगता है, परन्तु ज्ञान में समझते हुए देर नहीं लगती। वस्तु में एक साथ अनन्त धर्म हैं, उन सबको क्रम बिना एक समय में जान लेने की ज्ञान की शक्ति है। शब्द का परिणमन होने में असंख्य समय लगते हैं, शब्द में एक समय में कहने की शक्ति नहीं है; 'आत्मा'—इतना कहने में असंख्य समय बीत जाते हैं। वस्तु में अनन्त धर्म एक साथ हैं और उन्हें एक समय

में जानने की ज्ञान की शक्ति है। प्रत्येक आत्मा में ऐसी ज्ञानशक्ति भरी है; उस ज्ञानसामर्थ्य का विश्वास करके समझना चाहे तो सब समझ में आ सकता है। ज्ञानसामर्थ्य का अविश्वास करके 'मेरी समझ में नहीं आयेगा'—ऐसा मान ले तो उसके ज्ञान का पुरुषार्थ कहाँ से उछलेगा ?

जगत में वाणी है और वाणी द्वारा आत्मा का वर्णन हो सकता है;—ऐसे आत्मा के धर्म को जाने, उसका नाम 'नामनय' है। वहाँ ज्ञान के कारण वाणी नहीं है और वाणी के कारण ज्ञान नहीं है; और वाणी है, इसलिए आत्मा में उससे वाच्य होने का धर्म है—ऐसा नहीं है, तथा आत्मा का धर्म है, इसलिए वाणी है—ऐसा भी नहीं है; आत्मा सर्वथा अवक्तव्य नहीं है। 'आत्मा अवक्तव्य है'—ऐसा कहनेवाले ने भी आत्मा के अवक्तव्य धर्म का तो कथन किया या नहीं ?—इसलिए आत्मा वक्तव्य सिद्ध हो गया; तथापि आत्मा को सर्वथा अवक्तव्य कहे तो वह स्ववचनबाधित है। 'आत्मा का स्वभाव अवक्तव्य है'—ऐसा स्वयं कहता है, तथापि आत्मा को सर्वथा अवक्तव्य माने तो वह, 'मेरे मुँह में जीभ नहीं है'—ऐसा कहनेवाले की भाँति झूठा है। आत्मा का स्वभाव नामनय से वाणी से वक्तव्य है और वाणी में वह कहने का धर्म है। कोई भी शब्द हो, वह वाच्य के बिना नहीं होता। यदि पदार्थ में वाच्य होने का स्वभाव न हो तो वाणी बतलायेगी किसे ?—वाणी ने कहा क्या ? 'सत् प्ररूपणा' होती है; अर्थात् जो सत् हो, उसी का प्ररूपण कथन होता है। जो सर्वथा असत् हो, उसका वाचक भी नहीं होता। नाम है, उसका वाच्य भी है; नाम सर्वथा निरर्थक नहीं है। 'भगवान'—ऐसा शब्द, 'भगवान'—ऐसा पदार्थ और 'भगवान'—ऐसा ज्ञान, यह तीनों सत् हैं; 'भगवान' शब्द भगवान पदार्थ को बतलाता है और ज्ञान वैसा जानता है। इस प्रकार शब्दसमय, अर्थसमय और ज्ञानसमय—यह तीनों सत् हैं।

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है; उसे स्वीकार किये बिना ज्ञान प्रमाण नहीं होता और प्रमाण ज्ञान के बिना आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

शब्द से वाच्य हो, ऐसा आत्मा का धर्म है; यह धर्म स्वीकार करने के लिये कहीं शब्द के सामने नहीं देखना पड़ता, परन्तु आत्मा के सन्मुख देखकर इस धर्म की स्वीकृति होती है, क्योंकि धर्म तो आत्मा में विद्यमान है, कहीं शब्द में विद्यमान नहीं है। लक्ष्मीचन्द और ज्ञानचन्द नाम के दो मनुष्य बैठे हों, वहाँ 'लक्ष्मीचन्द' कहने से लक्ष्मीचन्द नाम का

मनुष्य ही आता है, 'लक्ष्मीचन्द' नाम से पहिचाने जाने का धर्म लक्ष्मीचन्द में है , परन्तु ज्ञानचन्द में नहीं है और ज्ञानचन्द शब्द से ज्ञानचन्द पहिचाना जाता है, ऐसा उसका धर्म है। उसी प्रकार 'आत्मा' शब्द कहने से आत्मा चैतन्यमूर्ति वस्तु ध्यान में आती है, परन्तु कहीं 'आत्मा' शब्द कहने से लकड़ी का टुकड़ा ध्यान में नहीं आता।—इस प्रकार नामनय से आत्मद्रव्य शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है।

✦✦✦

आत्मा में यदि नाम से वाच्य होने का धर्म न हो तो वाणी द्वारा उसका उपदेश नहीं दिया जा सकता। 'आत्मा, देह से भिन्न ज्ञानमूर्ति है; आत्मा पर का अकर्ता है'—इस प्रकार वाणी द्वारा उसका कथन हो सकता है और उससे आत्मा वाच्य हो—ऐसा आत्मा का एक धर्म है। जड़ में आत्मा का धर्म नहीं है परन्तु जड़ शब्दों से वाच्य हो—ऐसा उसका धर्म है। वाणी जड़ है और आत्मा चेतन है, इसलिए वाणी से आत्मा किसी प्रकार वाच्य ही न हो—ऐसा नहीं है। यदि वाणी से आत्मा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता हो तो सन्तों द्वारा की गई शास्त्ररचना निरर्थक सिद्ध हो, और अपने को जैसा आत्मा का अनुभव हुआ है, वैसा दूसरे को किसी प्रकार समझाया ही नहीं जा सकता। यद्यपि वाणी तो मात्र निमित्त है परन्तु आत्मा में वैसा धर्म है कि वाणी द्वारा आत्मा वाच्य हो।

देखो, यहाँ नामनय से आत्मा वाणी से वाच्य है—ऐसा कहा, और 'अपूर्व अवसर' में श्रीमद् कहते हैं कि:—

'जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो...
तेह स्वरूपने अन्य वाणी तो शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।'

—वहाँ तो वाणी के लक्ष्य में ही रुका रहे तो आत्मा समझ में नहीं आता—ऐसा बतलाने के लिये कहा है। वाणी का अवलम्बन छुड़ाकर आत्मा के स्वभाव का अनुभव करने के लिये वह कथन है। सर्वज्ञ की वाणी में भी आत्मा पूरा नहीं कहा जा सका; इसलिये तू वाणी का लक्ष्य छोड़कर आत्मा की ओर उन्मुख हो—ऐसा बतलाने के लिये वह कथन है।

यहाँ भी धर्म को जानकर आत्मा की ओर उन्मुख होने का ही तात्पर्य है। 'वाणी से वाच्य हो -ऐसा धर्म है'—ऐसा कहकर वाणी के सन्मुख देखने को नहीं कहा, परन्तु वाणी से वाच्य होनेरूप धर्म को अपने आत्मा में ढूँढ़, अपने आत्मा के सन्मुख होकर इस धर्म की प्रतीति कर। शब्द के सन्मुख देखने से इस धर्म की प्रतीति नहीं होती।

जो जीव कथन का आशय न समझे, वस्तुस्वरूप क्या है, उसे लक्ष्य में न ले और मात्र शब्दों की उलझन में पड़ जाये, उसे शास्त्र में 'शब्दम्लेच्छ' कहा है। चैतन्यब्रह्म आत्मा को समझे तो निमित्तरूप वाणी को शब्दब्रह्म कहा जाता है। वाणी में चैतन्य का कथन करने की शक्ति है, इसलिए वह शब्दब्रह्म है,—परन्तु किसे ?—जो समझे उसे। जो वाणी का आशय न समझे, उसे तो वाणी निमित्तरूप से भी आत्मा को बतलानेवाली नहीं होती। जो आत्मा को समझे, उसके लिये शब्दब्रह्म निमित्त है। जो आत्मा को न समझे और शब्द में रुका रहे, वह तो 'शब्दम्लेच्छ' है। अपनी योग्यता न हो तो वाणी क्या करे ? स्वयं अन्तरस्वभावसन्मुख होकर समझे तो उसके लिये वाणी 'शब्दब्रह्म' कही जाती है, और जो स्वयं न समझे तथा वाणी के लक्ष में ही रुका रहे, उसे शब्दम्लेच्छ कहा जाता है। वाणी के लक्ष से पुण्यबन्ध होगा, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप धर्म नहीं होगा।

देखो, यह नयों का कथन है। जो नय सापेक्ष हो अर्थात् अन्य अनन्त धर्मों की अपेक्षासहित हो, वही नय सम्यक् है। दूसरे अनन्त धर्मों का सर्वथा निषेध करके एक धर्म को माने तो वह मिथ्यानय है। नामनय से आत्मा, वाणी से वाच्य है—ऐसा कहने से मात्र वाणी को ही पकड़ ले तो उसने अनन्त-धर्मवाले आत्मा को नहीं जाना है। और उसे एक धर्म का भी ज्ञान सच्चा नहीं है। नामनय का तात्पर्य वाणी का आश्रय करना नहीं है परन्तु अनन्त धर्मवाले आत्मा की ओर उन्मुख होना ही उसका तात्पर्य है।

जैनशासन के अतिरिक्त अन्यमतों में आत्मा को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक, सर्वथा शुद्ध या सर्वथा अशुद्ध मानते हैं; उनके नय नहीं कहा जा सकता। एक-एक नय अपेक्षा से भी वे सच्चे नहीं है, क्योंकि वे तो दूसरे पक्षों का बिलकुल निषेध करते हैं, इसलिए उन्होंने तो पूरी वस्तु को ही नहीं जाना है, इसलिए उनका एक अंश भी सच्चा नहीं है। जैनशासन तो अनन्त धर्मात्मक सर्वांग-पूर्ण वस्तु के स्वीकारपूर्वक उसके एक-एक

अंग को (धर्म को) जानता है; इसलिए वह सम्यक् नय है। अंश किसका है? उस वस्तु के भान बिना अंश को अंशरूप से भी जाना नहीं कहलाता। मिथ्यादृष्टियों के एकान्त मत में तो सर्वांगी वस्तु को जाने बिना मात्र उसके एक-एक अंश को पकड़कर उतना ही वस्तुस्वरूप मान लिया है, इसलिए उनके अंश का ज्ञान भी सच्चा नहीं है और वस्तु का भी ज्ञान नहीं है।

हे भाई! शब्द से वाच्य होनेरूप धर्म तो आत्मा का है और उस धर्म के साथ दूसरे अनन्त धर्म भी आत्मा में विद्यमान हैं, इसलिए तू शब्द की ओर मत देख, एक धर्म के सन्मुख मत देख, परन्तु अनन्त धर्म के पिण्ड आत्मा की ओर देख। वाणी से लक्ष्य उठाकर अपने धर्म को अपने आत्मा में देख। वाणी की ओर न देखकर उसके वाच्य को देख। वाणी से वाच्य हो—ऐसा धर्म तुझ में ही है, तेरा धर्म कहीं वाणी में नहीं है।

शब्द है, इसलिए आत्मा वाच्य होता है—ऐसा नहीं है; और आत्मा में वाच्य होने का धर्म है; इसलिए वाणी उसे कहती है—ऐसा नहीं है; आत्मा के धर्म को और वाणी को कारण-कार्यपना नहीं है। वाच्य होनेरूप धर्म आत्मा का है, और वाचक होनेरूप धर्म वाणी का है। दोनों स्वतन्त्र हैं।

नाम, स्थापना, द्रव्य ओर भाव—ऐसे जो चार नय हैं, वह तो ज्ञान हैं, उनके विषयभूत जो चार धर्म हैं, वह निक्षेप है और शब्द तो जड़ हैं। नय, वह ज्ञान है; निक्षेप, वह वस्तु का धर्म है और वाणी जड़ है।—इस प्रकार ज्ञान, पदार्थ और वाणी ऐसे तीन प्रकार हुए।

नय, प्रमाणपूर्वक ही होते हैं। पूर्ण वस्तु के ज्ञानपूर्वक उसके एक अंश को जाने, उसे नय कहते हैं। परन्तु पूर्ण वस्तु के ज्ञान बिना उसके एक अंश को ही पूर्ण स्वरूप मान ले तो उसने अंश को भी अंशरूप से नहीं जाना, इसलिए उसका अंश का ज्ञान भी मिथ्या है। जैसे, कोई मनुष्य पाई को ही पूरा रुपया मान ले तो उसका पाई का ज्ञान भी मिथ्या है।

प्रश्न—पाई रुपये का १९२ वाँ भाग है, इसलिए उतने अंश में तो वह सच्चा है न?

उत्तर—नहीं; उसने तो पाई को ही रुपया माना है, इसलिए उसका अंश भी सच्चा नहीं है। पाई, रुपया नहीं है परन्तु रुपये का एक अंश है—ऐसा जाने तो उसका अंश सच्चा

कहलाता है। उसी प्रकार कोई जीव, वस्तु को एकान्त नित्य माने तो उसका नित्य-अंश भी सच्चा नहीं है, क्योंकि उसने तो नित्य अंश को ही वस्तु मान लिया, इसलिए उसके अंश, अंशरूप नहीं रहा और वस्तु भी न रही; वस्तु अनन्त धर्मवाली है और नित्यपना भी उसका एक धर्म है—ऐसा जाने, तभी नित्य अंश सच्चा कहलाता है और उसी के नय होते हैं।

प्रश्न—नयज्ञान स्व-परप्रकाशक है या नहीं ?

उत्तर—हाँ; नयज्ञान भी स्व-परप्रकाशक है, क्योंकि नय, प्रमाण का अंश है; इसलिए, जिस प्रकार प्रमाण स्व-परप्रकाशक है, उसी प्रकार नय भी स्व-परप्रकाशक है।

प्रश्न—नय स्व-परप्रकाशक किस प्रकार है ?

उत्तर—नय आत्मा के धर्म को भी जानता है और स्वयं अपने को (नय को) भी जानता है। नय अपने विषयरूप धर्म को जानता है और 'मुझे इस धर्म का ज्ञान हुआ'—इस प्रकार ज्ञान को-अपने को भी जानता है; इसलिए नय स्व-परप्रकाशक है। यहाँ नयज्ञान स्वयं स्व और उसमें जो धर्म ज्ञात होता है, वह पर—इस प्रकार स्व-पर का अर्थ है। इस प्रकार नयज्ञान भी स्व-परप्रकाशक सामर्थ्यवाला है। वाणी में स्व या पर को जानने का सामर्थ्य नहीं है। वाणी द्वारा कहे जानेवाले धर्म को ढूँढ़ना कहाँ ?—आत्मा में; इसलिए प्रत्येक नय का उपयोग स्वोन्मुख होता है।

यह नय उलझन खड़ी करनेवाले रस्से नहीं हैं, परन्तु वस्तु के धर्मों का ज्ञान कराकर वस्तुस्वरूप स्पष्ट करनेवाले हैं। नयों की विवक्षा समझने में ज्ञान की सूक्ष्मता और विशालता है। जो न समझे, उसे उलझन और क्लिष्टता मालूम होती है। इसे समझने में प्रमाद न लाकर रुचिपूर्वक समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

जिस प्रकार एक पूरे थान में से बीच का एक डोरा निकाल दिया जाये तो वह थान पूरा नहीं रहा, किन्तु उसके टुकड़े हो गये। उसी प्रकार आत्मा अनन्त धर्म का पिण्ड है, उसके अनन्त धर्मों में से यदि एक भी धर्म को निकाल दें (-न मानें) तो आत्मद्रव्य पूर्ण नहीं रहा किन्तु खण्डित हो गया, अर्थात् उसकी श्रद्धा में पूर्ण आत्मा नहीं आया; इसलिए उसकी श्रद्धा ही मिथ्या हुई।

छद्मस्थ के ज्ञान में अनन्त धर्म भिन्न-भिन्न ज्ञात नहीं होते; साधक जीव अपने ज्ञान की शक्ति अनुसार प्रयोजनभूत धर्मों को तो पहिचानता है और शेष अनन्त धर्म सर्वज्ञ भगवान के कथनानुसार हैं-ऐसी प्रतीति करता है। यदि अनन्त धर्मों की प्रतीति भी न करे और प्रयोजनभूत धर्मों को बिल्कुल न जाने तो श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं हो सकते।

यहाँ आचार्यदेव ने प्रथम तो आत्मा को अनन्त धर्मवाला बतलाया है और पश्चात् उसके ४७ धर्मों का ४७ नयों से वर्णन किया है। उसमें बारह धर्मों का विवेचन पूरा हुआ। अब तेरहवाँ धर्म कहा जायेगा। ●●

(13)

स्थापनानय

स्थापनानयेन मूर्तित्ववत् सकलपुद्गलालम्बि १३।

आत्मद्रव्य स्थापनानय से, मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है (अर्थात् स्थापनानय से आत्मद्रव्य की पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है, मूर्ति की भाँति) १३.

आत्मद्रव्य स्थापनानय से, मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है। जिस प्रकार मूर्ति में भगवान की स्थापना होती है, उसी प्रकार पुद्गलों में भी आत्मद्रव्य की स्थापना की जा सकती है। जिस प्रकार सीमन्धर भगवान की प्रतिमा पुद्गल है, उस में कहीं सीमन्धर भगवान का आत्मा नहीं है; सीमन्धर भगवान का आत्मा तो इस समय महाविदेहक्षेत्र में अरिहन्त पद पर समवसरण में विराजमान है; वह आत्मा कहीं इस प्रतिमा में नहीं आता, किन्तु प्रतिमा में 'यह सीमन्धर भगवान है'—ऐसी स्थापना द्वारा सीमन्धर भगवान का आत्मा ख्याल में आता है। सीमन्धर भगवान के आत्मा में उस प्रकार का धर्म है, उसे स्थापनानय जानता है। यदि भगवान के आत्मा में वैसा धर्म न हो तो मूर्ति में स्थापना द्वारा उनका आत्मा ख्याल में नहीं आ सकता। इसलिए आत्मा सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है—ऐसा स्थापनानय से समझना।

मूर्ति, चित्र आदि पुद्गलों में आत्मा की स्थापना करने से आत्मा ज्ञात हो, वैसा आत्मा का धर्म है। आत्मा, पुद्गल का अवलम्बन करनेवाला है—ऐसा यहाँ कहा है; उसका अर्थ यह है कि पुद्गल के साथ आत्मा को इस प्रकार का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि पुद्गल में उसकी स्थापना की जा सकती है। मूर्तिक होने पर भी उसमें स्थापना द्वारा अमूर्तिक आत्मा का लक्ष्य होता है—ऐसा आत्मा का एक धर्म है। यह धर्म सिद्धों में भी है। सिद्ध के आत्मा की भी मूर्ति, चित्र आदि में स्थापना हो सकती है। यहाँ

जिनमन्दिर में सिद्ध भगवान की प्रतिमा है; उस प्रतिमा की आकृति में सिद्ध भगवान की स्थापना है कि—'यह सिद्ध भगवान हैं।'—इस प्रकार स्थापनानय से आत्मा, पुद्‌गल का अवलम्बन करता है—ऐसा कहा जाता है। देखो! इस पौद्‌गलिक चित्र में स्थापना द्वारा 'यह जीव है'—ऐसा बतलाया जा सकता है; इस प्रकार पुद्‌गल में जीव की स्थापना हो सकती है और जीव में उस प्रकार का धर्म है।

यहाँ तो ऐसा कहा है कि आत्मद्रव्य सर्व पुद्‌गलों का अवलम्बन करनेवाला है; अर्थात् मात्र मूर्ति में ही उसकी स्थापना हो सकती है और अन्य किसी वस्तु में नहीं हो सकती—ऐसा नहीं है; फूल, लौंग, लकड़ी की गोट आदि चाहे जिस पुद्‌गल में स्थापना करके आत्मा समझाया जा सकता है। शतरंज की गोटों में 'यह राजा, यह हाथी, यह प्यादा' इत्यादि प्रकार से स्थापना की जाती है; तदनुसार किसी भी पुद्‌गल में 'यह आत्मा है'—ऐसी स्थापना हो सकती है। आत्मा में उस प्रकार का धर्म है।

जड़-पुद्‌गल में आत्मा की स्थापना की जा सकती है, इसका अर्थ यह नहीं समझना कि उस जड़ के द्वारा आत्मा समझ में आता है। समझनेवाला तो अपने ज्ञान की शक्ति से ही समझता है, परन्तु उसे निमित्तरूप से कभी शब्द होते हैं और कभी स्थापना भी होती है। समझनेवाले को स्थापनानय से आत्मा इस प्रकार के धर्मवाला ज्ञात होता है।

देखो, यह आत्मा की महिमा! प्रत्येक आत्मा अनन्त धर्मों का स्वामी है। अपने धर्म का जिसे भान नहीं है, वह बाह्य में धर्म ढूँढ़ने जाता है। अपने आत्मा में ही ऐसे-ऐसे अनन्त धर्म भरे है—यह बात अनेक जीवों ने तो सुनी भी नहीं होगी।

पुद्‌गल में आत्मा की स्थापना हुई, वहाँ अज्ञानी को उस पुद्‌गल की महिमा भासित होती है; मानों पुद्‌गल में से उसका धर्म आता हो! किन्तु भाई! पुद्‌गल में जिसकी स्थापना हुई, उसके धर्म को तो देख! यदि पुद्‌गल में स्थापना होने जैसा धर्म आत्मा में न हो तो उसकी स्थापना ही कहाँ से होगी? इसलिए आत्मा के उस धर्म को देख! और ऐसे अनन्त धर्म जिसमें एक साथ विद्यमान हैं—ऐसे अपने आत्मा की महिमा प्रगट कर! अनन्त धर्मों का पिण्ड आत्मा जितना है, उसे उतना ही जानकर ज्ञान में उसका माहात्म्य आने से ज्ञान सम्यक् होता है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के बिना कभी सच्ची शान्ति नहीं होती।

अनादि काल से आत्मा को कभी यथावत् नहीं जाना है। जब तक आत्मा का सच्चा ज्ञान न हो, तब तक उसकी महिमा और उसमें एकाग्रता कैसे होगी? और आत्मा में एकाग्रता के बिना भव का अन्त नहीं आ सकता। जिसे चैतन्य का भान नहीं है, वह पर की महिमा करके पर में एकाग्र होता है, इसलिए भवभ्रमण होता है। चैतन्यवस्तु को यथावत् समझकर उसकी महिमा में एकाग्र हो तो कल्याण प्रगट हो। शिष्य को अपने कल्याण की जिज्ञासा हुई है; इसलिए प्रश्न किया है कि—प्रभो! यह आत्मा कैसा है? उस जिज्ञासु शिष्य को समझाने के लिये आचार्यदेव ने आत्मा का विशेष वर्णन किया है।

भगवान आत्मा को प्रसन्न करने के लिये उसे पहिचानकर उसकी महिमा करना चाहिए। यदि आत्मा की अपेक्षा जगत के अन्य किसी भी पदार्थ की महिमा या रुचि बढ़ जाए तो भगवान आत्मा प्रसन्न नहीं हो सकता। जैसे—किसी राजा को प्रार्थना-पत्र लिखना हो तो 'श्रीमान्, माननीय, महाराजाधिराज' आदि विशेषण लगाना पड़ते हैं और टिकिट भी लगाना पड़ती है; उसी प्रकार यहाँ भगवान आत्मा चैतन्यराजा है, उससे प्रार्थना करने के लिये—अर्थात् उसका अनुभव करने के लिये—उसके अनन्त धर्मोरूपी विशेषणों से पहिचानकर उसकी रुचि करे, तभी वह उत्तर देता है; यदि एक भी धर्म कम माने तो भगवान आत्मा उत्तर नहीं देता अर्थात् उसका अनुभव नहीं होता।

आत्मा अपने अनन्त धर्मों का स्वामी है, किन्तु परवस्तु के किसी धर्म का स्वामी आत्मा नहीं है; और न आत्मा के धर्म का कोई अन्य स्वामी है। आत्मा की सम्पत्ति कितनी?—उसके अपने अनन्त धर्म हैं उतनी। अपने अनन्त धर्मों में आत्मा व्याप्त हो रहा है; पर में वह नहीं है और न पर उसमें है। इस प्रकार आत्मा के भिन्न धर्मों द्वारा आत्मा को पहिचानकर श्रद्धा करे तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो; तत्पश्चात् ही आत्मा में एकाग्रतारूप सम्यक्चारित्र होता है। इसलिए आत्मा को पहिचानने के लिये यहाँ उसके धर्मों का वर्णन चल रहा है।

बारहवें धर्म में ऐसा कहा है कि नामनय से आत्मा शब्दब्रह्म से वाच्य होने योग्य है। परमब्रह्म का पूर्ण स्वरूप कहनेवाली दिव्यवाणी है, वह शब्दब्रह्म है। उस वाणी में सबकुछ आता है। आत्मा में ऐसा धर्म है कि सम्पूर्ण आत्मा शब्दब्रह्म द्वारा कहा जा सकता है। उसे

पूर्ण कहनेवाली तीर्थंकर देवाधिदेव की ॐध्वनि है, वह शब्दब्रह्म है। नामनय से देखने पर आत्मा दिव्यध्वनि को स्पर्श करनेवाला है अर्थात् दिव्यध्वनि से उसका स्वरूप वाच्य होता है—ऐसा उसका धर्म है।

पश्चात्, स्थापनानय से ऐसा कहा है कि आत्मा सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है; अर्थात् जब-जब जिन-जिन पुद्गलों में आत्मा की स्थापना की जाए, उस समय उन-उन पुद्गलों से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा उसका धर्म है।

नामनय से ज्ञात होता है—वह धर्म पृथक् है और स्थापनानय से ज्ञात होता है—वह धर्म पृथक् है; और उन दोनों धर्मों को जाननेवाले दो नय—नामनय और स्थापनानय भी भिन्न-भिन्न हैं।

—इस प्रकार अभी तक तेरह नयों से आत्मा का वर्णन किया; अब चौदहवें द्रव्यनय से आत्मा कैसा है, वह कहते हैं। उसमें बहुत सरस बात आयेगी। ●●

(14)
द्रव्यनय

द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि १४।

आत्मद्रव्य द्रव्यनय से बालक सेठ की भाँति और श्रमण राजा की भाँति, अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से भावी और भूतपर्यायरूप से ख्याल में आता है, जैसे कि बालक, सेठपने स्वरूप भावीपर्यायरूप से ख्याल में आता है और मुनि, राजास्वरूप भूतपर्यायरूप से ख्याल में आता है।) १४.

आत्मद्रव्य अनन्त धर्मस्वरूप है; उसे द्रव्यनय से देखने पर वह बालक सेठ की भाँति और श्रमण राजा की भाँति प्रतिभासित होता है। जिस प्रकार कोई बालक भविष्य में सेठ होनेवाला हो तो 'यह सेठ है'—इस प्रकार वह भावी पर्यायरूप से ख्याल में आता है, तथा कोई जीव पहले राजा हो और फिर मुनि हो गया हो तो 'यह राजा है'—इस प्रकार भूतकाल की पर्यायरूप से वह ख्याल में आता है। उसी प्रकार द्रव्यनय से जीवद्रव्य अपनी भावी और भूतकाल की पर्यायोंरूप से ख्याल में आता है—ऐसा उसका धर्म है।

आत्मा वर्तमान पर्यायरूप से ही ज्ञात होता है और भूत-भविष्य की पर्यायरूप से इस समय ज्ञात नहीं हो सकता—ऐसा नहीं है; द्रव्य अपनी भूत-भविष्य की पर्यायोंरूप से भी वर्तमान में ज्ञात होता है—ऐसा उसका धर्म है और ज्ञान का भी त्रिकाल को जान लेने का स्वभाव है। 'भविष्य की पर्याय जब होती है, तब उसे जानता है, इस समय नहीं जानता'—ऐसा जो मानता है, उसे सर्व ज्ञानी या वस्तु के स्वभाव की खबर नहीं है। किसी आत्मा को भविष्य में सिद्ध-पर्याय होना हो, वहाँ 'यह आत्मा सिद्ध है'—इस प्रकार भावी पर्यायरूप से वर्तमान में द्रव्य ज्ञात होता है। भूत-भविष्य की पर्यायोंरूप से वर्तमान में ज्ञात हो—ऐसा द्रव्य का धर्म है और उस धर्म को जाननेवाले श्रुतज्ञान को द्रव्यनय कहते हैं।

प्रथम द्रव्यनय कहा था और यह चौदहवाँ द्रव्यनय कहा है; इन दोनों के विषय में अन्तर है। पहले जो द्रव्यनय कहा, उसका विषय तो सामान्य चैतन्यमात्र द्रव्य है और इस द्रव्य का विषय तो भूत-भविष्य पर्यायवाला द्रव्य है, इसलिए यहाँ पर्याय की बात है।

द्रव्य की जो-जो पर्यायें भूतकाल में हुई और जो-जो भविष्य में होना हैं, उन-उन पर्यायोंरूप से द्रव्य वर्तमान में ज्ञात हो—ऐसा उसका स्वभाव है। जिस द्रव्य में जिस-जिस प्रकार की भविष्य की पर्याय होना है, उस-उस प्रकार का धर्म उस द्रव्य में त्रिकाल विद्यमान है। भविष्य की पर्यायें तो उनके अपने काल में होंगी, परन्तु जो पर्यायें होना हैं, वैसा धर्म तो वास्तव में अनादि-अनन्त है ही। समस्त द्रव्यों में अपनी-अपनी त्रिकाली पर्यायें होने का धर्म विद्यमान है। भविष्य में कोई आत्मा सिद्ध होनेवाला हो और इस समय वह निगोद में पड़ा हो, उस निगोद के आत्मा में भी सिद्धपर्याय होने का धर्म तो वर्तमान में पड़ा है। वर्तमान में उसे सिद्ध पर्याय प्रगट नहीं है किन्तु भविष्य में जो सिद्ध पर्याय होना है, वह पर्याय होने का धर्म तो उसमें वर्तमान भी विद्यमान है।

श्री ऋषभदेव, महावीर इत्यादि भगवन्तों के आत्मा को अभी तो सिद्धदशा वर्तती है; उन सिद्ध जीवों को पूर्व में तीर्थंकरत्व पर्याय थी; द्रव्यनय से उनका आत्मा अभी भूतकाल की तीर्थंकर पर्यायरूप से पहिचाना जाता है। ऋषभादि चौबीस भगवन्त अभी कहीं तीर्थंकररूप से नहीं विचरते हैं, अभी तो वे सिद्धदशा में विराजमान हैं, तथापि वर्तमान में उन्हें तीर्थंकररूप से लक्ष्य में लेकर उनकी स्तुति-पूजा करना, वह द्रव्यनय है और भूतकाल की तीर्थंकरादि पर्यायरूप से अभी लक्ष्य में आते हैं, ऐसा उस द्रव्य का धर्म है। इसी प्रकार भविष्य काल की पर्यायरूप से भी लक्ष्य में आवे, ऐसा द्रव्य का धर्म है। जैसे कि श्रेणिक राजा का आत्मा अभी तो नरक में है, वह भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं। 'यह तीर्थंकर हैं' ऐसे भविष्य की तीर्थंकरपर्यायरूप से उन्हें अभी लक्ष्य में लेना, वह द्रव्यनय है; वहाँ भविष्य की तीर्थंकरपर्यायरूप से अभी लक्ष्य में आते हैं, ऐसा उस आत्मा में धर्म है। वर्तमान में तो नरकपर्याय होने पर भी, भूतकाल की श्रेणिकपर्यायरूप से तथा भविष्य काल की तीर्थंकरपर्यायरूप से वह आत्मा ख्याल में आता है, ऐसा उसका एक धर्म है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान पहले मुनिदशा में थे, अभी उनका आत्मा स्वर्ग में है; पूर्व

की मुनिदशारूप से उनके आत्मा को अभी लक्ष्य में लेना, वह द्रव्यनय है। यह भूतकाल की पर्याय की बात की, उसी प्रकार भविष्य की पर्याय का भी समझना चाहिए। द्रव्य में तीनों काल की पर्यायें निश्चित हैं; यदि द्रव्य की तीनों काल की पर्यायें निश्चित न हो तो भूत-भविष्य पर्यायोंरूप से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। द्रव्य की तीनों काल की पर्यायें निश्चित हैं, ऐसा निर्णय किया, उसमें पुरुषार्थ उड़ नहीं जाता परन्तु उसमें तो द्रव्य-सन्मुखता होकर मोक्षमार्ग का अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट हो जाता है क्योंकि भविष्य की पर्याय होने का धर्म तो द्रव्य का है; इसलिए भविष्य की पर्याय का निर्णय करने से द्रव्य की सन्मुखता होकर द्रव्य का ही निर्णय हो जाता है। इसलिए उसमें द्रव्यदृष्टि का पुरुषार्थ आ जाता है। द्रव्य-सन्मुख झुकाव होकर द्रव्य-पर्याय की एकता हुई, वही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है, उससे दूसरा कोई पुरुषार्थ नहीं है।

जिस द्रव्य में चक्रवर्तीपना, तीर्थंकरपना, सिद्धपना इत्यादि पर्यायें होती हैं, उस द्रव्य में वैसा स्वभाव अनादि से ही है। तीर्थंकर होनेवाले अमुक आत्माएँ ही होते हैं और उन्हें ही तीर्थंकरनामकर्म बँधता है, इसके अतिरिक्त दूसरे सामान्य जीव सोलहकारण-भावना भाकर तीर्थंकरनामकर्म बाँधना चाहे तो ऐसे कहीं तीर्थंकरनामकर्म नहीं बँधता। तीर्थंकर होनेवाले विशिष्ट आत्मा में ही तीर्थंकरपर्याय होने का अनादि स्वभाव होता है। उसी प्रकार चक्रवर्तीपना, गणधरपना, बलदेवपना, वासुदेवपना इत्यादि पर्यायें होने का भी उस-उस प्रकार के विशिष्ट आत्मा में अनादि से सिद्ध हुआ है, ऐसा उस-उस द्रव्य का अनादि स्वभाव है। वह तीर्थंकरपना इत्यादि पर्यायें जब प्रगट होती हैं, तब तो वह भावनय का विषय और वह पर्याय प्रगट होने से पहले अथवा तो प्रगट हो जाने के बाद उस पर्यायरूप से द्रव्य को जानना, इसका नाम द्रव्यनय है। कोई जीव भूतकाल में तीर्थंकर हो गये, और कोई जीव भविष्य में तीर्थंकर होंगे, वे वर्तमान में 'यह जीव तीर्थंकर है' ऐसे भूत-भावि पर्यायरूप से लक्ष्य में आते हैं, ऐसा द्रव्य का धर्म है; और उस धर्म द्वारा आत्मा को लक्ष्य में लेनेवाले ज्ञान को द्रव्यनय कहा जाता है।

सब जीवों की पर्यायें समान नहीं होती, अलग-अलग होती है; ऐसी पर्याय होने का द्रव्य का स्वभाव अनादि से निश्चित हो गया है। द्रव्य की पर्याय का अनादि सन्तति प्रवाह निश्चित हो गया है; उसमें कोई आड़ा-टेढ़ा या फेरफार नहीं होता। कोई जीव

बलदेव हो, कोई चक्रवर्ती हो, कोई तीर्थंकर हो, कोई एक ही भव में चक्रवर्ती और तीर्थंकर दोनों पदवी प्राप्त करे, कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष प्राप्त करे—यह इत्यादि पर्यायों की योग्यता उस-उस द्रव्य के स्वभाव में अनादि से ही है। पर्याय अपेक्षा से वह पर्याय नयी प्रगट होती दिखती है परन्तु द्रव्य के स्वभाव में तो अनादि से ही वह पर्याय होना निश्चित हो गया है, ऐसा द्रव्य का स्वरूप जो निश्चित करे, उसे पर्यायबुद्धि छूटकर द्रव्य की प्रतीति हो गयी, वह साधक हो गया, अब द्रव्य के आश्रय से उसे अल्प काल में सिद्धपर्याय प्रगट हो जाएगी अर्थात् द्रव्यनय से तो वह वर्तमान में सिद्ध हो गया। इस प्रकार साधक जीव इस नय द्वारा स्वयं अपने आत्मा को देखता है—ऐसी यहाँ बात है; अज्ञानी को तो नय होते नहीं।

कोई जीव भविष्य में भगवान होनेवाला है, परन्तु वर्तमान में अज्ञानी है तो उस अज्ञानभाव के समय भी भविष्य में सिद्ध होने का उसके द्रव्य का स्वभाव है, परन्तु उसे स्वयं तो उसकी खबर नहीं है; दूसरा ज्ञानी अपने ज्ञान की निर्मलता से उसे जान लेता है। वर्तमान अज्ञानदशा में होने पर भी भविष्य में भगवान होने का उसी आत्मद्रव्य का धर्म उसमें वर्तमान में पड़ा है—ऐसा जो जानता है, उसे पर्यायबुद्धि से राग-द्वेष नहीं होते और अपने में वर्तमान अज्ञानदशा नहीं रहती। वर्तमान पर्याय में अज्ञानीपना और फिर उसी क्षण में उसमें भविष्य में सिद्धपर्याय होने का धर्म!—उस धर्म को किसके सन्मुख देखकर निश्चित करेगा? वर्तमान में अज्ञानी-पर्याय है, उसके सामने देखकर कहीं भविष्य की सिद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता। सिद्धपर्याय होने की ताकत तो द्रव्य के स्वभाव में भरी है, इसलिए अपने में द्रव्यस्वभाव का निर्णय हुए बिना 'यह जीव भविष्य में सिद्ध होनेवाला है' ऐसे सामनेवाले जीव के धर्म का निर्णय नहीं हो सकता। इस प्रकार भविष्य की पर्यायरूप से ज्ञात हो, ऐसा द्रव्य का स्वभाव है, उसे जो जाने, वह स्वयं तो वर्तमान में साधक हो जाता है। वस्तु में जो पर्यायें होती हैं, वे पर्याय होने का स्वभाव तो उसमें अनादि से है, इसलिए वस्तु में प्राप्त की ही प्राप्ति है। द्रव्य का स्वभाव ही अनादि-अनन्त पर्यायों से व्यवस्थित है।

आत्मा में भूतकाल में जो पर्यायें हुईं या भविष्यकाल में जो पर्यायें होंगी, उन-उन पद का पदवीधर आत्मा स्वयं है; जीवद्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है कि द्रव्यनय से वह

भूत-भाविपर्यायोंरूप से ज्ञात होता है। जिस जीव को भविष्य में जो पर्याय होनेवाली ही नहीं है, वह भूतकाल में भी हुई नहीं, उसमें उस प्रकार की पर्याय होने का धर्म ही अनादि-अनन्त नहीं है; और जिस जीव को भविष्य में जिस प्रकार की पर्याय होनी है, उसमें उस प्रकार की पर्याय होने का धर्म अनादि से ही रहा हुआ है। द्रव्यनय से जिस द्रव्य में जो पदवी स्थित है, वह पलटती नहीं और जो पदवी न हो, वह कभी होती नहीं। इसमें क्रमबद्धपर्याय का महासिद्धान्त भी समाहित हो जाता है।

अहो! भावि पर्यायरूप से वर्तमान में लक्षित हो, ऐसा भी द्रव्य का धर्म है; अनादि अनन्त काल के समयों में जैसी-जैसी पर्यायें हैं, वैसा द्रव्य का अनादिस्वभाव ही है; इसलिए 'मैं ऐसी पर्यायरूप होऊँ'—ऐसी पर्याय की माँग (पर्याय की भावना) ही यथार्थ नहीं है परन्तु पर्याय होने का धर्म द्रव्य में है—ऐसे द्रव्य को लक्ष्य में लेकर उसकी भावना में एकाग्र होने पर ज्ञान निर्विकल्प होता है और निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है। ज्ञानी की दृष्टि में द्रव्य की ही भावना है, उसे पर्याय की बुद्धि नहीं है। इसलिए ऐसी पर्याय को टालूँ और ऐसी पर्याय को प्रगट करूँ—ऐसा पर्यायबुद्धि का विषमभाव या खदबदाहट उसे नहीं होता।

ज्ञानी मोक्ष की भावना भाता है—ऐसा कभी व्यवहारनय से कहा जाता है परन्तु वास्तव में तो ज्ञानी की दृष्टि में अखण्ड द्रव्य की ही भावना है। भविष्य की मोक्षपर्याय होने का धर्म द्रव्य में पड़ा है, इसलिए उस द्रव्य की भावना में मोक्षपर्याय खिल जाती है।

'ज्ञानी को बन्ध-मोक्ष के प्रति समभाव है'—इसका आशय ऐसा है कि ज्ञानी को अखण्ड द्रव्य की भावना में 'बन्ध टालूँ और मोक्ष करूँ' ऐसा पर्यायबुद्धि का विकल्प नहीं है। इस प्रकार द्रव्य की भावना में ही मोक्ष का वीतरागी पुरुषार्थ आ जाता है परन्तु पर्याय की भावना में तो राग की उत्पत्ति होती है।

तीन काल की पर्यायरूप से द्रव्य ज्ञात होता है—ऐसा द्रव्यस्वभाव जिसने निर्णय किया, उसे पर्याय की भावना नहीं रहती, परन्तु स्वभावबुद्धि से ही उसका परिणमन होता है, इसलिए क्षण-क्षण में उसकी पर्याय निर्मल होती जाती है; अमुक पर्याय को बदलकर अमुक पर्याय करूँ—ऐसी पर्यायबुद्धि उसे नहीं रहती। पर्यायें तो द्रव्य के स्वभाव प्रमाण

होती है और द्रव्य का स्वभाव अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध है—जिसने ऐसा द्रव्यस्वभाव निश्चित किया, उसका ज्ञान, स्वभाव के आश्रय से निर्मल हो ही गया है और उसे मोक्षमार्ग शुरु हो गया है। अब वह पर्याय के पद के सामने मुख्यरूप से नहीं देखता; द्रव्य की मुख्यता की भावना में अल्प काल में उसकी मुक्ति हो जाती है।

जहाँ द्रव्य के स्वभाव को निर्णय करके ज्ञान उसमें एकाग्र हुआ, वहाँ बीच में तीर्थंकरादि कैसी पदवी आती है, उस पर ज्ञान का वजन नहीं रहा। ज्ञान ने पूरे द्रव्य को विश्वास में ले लिया, उस द्रव्य में जो-जो पद भरे हैं, वे बाहर आये बिना रहेंगे नहीं। जिसने पूरा द्रव्य निश्चित किया, उसे द्रव्य में से केवलज्ञान और सिद्धपद तो अल्प काल में आये बिना रहेंगे ही नहीं; बीच में तीर्थंकरादि पद तो किसी को होते हैं और किसी को नहीं भी होते। बीच में तीर्थंकरादि जो पद होंगे, वे आये बिना नहीं रहेंगे।

जिस द्रव्य में जो पर्याय होने का धर्म है, उस द्रव्य में वह पर्याय हुए बिना रहनेवाली नहीं है। जो-जो पर्याय होनेवाली है, उस प्रकार का द्रव्य का अनादिस्वभाव ही है, इसलिए प्राप्त की प्राप्ति है, द्रव्य में जो पर्याय होने का स्वभाव है, वही पर्याय व्यक्त होती है। वस्तु का ऐसा धर्म अनादि-अनन्त है। ऐसे वस्तुधर्म का निर्णय करने से त्रिकाली द्रव्य का सम्यग्ज्ञान होता है, उस सम्यग्ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। अनन्त धर्मोंवाले वस्तुस्वभाव का निर्णय करके साधक जीव, स्वभाव के आश्रय से ज्ञातादृष्टारूप से स्व-परप्रकाशक रहा, वहाँ उसके ज्ञान के स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य का जैसा विकास होगा, वैसे ही ज्ञेय आयेंगे और द्रव्य में तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती इत्यादि जो पर्याय होने का धर्म है, वही पर्याय होगी।

कोई आत्मद्रव्य चक्रवर्ती पद पाकर मोक्ष जाए, ऐसा अनादिस्वभाववाला होता है और कोई द्रव्य तीर्थंकर पद पाकर मोक्ष जाए, ऐसे अनादिस्वभाववाला होता है। कोई द्रव्य चक्रवर्ती पद तथा तीर्थंकर पद दोनों प्राप्त करके मोक्ष जाए, ऐसे स्वभाववाला होता है। कोई गणधर होकर मोक्ष जाए, कोई बलदेव होकर मोक्ष जाए, कोई अनुक्रम से कामदेव और चक्रवर्ती ऐसे दोनों पद पाकर मोक्ष जाए—इस प्रकार द्रव्य का उस प्रकार का अनादिस्वभाव ही होता है; और कोई द्रव्य चक्रवर्ती, बलदेव, या तीर्थंकरादि कोई भी पद प्राप्त किये बिना

सामान्य केवलीरूप से मोक्ष को प्राप्त करे—ऐसा भी उसका अनादि स्वभाव ही है। कोई जीव एक ही भव में चक्रवर्ती पद और तीर्थंकर पद—ये दोनों पद प्राप्त करता है परन्तु बलदेव या वासुदेव पद हो और उसी भव में तीर्थंकर पदवी प्राप्त करे—ऐसा नहीं होता; तीर्थंकररूप से मोक्ष जानेवाले, वही पर्याय पाकर मोक्ष जाते हैं, वह पर्याय बदलती नहीं है। बलदेव होकर मोक्ष जाने की योग्यतावाला जीव बलदेव पर्याय पाकर ही मोक्ष जाता है और तीर्थंकर होकर नहीं जाता—इस प्रकार जिस द्रव्य में जो पर्याय होने का स्वभाव होता है, वही पर्याय होती है।

कोई कहे कि एक आत्मा तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करे और दूसरा आत्मा ऐसा का ऐसा सामान्यरूप से मोक्ष प्राप्त करे,—गुण में दोनों समान, तथापि ऐसा क्यों? तो यहाँ कहते हैं कि वैसी ही पर्याय होने का उस द्रव्य का अनादि धर्म है। अहो! इसमें निर्विकल्पता है-वीतरागता है। 'ऐसा क्यों' ऐसे विषमभाव का प्रश्न नहीं रहता। 'ऐसा क्यों'—कि ऐसा ही द्रव्य का स्वभाव! इसलिए स्वयं को अपने द्रव्यस्वभाव के सन्मुख देखकर ज्ञातादृष्टा भाव हो जाता है, ऐसा इस निर्णय का फल है।

पर के कारण मेरी पर्याय होती है अथवा मैं पर की पर्याय में कुछ फेरफार कर दूँ—ऐसी जो पर्याय को बदलने की बुद्धि है, उसमें भी पर्यायदृष्टि की विषमता है। धर्मी जीव तो जानता है कि मेरी जो पर्याय होनेवाली है, वह मेरे द्रव्य में से ही होनी है और मेरे द्रव्य के स्वभाव प्रमाण ही वह पर्याय होनेवाली है, इसलिए द्रव्यस्वभाव के आश्रय से उसे पर्यायबुद्धि का विषमभाव टल गया है। वह साधक जीव अपनी एक-एक पर्याय को भिन्न पाड़कर भले न जान सके, परन्तु सामान्यरूप से उसे ऐसा निःसन्देह निर्णय हो गया है कि मेरी सभी पर्यायें होने का धर्म मेरे द्रव्य में ही भरा है; इससे उस साधक के अभिप्राय में सदा स्वद्रव्य का ही आश्रय वर्तता है और वही मोक्षमार्ग है।

देखो, इसमें कहीं कुछ बदलना नहीं; द्रव्यशक्ति अनादि-अनन्त है, उसे बदलना नहीं; उस द्रव्य में जो-जो पर्यायें होने का धर्म है, उस पर्याय को बदलना नहीं; शुभाशुभ विकल्प को बदलना नहीं; निमित्त को बदलना नहीं; संयोग को बदलना नहीं—वे सब जैसे हैं, वैसे हैं, उसका निर्णय करके स्वयं अपने अन्तरस्वभाव सन्मुख होकर वीतरागी

ज्ञाताभाव से रह गया, वहाँ अपनी पर्याय मोक्षमार्ग और मोक्षरूप परिणम जाती है। ऐसी धर्म की पद्धति है। सब जैसा है, वैसा निर्णय करने से अपनी संयोगीदृष्टि छूटकर स्वभावदृष्टि हो जाती है अर्थात् आत्मा में मोक्षमार्ग शुरु हो जाता है।

वस्तु की अनादि-अनन्त पर्यायें वस्तु के स्वभाव में अनादि से निर्माण हो गयी है, ईश्वर इत्यादि कोई दूसरा पदार्थ उसकी पर्याय का निर्माण करनेवाला नहीं है। जीव की पर्याय को दूसरा तो नहीं बदलता, परन्तु जीव स्वयं भी अपनी पर्याय के क्रम को तोड़कर उसे आगे-पीछे नहीं कर सकता।

यहाँ किसी को ऐसी शंका होती है कि—यदि द्रव्य स्वयं भी अपनी अवस्था में फेरफार नहीं कर सकता, तब तो पुरुषार्थ नहीं रहा!

इसका समाधानः—भाई! यह बात बहुत बार कही जा चुकी है कि अपनी तीनों काल की पर्यायें अपने द्रव्य में से ही आती है, ऐसा जिसने निर्णय किया है, उसकी दृष्टि अपने स्वद्रव्य पर पड़ी है और उसमें ही मोक्ष का परम पुरुषार्थ समाहित हो जाता है। मेरी पर्याय पर में से नहीं आती परन्तु मेरे द्रव्यस्वभाव में से ही आयेगी, और उसमें फेरफार नहीं होगा—ऐसा निर्णय करनेवाले ने किसके सन्मुख देखकर यह निर्णय किया है? निमित्त के सन्मुख या पर्याय के सन्मुख देखकर यह निर्णय नहीं होता परन्तु सब पर्यायें होने का धर्म जिसमें भरा है, ऐसे अखण्ड द्रव्य के सन्मुख देखकर ही यह निर्णय होता है। इस प्रकार इसमें द्रव्य के आश्रय का अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है और वही मोक्ष का पुरुषार्थ है।

द्रव्यनय से देखने पर भूत-भावि की पर्यायरूप द्रव्य ज्ञात होता है, ऐसा उसका एक धर्म है। आचार्यदेव ने वस्तु के धर्मों का जो वर्णन किया है, उसमें बहुत गम्भीरता है। द्रव्यनयवाला साधक ऐसा जानता है कि वर्तमान में ही मेरे द्रव्य में भविष्य की पर्याय होने का स्वभाव पड़ा है; इसलिए सत् का ही उत्पाद होता है और मेरी पर्याय प्रगट होने के लिये मुझे कहीं पराश्रय सन्मुख देखना नहीं रहता परन्तु मेरे सत्द्रव्य के सन्मुख ही देखना रहता है। द्रव्य का जिस समय जैसी पर्याय होने का स्वभाव है, उस समय में वैसी ही पर्याय होती है, वैसा ही विकल्प आता है और वैसा ही संयोग होता है। ऐसा निश्चित करनेवाले को क्या करना रहा?— कि जिसमें से पर्यायें प्रगट होती हैं, ऐसा अपना त्रिकाली सत्द्रव्य

कैसा है, उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना ही रहा; इसके अतिरिक्त कहीं पर में या अपनी पर्याय में फेरफार करना नहीं रहता।

शंका : आत्मा पर में तो कुछ फेरफार नहीं कर सकता, यह तो ठीक है, परन्तु अपनी पर्यायों में फेरफार करने में भी उसका अधिकार नहीं ?

समाधान : अरे भाई ! जहाँ द्रव्य का निर्णय किया, वहाँ वर्तमान पर्याय स्वयं द्रव्य में ढल ही गयी है, फिर तुझे किसे बदलना है ? मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है, ऐसा निर्णय करते ही पर्याय, द्रव्य में अन्तर्मुख हो गयी, वह पर्याय अब क्रम-क्रम से निर्मल ही हुआ करती है और शान्ति बढ़ती जाती है। इस प्रकार पर्याय स्वयं जहाँ द्रव्य में अन्तर्मग्न हो गयी, वहाँ उसे बदलना कहाँ रहा ? वह पर्याय स्वयं द्रव्य के अधिकार में आ ही गयी है। पर्याय आयेगी कहाँ से ?—द्रव्य में से; इसलिए जहाँ पूर्ण द्रव्य को अधिकार में ले लिया (-श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार कर लिया), वहाँ पर्यायें काबू में आ ही गयी अर्थात् द्रव्य के आश्रय से पर्यायें सम्यक् निर्मल ही होने लगी। जहाँ स्वभाव निश्चित किया, वहाँ मिथ्याज्ञान बदलकर सम्यग्ज्ञान हुआ, मिथ्याश्रद्धा पलटकर सम्यग्दर्शन हुआ—इस प्रकार निर्मल पर्यायें होने लगीं, वह भी वस्तु का धर्म है। वस्तु का स्वभाव बदला नहीं और पर्याय के क्रम की धारा टूटी नहीं। द्रव्य के ऐसे स्वभाव का स्वीकार करने से पर्याय की निर्मल धारा शुरु हो गयी और ज्ञानादि का अनन्त पुरुषार्थ उसमें साथ ही आ गया।

स्व या पर किसी द्रव्य को, किसी गुण को और किसी पर्याय को बदलने की बुद्धि जहाँ नहीं रही, वहाँ ज्ञान, ज्ञान में ही स्थिर हो गया। इसलिए अकेला वीतरागी ज्ञाताभाव ही रह गया, उसे अल्प काल में मुक्ति होगी ही। बस ! ज्ञान में ज्ञातादृष्टापना रहना, वही स्वरूप है, वही सत् का सार है। अन्तर की यह बात जिसे ख्याल में न आवे, उसे कहीं पर में या पर्याय में फेरफार करने का मन होता है। ज्ञाताभाव को चूककर कहीं भी फेरफार करने की बुद्धि, वह मिथ्याबुद्धि है।

ज्ञानी धर्मात्मा को चक्रवर्ती इत्यादि पद आवें, वहाँ उन्हें ऐसा नहीं होता कि ऐसी पर्याय आयी, उसकी अपेक्षा मैं निर्धन होता तो ! अपनी जो भूमिका है, तद्नुसार पर्याय में राग और संयोग आये बिना नहीं रहते। चक्रवर्ती आदि पर्याय हो, वह भी तेरा द्रव्य का उस

प्रकार का धर्म है। 'द्रव्य में जो-जो पर्याय होने का अनादि स्वभाव है, वह पर्याय बदलती नहीं'—ऐसा जानता हुआ धर्मी अपने स्वद्रव्य की ओर के झुकाव से पर्याय का ज्ञाता रहता है; चक्रवर्ती पद में जो अल्प राग और संयोग है, उसका वह वास्तव में ज्ञाता ही है। ऐसी पर्याय और ऐसा संयोग क्यों आया—ऐसा विषमभाव उसके ज्ञान में से टल गया है। 'संयोग की या राग की भावना न होने पर भी बीच में राग पर्याय क्यों आयी ?'—ऐसी ज्ञानी को शंका या विषमभाव नहीं होता। ज्ञानी तो जानता है कि संयोग तो मुझसे पर है और रागपर्याय, वह भी मेरा त्रिकाली द्रव्यस्वभाव नहीं है। इस प्रकार द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में धर्मी को वीतराग भाव ही बढ़ता जाता है। इसका नाम सम्यक्धर्म है।

दो केवली भगवान में एक को तीर्थंकरपद हो और दूसरे को न हो; मुनियों में किसी को आचार्य पदवी हो और दूसरे को न हो, साधक में किसी को विशेष पुण्य का योग हो और किसी को योग न भी हो—वहाँ धर्मी को अन्दर की पवित्रता की शंका नहीं होती। उस-उस प्रकार की विशेष पर्याय हो, ऐसा उस-उस द्रव्य का स्वभाव ही है। अपने द्रव्यस्वभाव को स्वीकार करके उसमें जहाँ पर्याय की एकता हुई, वहाँ मोक्ष का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। पश्चात् बीच में तीर्थंकरादि विशेष पदवी हो या न हो—उसे ज्ञानी जानता है, परन्तु उसके साथ मोक्षमार्ग का सम्बन्ध नहीं है। मोक्षमार्ग तो अन्तर के अखण्ड द्रव्य के आश्रय से ही है।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में भविष्य में जो पर्याय होनेवाली है, उस पर्यायरूप वर्तमान में वह ज्ञात होता है—ऐसा उसका स्वभाव है। द्रव्यनय से देखने पर आत्मा ऐसे स्वभाववाला ज्ञात होता है। जैसे ज्योतिषी, भविष्य में जो होनेवाला हो, उसे जाने परन्तु जो होनेवाला हो, उसे कुछ आगे-पीछे नहीं कर देता; उसी प्रकार द्रव्य में ऐसा एक स्वभाव है कि उसमें भविष्य में जो पर्याय होनेवाली हो, उस पर्यायरूप वह वर्तमान में ज्ञात होता है, परन्तु उस पर्याय में फेरफार हो—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। ज्योतिषी क्या देखे ? जो होनेवाला हो, वह देखे; भविष्य में इस काल में ऐसा ग्रहण होगा—ऐसा वह जानता है, परन्तु क्या वह ग्रहण को बदल सकता है ? नहीं बदल सकता। बस ! जैसा होनेवाला है, वैसा उसने जाना है; इसी प्रकार यहाँ त्रिकाली द्रव्य की अनादि-अनन्त पर्यायें होने का

जैसा धर्म है, वैसा ज्ञान जानता है; ज्ञान उसका निषेध नहीं करता और उसे बदलता भी नहीं।

द्रव्य में भविष्य में जो-जो पर्यायें होनेवाली हों, वह पर्याय होने से पहले, वर्तमान में भी उसमें वह-वह पर्यायें होने का धर्म रहा हुआ है; और उस भाविपर्यायरूप से द्रव्य को वर्तमान में जान ले, ऐसा श्रुतज्ञान का एक प्रकार है, उसका नाम द्रव्यनय है। वस्तु की अनन्त पर्यायों में से प्रत्येक को भिन्न करके श्रुतज्ञानी भले न जान सके, परन्तु सामान्यरूप से तो उसके निर्णय में आ गया है कि द्रव्य में तीन काल की जो-जो पर्यायें हैं, वे सभी पर्यायें होने का द्रव्य का अपना स्वभाव है। ऐसा निर्णय होने से किसी भी पर्याय के समय धर्मी को द्रव्यदृष्टि हटती नहीं। ऐसा द्रव्यस्वभाव समझने के पश्चात् उसका घोंटन और उसमें एकाग्रता रहे, इसका नाम चारित्र है।

जहाँ स्वभावसन्मुख साधकदशा हुई, वहाँ 'मैं अल्प काल में सिद्ध होनेवाला हूँ' ऐसा साधक को निर्णय हो जाता है। भविष्य में अल्प काल में सिद्धदशा होनेवाली है, वहाँ 'मैं सिद्ध हूँ' ऐसी भाविपर्यायरूप से वर्तमान में अपना आत्मा ज्ञात हो—ऐसा उसका धर्म है, और श्रुतज्ञान का वैसा जानने का स्वभाव है।

देखो! यहाँ तो जिसे भविष्य में सिद्धपर्याय होनेवाली है, ऐसे आत्मा की ही बात ली है अर्थात् भव्य जीव की ही बात ली है। जिसे भविष्य में सिद्धपर्याय होनेवाली है, वह स्वयं अपने को वर्तमान में सिद्धरूप से द्रव्यनय से जानता है। ये नय सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी को ही होते हैं। भविष्य में सिद्धपर्याय होने का जिसके द्रव्य का स्वभाव है, और जिसका अपना ज्ञान भावि-सिद्धपर्यायरूप से अपने द्रव्य को जाननेवाला है, ऐसे सम्यग्ज्ञानी की ही यहाँ बात है। उसे ही यथार्थ द्रव्यनय होता है। अभव्य इत्यादि को कभी सिद्धपर्याय होनी नहीं है, तथा उसमें उस प्रकार की पर्यायरूप से द्रव्य को जाने, वैसा नय भी नहीं होता। वह स्वयं अपने द्रव्यस्वभाव को नहीं जानता; उसके द्रव्य के स्वभाव को या भूत-भावि पर्याय को दूसरा श्रुतज्ञानी जानता है, परन्तु वह स्वयं अपने को नहीं जानता; और जो जीव स्वयं जानता है, उसे स्वयं को तो भविष्य में सिद्धपर्याय होने का ही स्वभाव है; सिद्धपर्याय न होनी हो, ऐसे जीव तो उसे परज्ञेय में है, स्वज्ञेय में तो सिद्धपर्याय होनी ही है। यह बात जाने और उसे मोक्षपर्याय न हो, ऐसा होता ही नहीं। यहाँ अभव्य की बात नहीं

है; यहाँ तो जो स्वयं अपने स्वभाव को ज्ञान का ज्ञेय बनाकर जानता है, ऐसे मोक्षगामी जीव की ही बात है। ज्ञान की और वस्तु के स्वभाव की एकता की बात है। नयों द्वारा वस्तुस्वभाव को साधकर उसमें ज्ञान की एकता करने के लिये यहाँ नयों से आत्मा का वर्णन किया है। यह बात आचार्यदेव 19वें कलश में कहेंगे कि 'इस प्रकार स्यात्कारश्री के निवास के लिये वशवर्तते नयसमूह द्वारा जीव देखे तो भी और प्रमाण द्वारा देखे तो भी स्पष्ट अनन्त धर्मवाले निज आत्मद्रव्य को अन्दर में शुद्धचैतन्यमात्र देखता ही है।' अर्थात् स्वयं अपने शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मस्वभाव को देखना, वही इन सब नयों का तात्पर्य है।

वस्तु अनादि-अनन्त है। उसमें वर्तमान एक पर्याय प्रगट है, उसके अतिरिक्त की भूत-भविष्य की पर्यायें अप्रगट हैं; उन भूत-भविष्य की अप्रगट पर्यायोंरूप से वर्तमान में ज्ञात हो, ऐसा द्रव्य का धर्म है। द्रव्य वर्तमान पर्याय जितना ही नहीं है परन्तु वह तो तीन काल की पर्यायों के सामर्थ्य का पिण्ड है। वर्तमान पर्याय ही ज्ञात हो और भूत-भविष्य की पर्याय ज्ञान में न ज्ञात हो—ऐसा नहीं है। वर्तमान पर्याय की भाँति भूत-भविष्य की पर्यायें भी ज्ञान में ज्ञात होती है। श्रुतज्ञान से सामान्यरूप से ऐसा ख्याल में आता है कि इस द्रव्य ने पूर्व में अनन्त भव किये हैं; और यदि विशेष निर्मलता होवे तो श्रुतज्ञानी को पूर्व के असंख्य वर्षों के अनेक भव ख्याल में आ जाते हैं। जीव अनादि का है और उसकी पर्यायें भी अनादि से है। पूर्व में अकेला द्रव्य ही था और पर्यायें नहीं थी—ऐसा नहीं है, क्योंकि पर्यायरहित का द्रव्य कभी नहीं होता। पूर्व में मोक्षपर्याय इस जीव को कभी नहीं हुई क्योंकि यदि मोक्षपर्याय हुई होती तो उसे यह संसार नहीं होता। इसलिए अभी तक का अनादि काल जीव ने अलग-अलग भव में ही व्यतीत किया है। इस प्रकार से श्रुतज्ञान में द्रव्य की भूत-भाविपर्यायें भी प्रतिभासित होती है। पूर्व भव की पर्यायरूप से ज्ञात हो, ऐसा आत्मा में धर्म है। एक द्रव्यनय में इतना सामर्थ्य है कि द्रव्य की भूत-भविष्य की पर्यायों को निश्चित कर सके। द्रव्य में ऐसा ज्ञेय धर्म है और ज्ञान में वैसा जानने का धर्म है। इस एक धर्म का भी यथार्थ निर्णय करने पर त्रिकाली द्रव्य का स्वरूप प्रतीति में आये बिना नहीं रहता।

प्रत्येक आत्मा में प्रतिसमय अनन्त धर्मों की ऋद्धि है; उसे किसी अन्य के आश्रय से आवश्यकता नहीं है। ऐसे आत्मा को ख्याल में लिये बिना अनादि से अज्ञानी जीव भवभ्रमण कर रहा है; और जब तक आत्मा का यथार्थ स्वरूप ज्ञान और रुचि में नहीं

आयेगा, तब तक वह भवभ्रमण दूर नहीं हो सकता। आत्मज्ञान के बिना अनन्त बार बाह्य पण्डित और त्यागी होकर भी जीव संसार में भटका है। शास्त्र भी अनन्त बार पढ़े परन्तु आत्मा को नहीं जाना। अपने आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसे जाने बिना परसन्मुख रहकर ही सबकुछ किया है; अपने आत्मस्वभाव के अन्तरसन्मुख होकर कभी उसकी रुचि-प्रतीति नहीं की। यदि आत्मस्वभाव की रुचि-प्रतीति करे तो यह भवभ्रमण दूर हो जाए। जिसे भवभ्रमण का त्रास है और आत्मा को समझकर भवभ्रमण से छूटना चाहता है, ऐसे जिज्ञासु जीव को यहाँ आचार्यदेव आत्मा का स्वरूप समझाते हैं।

आत्मा कैसा है—उसकी यह बात चल रही है; उसमें यह चौदहवाँ बोल है। आत्मा त्रिकाली द्रव्य है; उसकी भूतकाल में जो पर्यायें हुईं और भविष्य में जो होंगी, उन पर्यायोंरूप से भी आत्मा वर्तमान में ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वभाव है। भूत-भविष्य की पर्यायों को जान लेने की शक्ति ज्ञान में ही है; इन्द्रियों में या राग में ऐसी शक्ति नहीं है। देखो, ज्ञान की कितनी महानता है! वह भविष्य की सिद्ध पर्यायरूप से आत्मा को वर्तमान में जान लेता है। आत्मा में अनन्त गुण-पर्यायें हैं, उन सबकी ज्ञान जान लेता है, ऐसी शक्ति उसमें भरी है। तीन काल की पर्यायोंरूप होनेवाला मेरा द्रव्य है—ऐसी जहाँ प्रतीति हुई, वहाँ ज्ञान द्रव्यस्वभावोन्मुख होकर, विकल्प टूटकर वीतरागता और केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता। द्रव्यसन्मुख दृष्टि होते ही वर्तमान में अंशतः शुद्धतारूप भाव हुआ अर्थात् भूत-भविष्य की पर्यायरूप द्रव्य को जाननेवाले जीव के वर्तमान पर्याय में निर्मलता प्रगट है; वर्तमान पर्याय में अंशतः निर्मलतासहित भूत-भविष्य की पर्यायरूप से द्रव्य को जाने—ऐसा यह द्रव्यनय है।

जिस जीव के केवलज्ञान प्रगट होना है, उस जीव के केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म तो सदैव है। 'केवलज्ञान की शक्ति' और 'केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म'—यह दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं। केवलज्ञान की शक्ति तो अभव्य में भी है; परन्तु केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म उसमें नहीं है। अभव्य में केवलज्ञान की शक्तिरूप स्वभाव है, परन्तु उसे कभी केवलज्ञान प्रगट न हो—ऐसा भी उसका स्वभाव है। यहाँ तो, जो जीव अपने द्रव्यस्वभाव का निर्णय करे, उस जीव के अल्प काल में केवलज्ञान प्रगट होता है—ऐसा स्वभाव होता ही है; उसे केवलज्ञान प्रगट न हो—ऐसा नहीं हो सकता। वर्तमान पर्याय में केवलज्ञान प्रगट नहीं है, तथापि 'भविष्य में केवलज्ञान की पर्यायरूप से मेरा आत्मा होनेवाला है'—

ऐसा जिसने निर्णय किया, उसने किसके सन्मुख देखकर निर्णय किया है? द्रव्य में केवलज्ञान होने का स्वभाव त्रिकाल भरा है, उसके सन्मुख देखकर उसने वह निर्णय किया है, इसलिए वर्तमान में तो वह साधक हो गया है और अल्पकाल में उसे केवलज्ञानदशा प्रगट हो जाएगी।

✦✦✦

यहाँ द्रव्यनय के दृष्टान्त में बालक का दृष्टान्त दिया है; वह बालक ऐसा है कि जो आयुष्यवन्त है और भविष्य में सेठ होनेवाला है; उसे लोग भावी पर्यायरूप से लक्ष्य में लेकर कहते हैं कि 'यह सेठ है।' वहाँ भविष्य में सेठ होनेवाला बालक वर्तमान में सेठरूप में प्रतिभासित होता है—ऐसा उसका धर्म है। उसी प्रकार सिद्धान्त में ऐसा जीव लेना चाहिए कि जो भविष्य में सिद्ध होनेवाला है; वह वर्तमान में सिद्धरूप से प्रतिभासित हो, ऐसा उसका धर्म है। धर्मी स्वयं अपने आत्मा को भविष्य की पर्यायरूप से वर्तमान में देखता है। इस द्रव्य में भविष्य में यह पर्याय होना है—इस प्रकार अपने ज्ञान में वह बात आ गई, तब द्रव्यनय लागू हुआ।

श्रीभगवान की वाणी में आया कि—'यह जीव भविष्य में सिद्ध होगा;' दूसरे श्रुतज्ञानी के ख्याल में वह बात आ गयी; और 'यह आत्मा सिद्ध है'—इस प्रकार भावी पर्यायरूप से उस आत्मा को वर्तमान में ख्याल में लिया, तो उस ज्ञान में द्रव्यनय है; वहाँ द्रव्यनय से देखने पर भविष्य की सिद्धपर्यायरूप से ज्ञात हो, वैसा धर्म तो उस आत्मा का है; भगवान की वाणी के कारण या ज्ञान के कारण उस ज्ञान का अस्तित्व नहीं है।

द्रव्यनय में दूसरा उदाहरण श्रमण हुए राजा का दिया है। पहले राजा हो और फिर वैराग्य प्राप्त करके मुनि हो गया हो, तथापि पूर्व की राजा पर्यायरूप से वर्तमान में भासित हो, ऐसा उसका धर्म है। सनतकुमार चक्रवर्ती मुनि हुए और उन्हें रोग हो गया; वहाँ द्रव्यनय से ऐसा कहा जाता है कि 'सनतकुमार को रोग हुआ।'—इस प्रकार पूर्व की पर्यायरूप से ज्ञात हो, ऐसा वस्तु का धर्म है।

द्रव्य को भूतकाल की पर्यायरूप से जानना अथवा भविष्यकाल की पर्यायरूप से जानना—उन दोनों प्रकारों का द्रव्यनय में समावेश हो जाता है। भूतकाल की पर्यायरूप से

जाना जाए, वह धर्म दूसरा और भविष्यकाल की पर्यायरूप से जाना जाए, वह दूसरा— इस प्रकार पृथक्-पृथक् दो धर्म नहीं हैं; एक धर्म में उन दोनों पक्षों का समावेश हो जाता है।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—यह चार निक्षेप हों, ऐसे चार धर्म प्रत्येक आत्मा में हैं; वस्तु स्वयं अनन्त धर्मों का पिण्ड है, उसमें कहीं एक-एक धर्म पृथक् नहीं होता। एक-एक धर्म तो एक-एक नय का विषय है और सम्पूर्ण वस्तु प्रमाण का विषय है। श्रुतज्ञान जाननेवाला है और धर्म उसका विषय है; एक नय का विषय एक धर्म है। वस्तु में अनन्त धर्म हैं, उनमें से यदि एक अंश को भी कम माने तो वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी। आत्मा को सर्वथा क्षणिक धर्मवाला ही माननेवाले बौद्ध की या सर्वथा कूटस्थ धर्मवाला माननेवाले वेदान्तादि की कोई बात इसमें नहीं रहती; क्योंकि वे सब तो एकान्त पक्ष को ही पूरा माननेवाले हैं; इसलिए उनका एक पक्ष भी सच्चा नहीं रहता। अंश, अंशरूप से भी तब सच्चा कहलाता है कि जब अंशी के दूसरे अंशों को भी मानता हो! परन्तु जो एक अंश को ही पूर्ण स्वरूप मान ले, उसके तो अंश, अंशरूप से भी नहीं रहा और अंशी भी नहीं रहा, इसलिए उसके तो अंशी या अंश—कोई भी सच्चा नहीं है।

यदि कोई आत्मा को सर्वथा शुद्ध ही माने और उसकी पर्याय में क्षणिक अशुद्धतारूप धर्म है, उसे न माने तो एक ही अंश को पूर्ण वस्तु मानने से उसका अंश, अंशरूप नहीं रहा और दूसरे अंश नहीं माने; इसलिए अंशी भी नहीं रहा—अर्थात् वस्तु ही उसकी श्रद्धा में नहीं आई; उसकी श्रद्धा मिथ्या हुई। वस्तु तो अनन्त धर्मात्मक ज्यों की त्यों है।

इसी प्रकार जो आत्मा में अकेली क्षणिक अशुद्धता को ही माने और सामान्य शुद्ध पक्ष है, उसे न माने तो उसे भी अंश या अंशी एक भी नहीं रहते; अर्थात् उसकी श्रद्धा मिथ्या होती है। अनन्त धर्मवाली वस्तु में कुछ भी आगे-पीछे माने तो नहीं चल सकता।

जिसने एक धर्म को ही पूर्ण आत्मा माना, उसे तो वह धर्म अंशरूप से भी सच्चा नहीं रहा। अंश कब सच्चा कहलाता है ? —पूर्ण के स्वीकारपूर्वक अंश को स्वीकार करे, तब अंश सच्चा कहलाता है; पूर्ण के स्वीकार बिना अंश किसका ? पूर्ण वस्तु के स्वीकारपूर्वक उसके अंश को जाने तो अंशी और अंश दोनों यथार्थ रहते हैं। इस प्रकार अंशी और अंश

(वस्तु और उसके धर्म)—दोनों का यथार्थ ज्ञान साथ ही है। अखण्ड अंशी का स्वीकार किये बिना उसके अंश का यथार्थ ज्ञान नहीं होता और अंशी के सर्व अंशों को स्वीकार किए बिना अंशी का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; इसलिए अनेकान्त में तो किञ्चित् अपूर्णता नहीं रहती और एकान्तवादी का एक अंश भी सच्चा नहीं रहता। एक में पूर्ण सत्य है और दूसरे में अंश भी सच्चा नहीं है।

द्रव्यनय ऐसा जानता है कि सिद्ध, तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि जो-जो पर्याय भविष्य में होनेवाली हैं, वह-वह पर्याय होने का धर्म द्रव्य में वर्तमान में ही है; वह पर्याय प्रगट होने से पूर्व वह पर्याय प्रगट होने का धर्म तो आत्मा में त्रिकाल है, इसलिए किन्हीं संयोगों के कारण वह पर्याय होती है—यह बात ही नहीं रहती।—ऐसा जो समझे उसके संयोगदृष्टि छूटकर स्वभावदृष्टि हुए बिना नहीं रहती।—इस प्रकार स्वभावदृष्टि होना ही नय का तात्पर्य है।

—इस प्रकार चौदहवें द्रव्यनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

(15)

भावनय

भावयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि १५।

आत्मद्रव्य भावनय से, पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति, तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा भावनय से वर्तमान पर्यायरूप से प्रकाशित होता है, जैसे कि पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री पुरुषत्व-रूपपर्यायरूप से प्रतिभासित होती है।)

त्रिकाली द्रव्य उल्लसित होकर वर्तमान पर्यायरूप से प्रतिभासित होता है—ऐसा उसका धर्म है। पर्याय तो द्रव्य में समा जाती है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पूर्ण द्रव्य वर्तमान पर्याय में उल्लसित हो जाता है अर्थात् भावनय से देखने पर, द्रव्य वर्तमान वर्तती पर्यायरूप से दिखाई देता है। वर्तमान सम्यग्दर्शन-पर्याय हो, वहाँ आत्मा ही सम्यग्दर्शनरूप से दिखाई देता है। 'आत्मा सम्यग्दृष्टि है, आत्मा मुनि है, आत्मा केवलज्ञानी है'—इस प्रकार वर्तमान पर्यायरूप से द्रव्य को देखना, वह भावनय है; और द्रव्य में ऐसा एक धर्म है कि वह वर्तमान पर्यायरूप से ज्ञात हो।

यहाँ आचार्यदेव ने स्त्री का उदाहरण देकर समझाया है। शास्त्रकार आचार्य भगवान तो वीतरागी सन्त हैं; वस्तु का स्वरूप समझाने के लिये जो दृष्टान्त लक्ष्य में आया, वह दृष्टान्त नि:शंकरूप से दिया है; उसमें अपने को तो वीतरागभाव है। जिस प्रकार—किसी समय स्त्री, पुरुष जैसी चेष्टारूप से वर्तती हो, उस समय वह स्त्री, पुरुषरूप से प्रतिभासित होती है; उसी प्रकार वर्तमान पर्यायरूप से प्रवर्तमान द्रव्य भी भावनय से उस पर्यायरूप से प्रतिभासित होता है। पर्याय तो द्रव्य में तन्मय होकर परिणमित होती है, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्य स्वयं उल्लसित होकर उस-उस काल की पर्याय में तन्मय हो जाता है; इसलिए उस पर्यायरूप से ज्ञात होता है। शुद्ध सम्यग्दर्शनादि पर्यायें हुईं, उन पर्यायों में तन्मयरूप से पूर्ण द्रव्य ही—आत्मा ही प्रतिभासित होता है;—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। अर्थात्

आत्मा ही सम्यग्दर्शन है—ऐसा भावनय से प्रतिभासित होता है।

पूर्ण द्रव्य वर्तमान पर्यायरूप से ज्ञात हो, ऐसा अनादि-अनन्त स्वभाव है; जहाँ ऐसे स्वभाव का निर्णय किया, वहाँ निर्मल पर्याय में उल्लसित द्रव्य प्रतिभासित हुआ। द्रव्य, पर्याय में उल्लसित प्रतिभासित होता है, लेकिन किसे?—जिसने द्रव्य को प्रतीति में लिया है उसे। इस प्रकार यहाँ साधक की सम्यक् पर्यायों की बात है। केवली भगवान तो नयातिक्रान्त हैं; उन्हें नय से कुछ भी साधना नहीं रहा है और अज्ञानी जीव को तो द्रव्य का भान नहीं है, इसलिए उसे भी पर्याय में द्रव्य उल्लसित प्रतिभासित नहीं होता; उसने तो विकल्प को और राग को ही आत्मा माना है; इसलिए उसके तो पर्याय में राग ही उल्लसित भासित होता है। जिसे अखण्ड द्रव्य का भान है, ऐसे साधक जीव को पर्याय में द्रव्य उल्लसित प्रतिभासित होता है। वह जब भावनय से देखता है, तब उसे सम्यग्दर्शनादि वर्तमान पर्यायरूप से पूर्ण आत्मा भासित होता है। इस प्रकार वर्तमान पर्यायरूप से उल्लसित प्रतिभासित हो, ऐसा द्रव्य का धर्म है। अज्ञानी के आत्मा में भी ऐसा धर्म तो है, परन्तु उसे द्रव्य का भान नहीं है, इसलिए 'वर्तमान पर्याय में द्रव्य उल्लसित होता है'—ऐसा उसे प्रतिभासित नहीं होता; इससे उसके भावनय नहीं होता। द्रव्य स्वयं पर्यायरूप से उल्लसित होता है—ऐसा जिसे भासित होता है, वह बाह्य आश्रय से पर्याय की निर्मलता का होना नहीं मानता। मेरी वर्तमान पर्याय में मेरा द्रव्य उल्लसित होता है—ऐसा जिसे प्रतिभासित हुआ, उसकी दृष्टि द्रव्य सन्मुख गयी और सम्यग्ज्ञान हुआ और उसे भावनय लागू हो गया। इसके अतिरिक्त भावनय नहीं होता, क्योंकि भावनय सम्यक्ज्ञान का अंश है।

सर्वज्ञभगवान ने अनन्त धर्मवाले आत्मा को प्रत्यक्ष देखा है; वैसा ही अनन्त धर्मात्मक आत्मा साधक को श्रुतज्ञानप्रमाण से परोक्ष ख्याल में आता है; उसमें अंशत: स्वसंवेदनप्रत्यक्ष भी है। श्रुतज्ञान में अनन्त नयों का समावेश हो जाता है; ऐसे श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख करके, जैसा सर्वज्ञ ने देखा, वैसा आत्मा अपने ख्याल में आये बिना ज्ञान सम्यक्प्रमाण नहीं होता; इसलिए यहाँ आचार्यदेव ने आत्मा की यथार्थ पहिचान करायी है।

यहाँ ४७ नयों से आत्मस्वभाव का वर्णन किया है, उसमें से पन्द्रहवें नय का विवेचन पूर्ण हुआ। अन्त में नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव—इन चार नयों से आत्मा का वर्णन किया; अब सामान्य नय और विशेष नय से आत्मा का वर्णन करते हैं। ●●

(16)
सामान्यनय

सामान्यनयेन हारस्रग्दाम-सूत्रवद्व्यापि १६।

आत्मद्रव्य सामान्यनय से, हार-माला-कण्ठी के डोरे की भाँति, व्यापक है, (अर्थात् आत्मा सामान्यनय से सर्व पर्यायों में व्याप्त रहता है, जैसे मोती की माला का डोरा सारे मोतियों में व्याप्त होता है।) १६.

भावनय से आत्मा वर्तमान पर्यायरूप से प्रतिभासित होता है अर्थात् वर्तमान एक पर्याय में व्याप्त प्रतिभासित होता है—ऐसा कहा है; और यहाँ कहते हैं कि सामान्यनय से आत्मा समस्त पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यरूप से दिखाई देता है। यह सामान्यनय बतलाता है कि हे जीव! अपनी पर्याय में सदैव तू ही व्यापक है; तेरी पर्याय में अन्य कोई नहीं आता; इसलिए अपनी पर्याय प्रगट करने के लिये तुझे किसी पर के सन्मुख देखना नहीं रहता, किन्तु अपने द्रव्य के सन्मुख ही देखना रहता है।

जो कभी अपनी पर्याय में व्यापक नहीं है—ऐसे परद्रव्य पर दृष्टि रखने से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती, परन्तु जो अपनी समस्त पर्यायों में व्यापक है—ऐसे द्रव्य पर दृष्टि करने से-उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होती है; वह धर्म है। इसके अतिरिक्त शुद्ध आहार के कारण धर्म होता है—ऐसा जिसने माना है, उसने अपनी धर्मपर्याय में आत्मा को व्यापक नहीं माना, परन्तु अचेतन आहार को अपनी पर्याय में व्यापक माना है। परन्तु आहार तो परद्रव्य है, वह अपनी पर्याय में व्याप्त नहीं होता; तब फिर उसके कारण धर्म कैसे होगा? अपनी पर्याय में अपना आत्मा व्यापक है, वही धर्म का कारण है।

देव-गुरु-शास्त्र भी इस आत्मा की पर्याय में व्याप्त नहीं होते; इसलिए उन देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव या दु:खी जीवों की सेवादि का भाव, वह पुण्यभाव है, परन्तु वह धर्म की क्रिया नहीं है। धर्म की क्रिया कौन सी?—अनन्त धर्म को धारण करनेवाले ऐसे निजात्मा को प्रथम श्रद्धा-ज्ञान में निर्णय करना और पश्चात् उसमें एकाग्र होना, वह

धर्म की क्रिया है। धर्मी—ऐसा जो आत्मा है, उसी के आधार से धर्म की क्रिया होती है; आत्मा के अतिरिक्त पर के आधार से धर्म की क्रिया नहीं होती।

प्रथम द्रव्यनय से आत्मा को चैतन्यमात्र कहकर अभेदता बतलायी; और यहाँ सामान्यनय से आत्मा का सर्व पर्यायों में व्यापकपना कहकर सामान्यपना बतलाते हैं; यह सब एक-एक धर्म है और वह एक-एक नय का विषय है। सर्व गुण-पर्यायों में आत्मद्रव्य ही एकरूप से व्यापक है, इसलिए वह सामान्य है।—इस प्रकार सामान्य धर्म से द्रव्य को जानना, वह सामान्यनय है।

प्रत्येक धर्म के वर्णन में आचार्यदेव ने दृष्टान्त देकर समझाया है; यहाँ मोती की माला का दृष्टान्त है। जिस प्रकार माला अपने समस्त मोतियों में व्याप्त है; माला का डोरा अमुक मोतियों में हो और अमुक मोतियों न हो—ऐसा नहीं है; सभी मोतियों में माला का डोरा अखण्ड है; और उस माला का प्रत्येक मोती क्रमानुसार अपने स्थान पर जमा है, वह उल्टा-सीधा नहीं होता। उसी प्रकार आत्मद्रव्य अपनी अनादि-अनन्त काल की समस्त पर्यायों में व्याप्त है, कोई भी पर्याय आत्मद्रव्य से रहित नहीं होती और वे समस्त पर्यायें क्रमानुसार हैं; कोई पर्याय उल्टी-सीधी नहीं होती। इस प्रकार द्रव्यनय का ऐसा व्यापक धर्म है कि वह अपनी समस्त पर्यायों में व्याप्त रहता है।

भावनय से देखने पर, द्रव्य वर्तमान पर्यायरूप ही प्रतिभासित होता है; द्रव्यनय से देखने पर द्रव्य भूत-भविष्य की पर्यायोंरूप से प्रतिभासित होता है; और सामान्यनय से देखने पर वह तीन काल की पर्यायों में व्यापकरूप से प्रतिभासित होता है।—इसका अर्थ ही यह हुआ कि वर्तमान की पर्याय वर्तमान में है, भूतकाल की पर्याय भूतकाल में है और भविष्य की पर्याय भविष्य में है; कोई पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। यदि भविष्य की पर्याय का क्रम द्रव्य में निश्चित न हो तो द्रव्य भावी पर्यायरूप से प्रतिभासित ही नहीं हो सकता। जिस प्रकार मोती की माला में मोतियों का क्रम आगे-पीछे नहीं होता; उसी प्रकार तीन काल की पर्यायमाला में व्यापक—ऐसे द्रव्य में किसी पर्याय का क्रम आगे-पीछे नहीं होता; और न पर के कारण कोई पर्याय होती है—यह बात भी इसमें आ ही जाती है। द्रव्य की पर्यायें अपने स्व-अवसर में ही होती हैं, आगे-पीछे नहीं होतीं—यह बात ९९ वीं गाथा के प्रवचनों में विस्तारसहित आ गयी है।

यहाँ अध्यात्मनय हैं, इसलिए नय और नय के विषयभूत धर्म का एकरूप से वर्णन करते हैं। वस्तु के अनन्त धर्मों में अनन्त नय व्याप्त होते हैं—ऐसा कहकर नयों की स्वसन्मुखता बतलायी है; यह नय पर में व्याप्त नहीं होते परन्तु वस्तु के निजधर्मों में व्याप्त हैं, इसलिए पर-सन्मुख देखना नहीं रहा परन्तु वस्तु-सन्मुख ही देखना रहा।

यहाँ कहते हैं कि आत्मद्रव्य में एक ऐसा धर्म है कि अपनी समस्त पर्यायों में वह व्याप्त है; कोई परपदार्थ तो आत्मा की पर्याय में व्याप्त नहीं होते और रागादि भावों में या पर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वे सर्व पर्यायों में व्याप्त हों! इससे इस व्यापक धर्म का स्वीकार करते हुए द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। आत्मद्रव्य में ही ऐसा धर्म कि वह सर्व पर्यायों में व्याप्त होता है; इसलिए किसी निमित्त पर, विकल्प पर या पर्याय पर मुख्यरूप से देखना नहीं रहा, किन्तु द्रव्य पर ही देखना रहा। अनादि काल से जीव की दृष्टि अपने द्रव्य पर नहीं पड़ी है; परन्तु संयोग और विकार पर ही दृष्टि रखी है। सामान्यनय से सर्व पर्यायों में व्यापक ऐसे आत्मद्रव्य को जो जाने, उसके निर्मल पर्याय हुए बिना नहीं रहती। प्रत्येक धर्म ऐसा है कि उसका यथार्थतया निर्णय करते हुए सम्पूर्ण द्रव्य का ही निर्णय हो जाता है। सर्व धर्मों का आधार तो आत्मद्रव्य है, इसलिए उन धर्मों को देखने से धर्मी ऐसा आत्मद्रव्य ही प्रतीति में आ जाता है और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट होते हैं।

प्रश्नः—आत्मद्रव्य समस्त पर्यायों में व्यापक है, ऐसा कहा है; तो क्या आत्मा विकार पर्याय में भी व्यापक है ?

उत्तरः—हाँ; विकार पर्याय में भी उस समय जितना आत्मा व्यापक है; परन्तु ऐसा जिसने निर्णय किया, उसके अपनी पर्याय में अकेला विकारभाव ही नहीं होता, परन्तु साधकभाव होता है। क्योंकि 'विकारभाव कर्म के कारण नहीं होता, अर्थात् उसमें कर्म व्यापक नहीं है; उस विकार-पर्याय में आत्मद्रव्य ही व्यापक है'—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे विकार के समय भी द्रव्य की प्रतीति नहीं हटती; इसलिए 'पर्याय में द्रव्य व्यापक है'—ऐसा निर्णय करनेवाले को मात्र विकार में ही व्यापकता नहीं रहती, परन्तु सम्यक्त्वादि निर्मल पर्यायों में व्यापकता होती है; और उसी के ऐसा सामान्यनय होता है।

इस प्रकार सामान्यनय से आत्मा का वर्णन किया; अब उसके साथ विशेषनय से आत्मा का वर्णन करते हैं। ●●

(17)
विशेषनय

विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि १७।

आत्मद्रव्य विशेषनय से, उसके एक मोती की भाँति, अव्यापक है (अर्थात् आत्मा विशेषनय से अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त माला का एक मोती सारी माला में अव्यापक है।)१७.

आत्मद्रव्य विशेषनय से माला के एक मोती की भाँति अव्यापक है; जैसे माला का एक मोती सम्पूर्ण माला में व्यापक नहीं है; इसलिए वह अव्यापक है; उसी प्रकार आत्मा की एक पर्याय, समस्त पर्यायों में व्याप्त नहीं होती; इसलिए विशेषनय से आत्मा व्यापक है।

यह जो अनन्त धर्म हैं, उन समस्त धर्मों को आत्मा ने धारण कर रखा है; इसलिए अनन्त धर्मवान अखण्ड आत्मा की प्रतीति में इन समस्त धर्मों की प्रतीति आ जाती है। यदि आत्मा के समस्त धर्मों में से एक भी धर्म का निषेध करे तो उसे धर्मी ऐसा अखण्ड आत्मा प्रतीति में नहीं आ सकता; और यथार्थ आत्मा प्रतीति में आये बिना किसी भी प्रकार कल्याण का मार्ग प्रगट नहीं होता।

द्रव्य अपेक्षा से आत्मा समस्त पर्यायों में व्यापक है—ऐसे व्यापक-स्वभाव को सामान्यनय जानता है, और आत्मा की एक-एक पर्याय समस्त पर्यायों में व्याप्त नहीं होती, इसलिए पर्याय अपेक्षा से अव्यापक-स्वभाव है—ऐसा विशेषनय जानता है।

'नय' स्व-परप्रकाशक प्रमाणज्ञान का अंश है; प्रमाण से जाने हुए अनन्त धर्मात्मक पदार्थ के एक अंश को मुख्य करके जाने, वह नय है। नयज्ञान वस्तु में एक धर्म को मुख्य करके जानता है; परन्तु उस समय वस्तु में जो दूसरे अनन्त धर्म विद्यमान हैं, उनका वह निषेध नहीं करता। यदि अन्य धर्मों का सर्वथा निषेध करके एक धर्म को ही जाने तो वस्तु का प्रमाणज्ञान नहीं है, और वह नय नहीं है किन्तु नयाभास है।

पर्याय अपेक्षा से आत्मा सर्व व्यापक नहीं है; क्योंकि एक पर्याय दूसरी पर्याय में व्याप्त नहीं होती; इसलिए एक पर्याय में से दूसरे पर्याय प्रगट नहीं होती; इसलिए पर्याय प्रगट होने के लिये पर्याय के सन्मुख देखना नहीं रहा परन्तु सामान्य व्यापक ऐसे द्रव्य के समक्ष देखना रहा। मिथ्यात्वपर्याय दूर होकर द्रव्य के आश्रय से सम्यक्त्वपर्याय प्रगट हुई, उन दोनों पर्यायों में द्रव्य व्यापक है, परन्तु सम्यक्त्वपर्याय में मिथ्यात्वपर्याय व्यापक नहीं है; इस प्रकार द्रव्यरूप से आत्मा व्यापक है और पर्यायरूप से अव्यापक है। यदि पर्याय अपेक्षा से आत्मा अपनी सर्व पर्यायों में व्यापक हो तो मिथ्यात्व-पर्याय भी सर्व पर्यायों में व्यापक हो जाए, इसलिए पर्याय में से मिथ्यात्व कभी दूर ही नहीं हो सकेगा! इसलिए पर्याय अपेक्षा से आत्मा व्यापक नहीं है। मिथ्यात्वपर्याय दूर होकर सम्यक्त्वपर्याय होने से मानों सारा आत्मा ही बदल गया हो—ऐसा पर्याय अपेक्षा से ज्ञात होता है।

साधक की सम्यग्ज्ञान पर्याय बढ़कर केवलज्ञान नहीं होता परन्तु उस अपूर्ण पर्याय का अभाव होकर द्रव्य में से केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है; पूर्व की पर्याय का उस केवलज्ञान पर्याय में अभाव है। साधक की सम्यग्ज्ञान पर्याय हुई, वह केवलज्ञान पर्याय में अव्यापक है, परन्तु द्रव्य स्वयं केवलज्ञान पर्याय में व्यापक है। इसलिए, केवलज्ञान पर्याय प्रगट करने के लिये किसके सन्मुख देखना?—व्यापक ऐसे द्रव्य की सन्मुखता से ही केवलज्ञान प्रगट होता है। जहाँ साधक की निर्मल सम्यग्ज्ञान पर्याय भी केवलज्ञान पर्याय में व्याप्त नहीं होती, तब फिर रागादिभाव तो आत्मा की निर्मल पर्याय में कैसे व्याप्त होंगे?

पर्याय के आश्रय से पर्याय नहीं होती; क्योंकि एक पर्याय दूसरी पर्याय में अव्यापक है; मोक्षमार्ग की पर्याय में से मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होती; क्योंकि मोक्षपर्याय में मोक्षमार्ग की पर्याय अव्यापक है। जहाँ एक निर्मल पर्याय भी दूसरी पर्याय की सहायता नहीं करती, तब फिर शुभरागरूप विकारी पर्याय अथवा शरीरादि जड़ की पर्याय आत्मा के धर्म की पर्याय में सहायक हो—यह बात ही कहाँ रही? एक पर्याय का दूसरी पर्याय में अव्यापकपना है, इसलिए पर्याय का आश्रय छोड़, और सर्व पर्यायों में व्यापक ऐसे द्रव्य का आश्रय कर!

आत्मा अव्यापक है, अर्थात् उस-उस काल वर्तती पर्याय को ही वह प्राप्त करता है; वह एक के पश्चात् एक पर्याय को प्राप्त होता है, एक साथ समस्त पर्यायों को प्राप्त नहीं

होता;—ऐसा अव्यापकपना भी आत्मा का एक धर्म है; और वह त्रिकाल है। अव्यापकपना पर्याय अपेक्षा से है, तथापि वह धर्म तो आत्मद्रव्य का है; इसलिए पर्याय का व्यय हो जाने पर भी आत्मा के अव्यापक धर्म का नाश नहीं होता; दूसरे क्षण दूसरे क्षण की पर्याय में ही आत्मा व्याप्त होता है;—इस प्रकार उसका अव्यापक धर्म चलता ही रहता है। विशेषरूप से देखने पर उस-उस समय की पर्याय में आत्मा व्याप्त होता है और सामान्यरूप से देखने पर वह अपनी त्रैकालिक पर्यायों में व्यापक है।

अज्ञानी लोग किसी ईश्वर को सर्व पदार्थों में व्यापक मानते हैं, वह तो भ्रमणा है। यहाँ तो कहते हैं कि चैतन्यपरमेश्वर समान तेरा आत्मा ही तेरी समस्त पर्यायों में व्यापक है; इसके अतिरिक्त आत्मा में अन्य कोई व्यापक नहीं होता और न आत्मा किसी अन्य में व्याप्त होता है।—ऐसे अपने आत्मा का विश्वास कर तो उसके आश्रय से तेरा कल्याण प्रगट हो जाएगा। द्रव्यरूप से व्यापक और पर्यायरूप से अव्यापक—ऐसे दोनों धर्म आत्मा में एक साथ ही विद्यमान हैं।—ऐसे सर्व धर्मों से आत्मवस्तु का निर्णय करने से समस्त विरुद्ध पक्ष दूर होकर ज्ञान की निर्मलता होती है।

जिस प्रकार माला सर्व मोतियों में विद्यमान है, परन्तु माला का एक मोती दूसरे मोती में विद्यमान नहीं है। उसी प्रकार आत्मद्रव्य समस्त गुण-पर्यायों में व्यापक है, परन्तु उसकी एक पर्याय दूसरी पर्याय में व्यापक नहीं है। द्रव्य-गुण त्रिकाल ज्यों के त्यों रहते हैं और पर्यायें प्रतिक्षण नवीन-नवीन होती हैं। पहले क्षण अज्ञानदशा थी और दूसरे क्षण ज्ञानदशा हुई; तो वहाँ पहले की अज्ञान पर्याय दूसरी ज्ञान पर्याय में अव्यापक है, परन्तु द्रव्य तो दोनों पर्यायों में व्यापक है।

केवलज्ञान सादि-अनन्त ज्यों का त्यों रहता है, परन्तु उसमें से पहले समय की केवलज्ञान पर्याय दूसरे समय की पर्याय में व्याप्त नहीं होती। दूसरे समय 'ज्यों की त्यों' पर्याय होने पर भी 'वही की वही' पर्याय नहीं है। एक समय की पर्याय में तीन काल को जानने का सामर्थ्य है, तथापि वह स्वयं तो एक क्षण ही टिकती है। क्षायिकभाव को सादि-अनन्त कहा, वह तो प्रवाहरूप से है; परन्तु उसमें पहले क्षण का क्षायिकभाव दूसरे क्षण नहीं रहता; दूसरे क्षण दूसरा नवीन क्षायिकभाव प्रगट होता रहता है।—इस प्रकार पर्यायों

का परस्पर अव्यापकपना है। ऐसा यथार्थ निर्णय करने से पर्याय के आश्रय की बुद्धि छूटकर द्रव्यसन्मुख बुद्धि होने से साधकभाव प्रगट होता है।

चैतन्यमूर्ति आत्मा अनन्त धर्मों से महिमावन्त है। जिसे अपना अपूर्व आत्महित प्रगट करना हो, उसे आत्मा के स्वभाव को यथावत् समझना चाहिए। आत्मस्वभाव को यथावत् समझे बिना उसकी महिमा नहीं आती और पर की महिमा दूर नहीं होती। आत्मा की महिमा आये बिना ज्ञान उसमें स्थिर नहीं होता अर्थात् आत्महित प्रगट नहीं होता। आत्मा को जानने से उसकी महिमा आती है और ज्ञान उसमें स्थिर होता है, इसलिए आत्महित प्रगट होता है। इसलिए जो जीव आत्महित का कामी हो, उसे सत्समागम से आत्मा के स्वभाव को जानना चाहिए।

प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है और उसमें अनन्त धर्म हैं;—ऐसी वस्तुस्वरूप की बात जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र तो सुनने को भी नहीं मिल सकती। सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य मतवादियों ने वस्तुस्वरूप को यथार्थ नहीं जाना है परन्तु अपनी-अपनी कल्पनानुसार उसकी कल्पना कर ली है। जगत में अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु स्वतन्त्र-स्वयंसिद्ध तत्त्व हैं; वह प्रत्येक पदार्थ एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित है; प्रत्येक आत्मा असंख्यप्रदेशी और अनन्त धर्मों से परिपूर्ण है—ऐसी बात सर्वज्ञ-शासन के अतिरिक्त अन्य कहाँ है ?

श्री समन्तभद्राचार्यदेव स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं कि 'हे जिनेन्द्र! सारा जगत प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षणवाला है—ऐसा जो तेरा वचन है, वह तेरी सर्वज्ञता को घोषित करता है।' ध्रुवता-अपेक्षा से वस्तु नित्य है और उत्पाद-व्यय अपेक्षा से वस्तु अनित्य है; इस प्रकार एक ही वस्तु में नित्य-अनित्यपना एक ही साथ विद्यमान है। अज्ञानियों को यह बात विरोधाभास जैसी लगती है कि अरे! जो नित्य हो, वही अनित्य कैसे हो सकता है ? प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं—यह बात अज्ञानियों की समझ में नहीं आती। परन्तु द्रव्यरूप से जो वस्तु नित्य है, वही वस्तु पर्यायरूप से अनित्य है—ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप समझने से ज्ञानियों को तो प्रमोद आता है कि अहो! ऐसी अपूर्व बात हमने पहले कभी नहीं सुनी थी।

मिथ्याज्ञान का विषय जगत में नहीं है अर्थात् मिथ्याज्ञान निरर्थक है

वस्तु एकसाथ अनन्त धर्मोंवाली है; उसे न मानकर वस्तु को एकान्त क्षणिक या एकान्त नित्य ही माने तो वह ज्ञान मिथ्या है; और उस मिथ्याज्ञान के विषयभूत कोई वस्तु इस जगत में नहीं है। जिस ज्ञान के अभिप्रायानुसार वस्तु जगत में न हो, उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। जगत में पदार्थ जिस स्वरूप से सत् हैं, उस स्वरूप से न मानकर असत् कल्पना करता है; इसलिए वह ज्ञान असत् है। उस मिथ्याज्ञान का विषय अर्थात् उसकी कल्पनानुसार पदार्थ इस जगत में हैं ही नहीं। जगत में मिथ्याज्ञान है परन्तु उसका ज्ञेय नहीं है। अहो! सारा जगत सम्यग्ज्ञान का ही विषय है। यदि ज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वरूप हो तो वह ज्ञान मिथ्या नहीं कहलाता; परन्तु जिस ज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वरूप न हो, उस ज्ञान को मिथ्या कहते हैं अर्थात् मिथ्याज्ञान का विषय ही जगत में नहीं है। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण:—

जैसे कोई कहे कि मैं आकाश के फूल को तोड़ता हूँ; तो उसकी बात मिथ्या है, क्योंकि आकाश का फूल जगत में है ही नहीं। उसी प्रकार कोई माने कि मैं परद्रव्य की क्रिया करता हूँ; तो उसकी मान्यता भी मिथ्या है क्योंकि जगत में कोई आत्मा ऐसा नहीं है कि जो परद्रव्य की क्रिया कर सके। जिस प्रकार आकाश का फूल जगत में कोई वस्तु ही नहीं है, उसी प्रकार पर की क्रिया कर सके, ऐसी वस्तु ही जगत में नहीं है। इसलिए 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ'—ऐसी मिथ्या मान्यता का विषय इस जगत में नहीं है। वह मिथ्या मान्यता पर में निरर्थक और आत्मा में अनर्थकारी है।

जगत में अज्ञानी का मिथ्या-अभिप्राय है परन्तु उसके मिथ्या-अभिप्रायानुसार ज्ञेय पदार्थ जगत में नहीं है। कोई ऐसा माने कि 'जगत में एक सर्व व्यापक आत्मा ही है और दूसरा सब सर्वथा भ्रम है,' तो उसका ज्ञान मिथ्या है; उसके मिथ्याज्ञानानुसार जगत में वस्तुस्वरूप नहीं है।

कोई ऐसा माने कि 'आत्मा सर्वथा कूटस्थ नित्य ही है,' तो उसका ज्ञान भी मिथ्या; क्योंकि उसकी मान्यतानुसार सर्वथा कूटस्थ आत्मा जगत में है ही नहीं।

कोई कहे कि—उसने आत्मा को तो माना है न? इतना तो उसका सत्य है न?

उत्तरः—उसने वास्तव में आत्मा को माना ही नहीं है। उसने जिस स्वरूप से आत्मा को माना है, वैसा आत्मा जगत में है ही नहीं; और जैसा आत्मा है, वैसा नहीं माना है; इसलिए उसने आत्मा को नहीं माना है।

इसी प्रकार कोई ऐसा माने कि 'आत्मा सर्वथा क्षणिक ही है'—तो उसका ज्ञान भी मिथ्या है; क्योंकि उसकी मान्यतानुसार सर्वथा क्षणिक आत्मा जगत में है ही नहीं। इस प्रकार मिथ्याज्ञान का विषय ही जगत में नहीं है।

कोई ऐसा माने कि 'पुण्य से धर्म होता है,' तो उसकी मान्यतानुसार ज्ञेय जगत में नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या है।

उपादान-निमित्त के सम्बन्ध में कोई ऐसा माने कि निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है, तो उसके ज्ञान का विषय जगत में नहीं है; क्योंकि निमित्त के कारण उपादान का कार्य हो, ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या है। जिस प्रकार वन्ध्या-सुत कोई वस्तु ही नहीं है, उसी प्रकार जगत में मिथ्याज्ञान का विषय ही नहीं है; अर्थात् मिथ्याज्ञान निरर्थक है।

आत्मा अनन्त धर्मों के पिण्डस्वरूप है; वह सम्यग्ज्ञान का विषय है। अनन्त धर्म के पिण्डस्वरूप आत्मा को जाने बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा को बतलाने के लिये यहाँ आचार्यदेव ने ४७ नयों से उसका वर्णन किया है; उसमें १७ नयों का विवेचन आ गया है; अब, नित्यनय और अनित्यनय से आत्मा का वर्णन करते हैं। ●●

(18)

नित्यनय

नित्यनयेन नटवदवस्थायि १८।

आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है (अर्थात् आत्मा नित्यनय से नित्य-स्थायी है, जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वाँग धारण करता हुआ भी नट तो वह का वही नित्य है।) १८.

आत्मा नित्यनय से नट की भाँति अवस्थायी है; जेसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वांग धारण करता होने पर भी नट तो वह ही है; उसी प्रकार पर्यायें क्षण-क्षण में पलटती होने पर भी द्रव्यरूप से आत्मा नित्य दिखनेवाला है, ऐसा आत्मा का धर्म है, उसे 'नित्यनय' जानता है।

यहाँ आत्मा को अवस्थायी कहा, उससे ऐसा नहीं समझना कि उसकी पर्याय बदलती ही नहीं! यहाँ तो, नित्यनय से आत्मा का स्वभाव कैसा है, वह बतलाने के लिये उसे अवस्थित कहा है; मनुष्य, स्वर्ग, नरकादि के अनन्त अवतार हुए हैं, तथापि आत्मा वह का वही अवस्थित है; अवतार बदलने से आत्मा नहीं बदल जाता—ऐसा उसका नित्य धर्म है और उसी समय उसमें अनित्य धर्म भी साथ ही विद्यमान है। यदि आत्मा के अनित्य धर्म को न माने अर्थात् उसकी पर्याय प्रतिक्षण बदलती है, ऐसा न माने और सर्वथा अवस्थित ही माने तो उसका श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं होता; इसलिए उसका नित्य भी सच्चा नहीं रहता। वस्तु के अनित्य धर्म को माने बिना बन्ध-मोक्ष इत्यादि कोई कार्य सिद्ध नहीं होते।

जिस प्रकार नाटक में काम करनेवाला नट कभी राम का वेश धारण करता है और कभी रावण बनता है; कभी भर्तृहरी का वेश धारण करता है और कभी पिंगला बन जाता है;—इस प्रकार अनेक वेश धारण करने पर भी नट तो वह का वही है। उसी प्रकार इस संसाररूपी नाटक में जीव कभी राजा, कभी भिखारी, कभी मनुष्य और कभी देव, कभी

पुरुष और कभी स्त्री—इस प्रकार भिन्न-भिन्न क्षणिक पर्यायों को धारण करता है, तथापि स्वयं जीवरूप से नित्य अवस्थित है; ऐसा उसका धर्म है।

नाटक में राम-रावणादि पृथक्-पृथक् वेश धारण करने पर भी नट स्वयं नटरूप से स्थायी रहता है; नटपना छोड़कर वह कहीं भैंसा या सिंह नहीं हो जाता; उसी प्रकार आत्मा स्वर्ग-नरक, राजा और मुनित्व आदि नवीन-नवीन क्षणिक पर्यायें धारण करने पर भी, आत्मा मिटकर अन्यरूप नहीं हो जाता, परन्तु आत्मारूप से नित्यस्थित रहनेवाला है। आत्मा में एक साथ अनन्त धर्म हैं; उनमें से, नित्यनय से देखने पर आत्मा नित्यधर्मस्वरूप प्रतिभासित होता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित ही प्रत्येक वस्तु है; आत्मा भी एक समय में उत्पाद-व्यय और ध्रुवता—ऐसे तीन अंशों को धारण करता है। उसमें उत्पाद-व्यय-अपेक्षा से क्षणिकता है और ध्रुव-अपेक्षा से नित्यता। ध्रुव-अपेक्षा से देखने पर आत्मा नित्यरूप से दिखायी देता है और उत्पाद-व्यय अपेक्षा से देखने पर वही आत्मा क्षणिकरूप से दिखायी देता है। अहो! ऐसा वस्तुस्वभाव सर्वज्ञ भगवान के शासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सुनने को नहीं मिलता। सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त ऐसा अनेकान्तस्वरूप नहीं जाना जा सकता और जो ऐसा अनेकान्तस्वरूप जाने, वह सर्वज्ञ हुए बिना नहीं रहता।

सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त दूसरों ने पूर्ण वस्तुस्वरूप को जाने बिना उसके एक-एक अंश को पकड़कर उसी को वस्तुस्वरूप मान लिया है। जिस प्रकार अन्धे के हाथ में हाथी का जो अंग आया, उसी को उसने पूरा हाथी मान लिया; उसी प्रकार अज्ञानियों ने वस्तु के एक धर्म को पकड़कर उसी को पूर्ण वस्तु मान लिया है। वेदान्तादि वस्तु के एक नित्य धर्म को पकड़कर आत्मा को एकान्त नित्य ही मानते हैं और बौद्ध अकेले अनित्य धर्म को पकड़कर आत्मा को एकान्त क्षणिक ही मानते हैं; उन्होंने यथार्थ वस्तु को नहीं जाना है और उनका अंश भी सच्चा नहीं है। जैन में सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि आत्मा में नित्यपना और अनित्यपना—दोनों धर्म एक साथ ही विद्यमान हैं; और इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म एक साथ स्थित हैं। इस प्रकार पूर्ण वस्तु के स्वीकारपूर्वक किसी अपेक्षा से उसे नित्य और किसी अपेक्षा से अनित्य कहे तो उसके नित्य-अनित्य दोनों

अंश सत्य हैं। वेदान्तमतवादी वस्तु को एकान्त नित्य मानते हैं परन्तु उसके साथ विद्यमान अनित्य अंश का स्वीकार नहीं करते, इसलिए उनका नित्य अंश भी सच्चा नहीं है; और बौद्धमतवादी वस्तु को एकान्त क्षणिक मानते हैं परन्तु उसके साथ विद्यमान दूसरे नित्य अंश को स्वीकार नहीं करते; इसलिए उनका क्षणिक अंश भी सच्चा नहीं है। जिसका अंशी सच्चा नहीं है, उसका अंश भी मिथ्या है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना उसके एक धर्म का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। एक धर्म से वस्तु का कथन करते समय दूसरे अनन्त धर्म भी उसी समय वस्तु में विद्यमान हैं; उनके स्वीकार बिना एक धर्म की स्वीकृति भी सच्ची नहीं है। इसलिए सभी पक्षों से वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए।

नित्यस्थायी वस्तु को ध्रुव-अवस्थित कहा, परन्तु उसी समय वस्तु में अनित्यधर्म भी विद्यमान है; इसलिए अब अनित्यनय से उसका वर्णन करते हैं। ●●

(19)
अनित्यनय

अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि १९।

आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति, अनवस्थायी है (अर्थात् आत्मा अनित्यनय से अनित्य है, जैसे नट के द्वारा धारण किये गये राम-रावणरूप स्वाँग अनित्य हैं।)१९.

आत्मद्रव्य अनित्यपना से, राम-रावण की भाँति अनवस्थायी है। जैसे नट ने धारण किये हुए राम-रावण इत्यादि स्वाँग क्षणिक हैं; उसी प्रकार अनित्यधर्म की अपेक्षा से देखने पर आत्मा क्षणिक है। अनित्यनय से आत्मा को अनित्य धर्मरूप देखते समय भी धर्मी को आत्मा की नित्यता का भान साथ ही वर्तता है।

आत्मा की नित्यता के बिना दु:ख-सुखादि पर्यायें द्रव्य की हैं—ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। दु:ख दूर करके सुख प्रगट किया—उन दोनों दशाओं में अखण्डरूप रहकर जीव उस सुख-दु:ख का वेदन करता है—ऐसा नित्यता के बिना सिद्ध नहीं हो सकता; और अनित्यता के बिना दु:ख को दूर करके सुख करना, श्रवण-मनन करना इत्यादि कोई कार्य नहीं हो सकते। नित्यता और अनित्यता—ऐसे दोनों धर्मों के बिना आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मा में अनित्यपना और नित्यपना—यह दोनों धर्म त्रिकाल हैं।

कोई ऐसा कहे कि—'संसारदशा के समय तो आत्मा में अनित्यधर्म है, परन्तु सिद्ध होने के पश्चात् वह नहीं रहता;'—तो ऐसा नहीं है। सिद्ध के आत्मा में भी अनित्यधर्म विद्यमान है। केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट होने के पश्चात् ज्यों के त्यों अनन्त काल रहते हैं, तथापि वहाँ भी प्रतिक्षण परिणमन तो होता ही रहता है।

दु:ख और सुख दोनों अवस्थाओं में यदि आत्मा की अखण्डता न हो तो दु:ख दूर होकर सुख प्रगट हुआ, उसका उपभोग कौन करेगा? और यदि आत्मा में क्षणिकता न हो तो दु:ख का नाश होकर सुख कैसे प्रगट होगा? इसलिए आत्मा ध्रुवरूप से नित्यस्थायी

होने पर भी, उत्पाद-व्ययरूप से क्षणिक भी है; द्रव्यरूप से अखण्ड रहकर प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायरूप उत्पन्न होता है और पुरानी पर्याय से नाश को प्राप्त होता है। जिस प्रकार राम के वेश के समय रावण का वेश नहीं होता और रावण के वेश के समय राम का वेश नहीं होता; इसलिए वेश अपेक्षा से क्षणिकता है, परन्तु नट तो सभी स्वांगों में अखण्डरूप से विद्यमान है। उसी प्रकार आत्मा में संसार के समय सिद्धदशा नहीं होती और सिद्धदशा के समय संसार नहीं होता; इसलिए पर्याय-अपेक्षा से आत्मा अनित्य है और संसार या सिद्ध—समस्त पर्यायों में अखण्डरूप से आत्मा विद्यमान है, उस अपेक्षा से वह नित्य है।

शास्त्र में कभी-कभी केवलज्ञान और सिद्धदशा को 'कूटस्थ' भी कहा जाता है; कूटस्थ कहकर वहाँ परिणमन का अभाव नहीं बतलाना है, परन्तु प्रतिसमय परिणमन होने पर भी सदृशरूप केवलज्ञान और सिद्धदशारूप ही परिणमन होता है; अन्यथा परिणमन नहीं होता, उस अपेक्षा से उसे कूटस्थ कहा है—ऐसा समझना। 'उत्पादव्ययध्रोव्ययुक्तं सत्'—अर्थात् जो सत् हो, वह निरन्तर उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित ही होता है। उत्पाद -व्यय-ध्रुव कहो अथवा नित्य-अनित्य धर्म कहो; उसके बिना कोई वस्तु हो ही नहीं सकती।

एक बार एक वेदान्ती चर्चा सुनने आया। थोड़ी देर बैठकर चर्चा सुनी; लेकिन जब अनित्य पर्याय की बात आयी कि भड़क उठा; और 'मुझे अनित्य पर्याय की बात नहीं सुनना है'—ऐसा कहकर भागा। किन्तु भाई! इतना तो विचार कर कि, तू पहले की अपेक्षा कुछ नवीन जानने के लिये आया—वही तेरे ज्ञान की अनित्यता सिद्ध करता है। पहले सुनने की जिज्ञासा से आया और फिर ऐसा लगा कि मुझे यह बात सुनना ही नहीं है; वहाँ तेरे विचार बदले या नहीं? यदि आत्मा की सर्वथा नित्यता हो तो ऐसा विचारों का परिवर्तन नहीं हो सकता और यदि आत्मा में अनित्यता बिल्कुल न हो तो 'आत्मा नित्य है'—ऐसा उपदेश ही नहीं हो सकता, क्योंकि सामनेवाला जीव आत्मा को नित्य नहीं मानता और अब उससे नित्य मानने को कहते हैं; वहीं उसकी मान्यता की क्षणिकता सिद्ध हो गई।

इस प्रकार आत्मा में नित्यधर्म और अनित्यधर्म—दोनों एक साथ ही विद्यमान हैं। 'नय' उन्हें मुख्य-गौण करके जानते हैं, परन्तु वस्तु में तो समस्त धर्म एक साथ ही विद्यमान हैं।

यहाँ उन्नीसवें अनित्यनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(20)

सर्वगतनय

सर्वगतनयेन विस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति २०।

आत्मद्रव्य सर्वगतनय से, खुली हुई आँख की भाँति, सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है। २०.

साधक जीव अपने श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख करके अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा को स्वानुभव से जानता है; सर्वगतनय से देखने पर वह आत्मा, खुली हुई आँख की भाँति सर्व व्यापी है। जिस प्रकार खुली हुई आँख सर्व पदार्थों में प्रविष्ट हो जाती है; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान सर्व पदार्थों में प्रविष्ट हो जाता है, इसलिए आत्मा सर्व में व्यापक है। वास्तव में आत्मा कहीं अपना स्वक्षेत्र छोड़कर परद्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो जाता, परन्तु अपने ज्ञानसामर्थ्य द्वारा वह सर्व पदार्थों को जान लेता है; उस अपेक्षा से उसे सर्व व्यापक कहा है—ऐसा समझना। यह भी आत्मा का एक धर्म है और उसी समय उसके साथ दूसरे अनन्त धर्म विद्यमान हैं। अन्य धर्मों का निषेध करके एकान्त एक धर्म को ही पकड़ बैठे तो वह नय नहीं कहलाता; वह तो मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान में नय नहीं होते।

जिस प्रकार खुली हुई आँख सबको देखती है, इसलिए 'आँख सर्वत्र प्रविष्ट हो जाती है'—ऐसा कहा जाता है; उसी प्रकार आत्मा लोकालोक के समस्त पदार्थों को जानता है, उस अपेक्षा से उसमें सर्वगत धर्म है। आत्मा का ज्ञान सर्व को जानते हुए मानों सर्व में व्याप्त हो जाता हो!—इस प्रकार सर्वगत धर्म कहकर ज्ञानसामर्थ्य बतलाया है। आत्मा स्वयं विस्तृत होकर कहीं सर्व पदार्थों में व्याप्त नहीं हो जाता, परन्तु पूर्ण ज्ञान विकसित होने से वह सर्व पदार्थों को जान लेता है; उस अपेक्षा से उसे 'सर्वगत' कहा है। अपने आत्मा में ऐसा सर्वगत स्वभाव सदैव विद्यमान है; उसकी प्रतीति करने से ज्ञान का परिणमन विकासरूप होकर ऐसा विकसित होता है कि एक समय में सर्व को जान ले! केवलज्ञान होने से पूर्व भी आत्मा में 'सर्वगत धर्म' तो है; किन्तु जो उसकी प्रतीति करे,

उसे केवलज्ञान प्रगट होता है। आत्मा के सर्वगतपने की प्रतीति करे और सर्वज्ञता प्रगट न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

प्रश्न : एक जीव सर्वज्ञ होने से उसके केवलज्ञान में लोकालोक के सर्व भाव ज्ञात हुए, और जैसा उसके ज्ञान में ज्ञात हुआ है, वैसा ही होना है, तो फिर जीवों को पुरुषार्थ करना कहाँ रहा? केवली भगवान ने जो देखा है, उसमें कुछ फेरफार तो होना नहीं है?

उत्तर : केवली भगवान के ज्ञान में जैसा ज्ञात हुआ, वैसा ही होगा, उसमें कुछ भी फेरफार नहीं होना है—यह बात सच है, परन्तु उससे पुरुषार्थ नहीं उड़ जाता, अपितु उसी में ज्ञातामात्रपनेरूप यथार्थ पुरुषार्थ आ जाता है। अहो! सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान का अचिंत्य सामर्थ्य जिसने अपनी प्रतीति में लिया, उसे अपने ज्ञानस्वभाव की ओर का अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है। भगवान को केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह कहाँ से आया?—ज्ञानस्वभाव में से। इसलिए केवलज्ञान का निर्णय करने से ज्ञानस्वभाव की ओर दृष्टि हो जाती है और मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है।

केवली भगवान को जो केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह आत्मा की शक्ति में से ही प्रगट हुआ है; कहीं बाह्य से या राग में से नहीं आया है। अहो! मेरे आत्मा में सर्वगतपना प्रगट हो, ऐसा सामर्थ्य है—इस प्रकार जिसने पर्याय में सर्वगत शक्ति का निर्णय किया, उसने स्वद्रव्यसन्मुख एकाग्रता द्वारा ही वह निर्णय किया है, इसलिए वह स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से मोक्षमार्ग में आ ही गया है और केवली प्रभु के सर्वगत ज्ञान में भी ऐसा ही भासित हुआ; उस जीव को अब अल्प काल में मोक्षदशा प्रगट हो जाएगी। देखो, यह आत्मा के सर्वगत धर्म की प्रतीति का फल!

एक धर्म को पृथक् करके प्रतीति में लेने की यह बात नहीं है, परन्तु एक धर्म का यथार्थ निर्णय करते हुए दृष्टि अखण्ड द्रव्य में प्रविष्ट हो जाती है। आत्मा के सर्वगत धर्म की प्रतीति किसी पर के सन्मुख देखने से नहीं होती; परन्तु सर्वगत धर्म आत्मा का है, इसलिए आत्मा के सन्मुख देखने से उसकी प्रतीति होती है। सर्वगत धर्म की प्रतीति करनेवाले को परसन्मुख देखना तो नहीं रहा और अपने में भी राग-द्वेष या अल्पज्ञता पर दृष्टि नहीं रही। 'अल्पज्ञता जितना ही मैं हूँ'—ऐसी प्रतीति नहीं रही; रागादि का आश्रय नहीं रहा और क्षणिक पर्याय पर या एक-एक धर्म के भेद पर भी दृष्टि नहीं रही, परन्तु

अनन्त धर्म को धारण करनेवाले अभेद द्रव्य पर दृष्टि गयी। अभेद द्रव्य की दृष्टि बिना उसके एक-एक धर्म का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार सर्वगत धर्म को स्वीकार करनेवाले जीव की दृष्टि में किसी भी पर का, विकार का, अल्पज्ञता का या भेद का आश्रय नहीं रहा परन्तु परिपूर्ण शुद्ध स्वद्रव्य का ही आश्रय रहा; स्वभाव के आश्रय से उसे अल्पकाल में सर्वज्ञदशा हुए बिना नहीं रहेगी।

'अहो, सर्व पदार्थों को जान लूँ—ऐसा मेरे ज्ञान का सामर्थ्य है, इसलिए मेरा आत्मा सर्वगत है'—इस प्रकार साधक धर्मात्मा को अपने सम्यग्ज्ञान में आत्मा का स्वभाव ज्ञात होता है, और उसी को 'सर्वगत नय' होता है। अभव्य को तीनकाल में कभी भी सर्वगतपना व्यक्त हो—ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है और उसे ऐसा सर्वगत धर्म प्रतीति में भी नहीं आता; जिसे ऐसा धर्म प्रतीति में आये, उसे सर्वगतपना (केवलज्ञान) प्रगट हुए बिना नहीं रहता। अभव्य जीव को केवलज्ञानावरणीय कर्म है, इसलिए उसमें भी केवलज्ञान की शक्ति तो है परन्तु वह केवलज्ञान प्रगट होकर सर्वगतपना हो, ऐसा धर्म उसमें नहीं है। धर्मी जीव को सर्वज्ञदशा प्रगट होने से पूर्व भी भावश्रुतज्ञान में अपने सर्वगत धर्म का निर्णय हो जाता है और अल्प काल में सर्वगतपना प्रगट हो —ऐसा ज्ञान उसमें होता है।

'सर्व जीव हैं सिद्धसम'—निश्चय से सर्व जीव सिद्ध जैसे हैं;—इस कथन में तो अभव्य जीव भी आ जाते हैं; परन्तु इस समय जो सर्वगत धर्म कहा जा रहा है, ऐसा सर्वगतपना प्रगट होने का धर्म उनमें नहीं है। किन्तु यहाँ पर की बात नहीं लेना है। यहाँ तो अपने आत्मा को जानने की बात है। जिसने अपने सर्वगत स्वभाव की प्रतीति की, उसकी पर्याय प्रतिक्षण निर्मल होती जाती है और अल्प काल में सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है। जिसने आत्मा के सर्वगत धर्म की प्रतीति की, उसके पर्याय में अल्पज्ञता और विकार होने पर भी 'मैं सदा अल्पज्ञतारूप या विकाररूप रहूँगा'—ऐसी शंका नहीं रहती, परन्तु वह तो नि:शंक है कि अपने स्वभाव के आश्रय से ही राग और अल्पज्ञता को तोड़कर मैं अल्प काल में सर्वज्ञ हो जाऊँगा। छोटे से छोटे धर्मात्मा को भी ऐसी नि:शंकता होती हे। यदि सर्वगत धर्म को जाने तो ऐसी नि:शंकता हुए बिना न रहे; और यदि ऐसी नि:शंकता न हो तो उसने सर्वगत धर्म को और आत्मा को जाना ही नहीं है।

'आत्मा तो सदैव अल्पज्ञ ही रहता है, आत्मा को तीन काल-तीन लोक का ज्ञान

कभी होता ही नहीं।' ऐसा जो मानता है, उसने तो आत्मा को अभव्य जैसा माना है; यदि अभव्य की मुक्ति हो तो ऐसी मान्यतावाले की मुक्ति हो! अभव्य जीवों को कभी सर्वज्ञता प्रगट होती ही नहीं। यदि कोई ऐसा माने कि 'आत्मा कभी सर्वज्ञ होता ही नहीं, वह तो अल्पज्ञ ही रहता है'—तो उसने अभव्य की अपेक्षा अपने आत्मा में कोई विशेषता नहीं मानी। यहाँ ऐसे जीवों की बात नहीं है। यहाँ तो जिसे अपने सर्वगतस्वभाव की प्रतीति हो जाती है और अल्प काल में ही सर्वज्ञदशा प्रगट होने की निःशंकता हो जाती है-ऐसे साधक जीव की बात है। जहाँ अपने सर्वगत धर्म को माना, वहाँ पूर्ण स्वभाव की प्रतीति हुई और अल्पज्ञता का, विकार का तथा निमित्त का आदरभाव दृष्टि में से छूट गया; इसलिए उसी में सम्यक्त्व का महान पुरुषार्थ आ गया। जिसे आत्मा के सर्वगत स्वभाव की प्रतीति हुई हो, वह ऐसा नहीं मानता कि 'सम्यग्दर्शन में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है।' चारित्र में आत्मा का पुरुषार्थ है परन्तु सम्यक्त्व में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है—यह मान्यता तो महान विपरीत है; प्रथम सम्यक्त्व के बिना जो चारित्रदशा अथवा मुनिपना का होना मानता है, उसे तो धर्म की इकाई की भी खबर नहीं है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन के बिना किसी भी प्रकार का धर्म नहीं होता, परन्तु अरे रे! मूढ़ जीवों को सम्यग्दर्शन की महिमा की खबर नहीं है, वे सम्यग्दर्शन के बिना ही धर्म मान रहे हैं।

यहाँ आत्मा को 'सर्वगत' कहा, उससे ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए कि एक आत्मा सर्व पदार्थों में व्यापक होगा! यहाँ तो सर्व को जानने के सामर्थ्य की अपेक्षा से आत्मा में सर्वगतपना कहा है, परन्तु आत्मा का ज्ञान कहीं पर में नहीं जाता। जिस प्रकार 'चंचल मनुष्य की आँखें चारों ओर पहुँच जाती हैं'—ऐसा कहा जाता है, परन्तु आँख कहीं अपने में से बाहर निकलकर पर में नहीं जाती; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान, पर को जानते समय आत्मा में से निकलकर कहीं पर में प्रविष्ट नहीं हो जाता, परन्तु सर्व को जानने का सामर्थ्य है, उस अपेक्षा से उसे 'सर्वगत' कहा जाता है। ऐसा सर्वगतपना आत्मा का एक धर्म है।

सर्वगत धर्म आत्मा का अपना है, इसलिए तीन काल-तीन लोक को जानने का सामर्थ्य अपने में से ही प्रगट होता है; शरीर के संहनन के कारण अथवा कर्म दूर होने के कारण आत्मा में सर्वगतपना प्रगट नहीं हुआ है। आत्मा के ज्ञानसामर्थ्य का परिपूर्ण विकास हो जाने से वह सर्व को जानता है, इसलिए सर्वगत है, परन्तु आत्मा कहीं क्षेत्र से सर्वगत नहीं है; क्षेत्र से तो असंख्यप्रदेशी ही है परन्तु सामर्थ्य से अनन्त है।

अहो! आत्मा में ऐसा अचिन्त्य ज्ञानसामर्थ्य है कि अपने स्वक्षेत्र में ही रहकर समस्त पदार्थों को एक समय में जान लेता है; सारे जगत में उसकी आन वर्तती है। तीन लोक के नाथ ऐसे चैतन्यसम्राट की आज्ञा जगत में सर्वत्र चलती है; उस ज्ञान की आज्ञा से बाहर जगत में कुछ नहीं होता।

देखो, अज्ञानी लोग ईश्वर को जगत्कर्ता कहते हैं, ऐसी यह बात नहीं है; परन्तु ज्ञानसामर्थ्य में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हो गये हैं और उसी प्रकार जगत में सब चल रहा है; जो सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात हुआ, उसमें कुछ भी फेरफार नहीं होता—इस अपेक्षा से ज्ञान की आन सारे जगत में वर्तती है—ऐसा कहा है। जो जीव सर्वगत-स्वभाव को जाने, उसे सर्वज्ञता प्रगट हुए बिना न रहे। साधक जीव स्वसन्मुख होकर अपनी ऐसी शक्ति की प्रतीति करता है और उसके अल्प काल में वह शक्ति विकसित हो जाती है। जो जीव ऐसी शक्ति की प्रतीति नहीं करता, उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो, जो जीव समझने के लिये तैयार होकर लालसापूर्वक पूछता है, उसे आचार्यदेव समझाते हैं; इसलिए उपादान-निमित्त की सन्धिसहित यह वर्णन है।

सर्वगतशक्ति आत्मा में त्रिकाल है; उस सर्वगतशक्ति का जो स्वीकार करे, उसे अपने ज्ञान के विकास के लिये किन्हीं निमित्तों के समक्ष देखना नहीं रहता क्योंकि निमित्तों में से सर्वगतशक्ति नहीं आती। सर्वगतशक्ति अपनी है। इसी प्रकार पुण्य-पाप या अल्पज्ञ पर्याय के सन्मुख भी देखना नहीं रहता क्योंकि उनके आधार से सर्वगतशक्ति स्थित नहीं है। सर्वगतशक्ति तो द्रव्य के आधार से स्थित है, इसलिए सर्वगतशक्ति का स्वीकार करनेवाले को द्रव्य-सन्मुख ही देखना रहता है। जिसकी दृष्टि में निमित्तों की या पुण्य की रुचि है, उसे अपने सर्वगतस्वभाव की प्रतीति नहीं है; और अपनी सर्वगतशक्ति को जाननेवाला जीव, पुण्य की या निमित्तों के आश्रय की रुचि नहीं करता। देखो, एक सर्वगतशक्ति की स्वीकृति में कितना उत्तरदायित्व आता है? सर्वगत धर्म की प्रतीति करनेवाले को निमित्त के, पुण्य के तथा पर्याय के आश्रय की दृष्टि छूटकर, अन्तर में चिदानन्द अखण्ड द्रव्यसन्मुख दृष्टि होना चाहिए। अखण्ड द्रव्य की दृष्टि किये बिना धर्म में एक डग भी नहीं चला जा सकता।

✦✦✦

इस परिशिष्ट में अनेक धर्मों से आत्मद्रव्य का वर्णन करके आचार्यदेव ने स्पष्ट वस्तुस्वरूप की पहिचान करायी है। जिसे सुखी होना हो, उसे यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानना चाहिए। जैसा वस्तुस्वभाव हो, वैसा ही जाने, तभी सच्चा ज्ञान प्रगट होता है और सच्चा ज्ञान हो, तभी उसके फलरूप सच्चा सुख प्रगट होता है। इसलिए सम्यग्ज्ञान ही धर्म है और वही सुख तथा शान्ति है। आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान में जाने तो उसकी महिमा आये और ज्ञान आत्मोन्मुख हो; इसलिए आत्मा और ज्ञान की एकता होने से बीच का राग टूट जाए, उसका नाम सम्यग्ज्ञान और वीतरागता है; वही सुख का सच्चा उपाय है, वही मोक्षमार्ग है, वही धर्म है। आत्मा का मूलस्वभाव जानने से ज्ञान एवं राग की एकत्वबुद्धि दूर हो और ज्ञान तथा स्वज्ञेय की (आत्मस्वभाव की) एकत्वबुद्धि हो, उसका नाम भेदविज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान है।

आत्मद्रव्य में सर्वगत धर्म है; उस धर्म द्वारा धर्मी ऐसे अखण्ड स्वद्रव्य की प्रतीति करके उसमें एकाग्र होने से सर्वगतपना (केवलज्ञान) प्रगट होता है। जिसने अपनी सर्वगतशक्ति की प्रतीति की, वह किसी पर से, विकार से या अल्पज्ञता के आधार से अपने केवलज्ञान का होना नहीं मानता। आत्मा सर्वगतशक्तिवाला है, उसी में से सर्वगतपना प्रगट होता है; उसकी प्रतीति करके उसमें एकाग्र होने से सर्वगत ज्ञान प्रगट हो जाता है। इस सर्वगत धर्म की मुख्यता से आत्मा को जानना, वह सर्वगतनय है; अभव्य को ऐसा सर्वगत ज्ञान कभी नहीं होता। जो सर्वगतनय से सर्वगत धर्मवाले आत्मा को जानता है, उसे सर्वगतपना प्रगट होता है—ऐसी यहाँ बात है क्योंकि सर्वगत धर्म की प्रतीति करनेवाले को अखण्ड आत्मस्वभाव का आश्रय होता है।

सम्यक्रूप एक-एक धर्म से आत्मा की प्रतीति करते हुए भी ध्रुवस्वभाव का ही आश्रय हो जाता है क्योंकि वे धर्म किसी पर के, विकार के या पर्याय के आश्रय से नहीं हैं, परन्तु धर्मी ऐसे अखण्ड द्रव्य के आश्रय से ही उसका प्रत्येक धर्म विद्यमान है; इसलिए उस द्रव्य के आश्रय से ही उसके धर्मों की यथार्थ प्रतीति होती है, किन्तु किसी निमित्त के या भेद के आश्रय से उनकी प्रतीति नहीं होती। यदि द्रव्य से उसके धर्म को पृथक् करके प्रतीति में लेने जाए तो वहाँ धर्मी का या धर्म का—किसी का सच्चा ज्ञान नहीं होता।

देखो, यह बात करके ऐसा बतलाते हैं कि हे जीव! तेरी अनन्त शक्तियाँ तुझमें एक

साथ भरी हैं, उन्हें तू सम्भाल! तू ही अपना सर्वशक्तिमान परमेश्वर है—ऐसा विश्वास करके अन्तर्मुख हो तो तेरी पर्याय में सर्वगत शक्ति प्रगट हो जाए। तेरी जितनी शक्ति है, वह सब तुझमें ही भरी है; इसलिए कहीं भी पराश्रय की आशा छोड़कर अपने स्वभाव का ही आश्रय कर। जीव अपनी शक्ति से परिपूर्ण है, परन्तु वह अपनी सम्भाल नहीं करता, इसलिए पराश्रय की भीख माँग-माँग कर भटक रहा है। यदि निजशक्ति को सम्भाले तो पराश्रय छूटकर स्वाश्रय से अल्प काल में सिद्ध हो जाए। जो अनन्त सिद्ध भगवन्त हुए हैं, वे सब निज शक्ति की सम्भाल करके उसी के आश्रय से सिद्ध हुए हैं।

आत्मा में सर्वगत धर्म त्रिकाल है, परन्तु उसकी प्रतीति करनेवाली जो पर्याय है, वह नवीन प्रगट होती है; और उस पर्याय को पर का, राग का तथा क्षणिक पर्याय का आश्रय नहीं रहता किन्तु त्रिकाली स्वभाव का ही आश्रय होता है।

देखो भाई! यह अन्तर की अचिन्त्य बात है; यह इन्द्रियों से ज्ञात हो—ऐसा स्थूल विषय नहीं है परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा सूक्ष्म विषय है। चैतन्य पदार्थ, मन-वाणी-देह से तो पार है और मन के संकल्प-विकल्पों से भी पार है। श्री सर्वज्ञभगवान शरीर-मन-वाणी से पार ऐसी अत्यन्त गहरी घाटी में ले जाकर चैतन्य के अपार निधान बतलाते हैं; उनका विश्वास करके हे जीव! अपने ज्ञानचक्षुओं में रुचि का अंजन लगा तो तुझे अपने चैतन्यनिधान दिखाई दें। अज्ञान से अन्ध हुए जीव अपने पास ही पड़े हुए निजनिधान को नहीं देखते; श्रीगुरु उन्हें सम्यक्श्रद्धारूपी अंजन आँजकर उनके निधान बतलाते हैं कि देखो! तुम्हारे निधान तुम्हारे अन्तर में ही भरे हैं; बाह्यदृष्टि छोड़कर अन्तर में दृष्टि करो तो सिद्ध भगवान जैसे ही निधान तुम्हारे में भरे हैं, वे तुम्हें दिखाई देंगे। एक चैतन्य की प्रतीति करने से अनन्त सिद्धभगवन्त, केवली और सन्तों की समस्त ऋद्धि तुम्हें अपने में ही दिखाई देगी, वह ऋद्धि तुम्हें कहीं ढूँढ़ना नहीं पड़ेगी। सन्त-महन्त जिस ऋद्धि को प्राप्त हुए हैं, वह उन्होंने अपने चैतन्य में से ही प्राप्त की है, कहीं बाह्य से प्राप्त नहीं की है। तुम्हारे चैतन्य में भी वह सब ऋद्धि भरी है; आँखें खोलकर देखो तो दिखायी देगी, किन्तु यदि पर में अपनी त्रद्धि लेने जाओगे तो अन्ध होकर घोर संसाररूपी वन में भटकोगे।

अज्ञानी जीव अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव की महिमा की प्रतीति नहीं करते और पुण्य-पाप के टुकड़े खाकर अनादि से भवचक्र में भटक रहे हैं; यहाँ आचार्य भगवान

करुणा करके उस भवभ्रमण से छूटने का मार्ग बतलाते हैं कि अन्तर्मुख होकर निजशक्ति की सम्भाल करो तो भवभ्रमण से मुक्त हो जाओगे!

अहो! आचार्यदेव चैतन्य के ऐसे निधान बतलाते हैं कि अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता न रहे। सुपात्र जीवों को सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे जीवो! तुम्हें चैतन्य के ऐसे निधान बतलाता हूँ कि किसी अन्य वस्तु की तुम्हें आवश्यकता ही न पड़े... अपने चैतन्य की महिमा देखते ही तुम्हें पर की महिमा छूट जाएगी... अनन्त धर्मस्वभावी तुम्हारा आत्मा ही चैतन्यमूर्ति भगवान है; तुम्हें किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है; तुम स्वयं ही जगत के निधानों को देखनेवाले हो! सदैव अल्पज्ञ सेवक ही बना रहे, ऐसा तुम्हारे आत्मा का स्वभाव नहीं है; तुम्हारा आत्मा तो सर्वज्ञ की बराबरी का है; जितना सर्वज्ञ ने किया, उतना करने की शक्ति तुममें भी भरी है। जो जीव ऐसी शक्तिवाले निजात्मा की प्रतीति करे, उसे किसी निमित्त के या विकल्प के आश्रय की श्रद्धा उड़ जाती है; पर्यायबुद्धि छूट जाती है और स्वयं अनन्त चैतन्यशक्ति का पिण्ड उसकी प्रतीति में आ जाता है.... वह सम्यग्दृष्टि होकर मोक्षमार्ग में विचरने लगता है... अन्तर्दृष्टि से वह स्वयं अपने को त्रिलोकीनाथ परमेश्वर के रूप में देखता है।

प्रथम जो जीव श्रुतज्ञानचक्षु खोलकर अन्तर के चैतन्यनिधान को देखे, उसके केवलज्ञानचक्षु भी खुले बिना नहीं रहते। इसलिए श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई! तू अपने ज्ञाननेत्रों को खोल! अपनी आँख खोलकर चैतन्यनिधान को देख! तेरा अपूर्व निधान बतलाने के लिये यह अंजन लगाया जा रहा है।

श्रुतज्ञान अनन्त किरणों से जगमगाते हुए सूर्य के समान है और नय उसकी एक किरण है; उसमें 'सर्वगतनय' आत्मा के सर्वगत धर्म को देखता है। 'सर्वगत' कहने से कहीं अटकना नहीं रहा। आत्मा, राग-द्वेष करके कहीं न तो अटके और न संसार में भटके—ऐसा उसका ज्ञानस्वभाव है। जहाँ उस स्वभाव की प्रतीति में लिया, वहाँ दृष्टि में तो भगवान हुआ, और अब अल्प काल में पर्याय से भी प्रभुता प्रगट होगी; अर्थात् एक समय में तीन काल-तीन लोक को जान ले, ऐसा सर्वगत ज्ञानसामर्थ्य विकसित हो जाएगा।

—यहाँ २० वें सर्वगत नय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(21)
असर्वगतनय

असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति २१।

आत्मद्रव्य असर्वगतनय से, मींची हुई (बन्द) आँख की भाँति, आत्मदर्शी (अपने में रहनेवाला) है। २१.

'सर्ववर्ती' धर्म के साथ आत्मा में एक 'आत्मवर्ती' धर्म भी है; असर्वगतनय से देखने पर आत्मा सर्ववर्ती नहीं है परन्तु आत्मवर्ती है। जिस प्रकार मींची हुई आँख अपने में ही विद्यमान है; उसी प्रकार असर्वगतनय से आत्मा अपने में ही विद्यमान है; इसलिए वह आत्मवर्ती है। यहाँ आत्मा को 'असर्वगतनय' से 'आत्मवर्ती' कहा, उसका अर्थ 'अल्पज्ञता' नहीं है; मींची हुई आँख का दृष्टान्त अल्पज्ञता बतलाने के लिये नहीं दिया है परन्तु 'आत्मवर्तीपना' बतलाने के लिये दिया है। आत्मा अपने ज्ञानसामर्थ्य से सर्व को जानता है, तथापि स्वयं अपने में ही लीन रहता है, सर्व में व्याप्त नहीं हो जाता; इसलिए वह सर्ववर्ती नहीं है परन्तु आत्मवर्ती है। समस्त ज्ञेयों को जान लेता है, उस अपेक्षा से आत्मा को सर्ववर्ती कहा है, परन्तु आत्मा परज्ञेयों में नहीं वर्तता, अपितु अपने में ही वर्तता है, उस अपेक्षा से वह आत्मवर्ती है। 'सर्ववर्ती' कहकर पर से भिन्नता बतलायी है।

अहो! समस्त पदार्थों को जानने पर भी ज्ञान परज्ञेयों में नहीं वर्तता, ज्ञान तो आत्मवर्ती है, आत्मा में ही लीन रहकर वह सर्व को जान लेता है; इसलिए परज्ञेयों के सन्मुख होकर उन्हें जानने की आकुलता छोड़ और अपने ज्ञान को स्वभावसन्मुख एकाग्र कर तो उसमें लोकालोक के समस्त ज्ञेय ज्ञात हो जायेंगे। देखो, यह चैतन्यपद का अचिन्त्य सामर्थ्य! अनन्त धर्मवाले चैतन्यपद की महिमा वाणी से नहीं कही जा सकती; ज्ञान में परिपूर्ण ज्ञात हो सकती है परन्तु वाणी से उसका वर्णन नहीं हो सकता। इसलिए कहा है कि:—

जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,
कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।
उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,
अनुभवगोचार मात्र रहा वह ज्ञान जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥

—यहाँ परिशिष्ट के प्रारम्भ में भी आचार्यदेव ने कहा था कि श्रुतज्ञानपूर्वक स्वानुभव से आत्मा प्रमेय होता है। परिपूर्ण प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान में होता है। ऐसे आत्मा की महिमा को जाने बिना बाह्य में चाहे जितने प्रयास करे परन्तु धर्म नहीं हो सकता।

जिस प्रकार आँख सर्व पदार्थों को जानती है, तथापि आँख तो आँख में ही रहती है, कहीं बाहर निकलकर अन्य पदार्थों में नहीं जाती; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान सर्व ज्ञेयों को जानता है, तथापि वह अपने स्वक्षेत्र में ही रहता है। आत्मा की पूर्ण ज्ञानशक्ति विकसित होने पर वह कहीं बाहर फैल जाती है, ऐसा नहीं है। जहाँ चैतन्य का दिव्य केवलज्ञान जगमगा उठा, वहाँ भाव से शुद्ध शक्ति की अनन्तता होती है परन्तु क्षेत्र से अनन्तता नहीं होती। असंख्यप्रदेशी क्षेत्र में अनन्त सामर्थ्य भरा है—ऐसी चैतन्य की महिमा है। केवलज्ञान का क्षेत्र अपने आत्मानुसार ही है, इसलिए केवलज्ञान प्रगट करने के लिये कहीं बाह्य में एकाग्र नहीं होना पड़ता, किन्तु आत्मा में ही एकाग्र होने से केवलज्ञान होता है। जिस प्रकार मींची हुई आँख स्वयं अपने में ही विद्यमान है; उसी प्रकार आत्मा परसन्मुख हुए बिना और पर में प्रविष्ट हुए बिना स्वयं अपने में ही रहकर जानता है; इसलिए वह आत्मवर्ती है—ऐसा असर्वगतनय जानता है।

लोकालोक को जानने पर भी आत्मद्रव्य अपने में ही स्वसन्मुख रहता है, इसलिए वह अपने में ही वर्तता है; और पर को जानते हुए पर में व्याप्त होता है—ऐसा कहना, वह उपचार है, तथा स्व में ही व्याप्त रहता है—वह परमार्थ है। एक जीव अनन्त को जानने पर भी स्वयं उन अनन्त पदार्थोंरूप नहीं हो जाता, स्वयं तो अपने एकरूप रहकर ही जानता है।

देखो, केवलज्ञान का परिपूर्ण सामर्थ्य विकसित हो गया है; उसमें समस्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं, इसलिए उसे 'सर्वगत' कहकर उसमें सर्व पदार्थों का निमित्तपना भी बतलाया है।

केवलज्ञान में जगत के सर्व पदार्थ निमित्त हैं, परन्तु ज्ञान में ऐसे निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की पूर्णता कब होती है ?—निमित्त की अपेक्षा छोड़कर ज्ञानस्वभाव में एकाग्र हो तब। केवलज्ञान का विषय तो 'सर्व' है और मिथ्याज्ञान का विषय जगत में है ही नहीं। मिथ्याज्ञान में निमित्त होते हैं, परन्तु जैसा मिथ्याज्ञान मानता है, वैसा सामनेवाली वस्तुओं का स्वरूप नहीं है; इसलिए मिथ्याज्ञान का विषय जगत में नहीं है।

कोई जीव सामनेवाली वस्तु को अपने ज्ञान से जाने, वहाँ उस वस्तु में ज्ञान का ज्ञेयरूप निमित्त होने का धर्म है।

उसी वस्तु के लक्ष्य से कोई जीव राग–द्वेष करे तो उसके राग–द्वेष में निमित्त हो, ऐसा भी उस वस्तु का धर्म है।

कोई जीव उस वस्तु के लक्ष्य से मिथ्याज्ञान करे तो वहाँ सामनेवाली वस्तु को मिथ्याज्ञान का निमित्त कहा जाता है, परन्तु उसके मिथ्याज्ञान के अनुसार सामनेवाली वस्तु का स्वरूप नहीं है; इसलिए वह 'मिथ्याज्ञान का विषय' नहीं है। अहो! सारा जगत सम्यग्ज्ञान का ही विषय है।

जो ज्ञान ऐसा माने कि 'आत्मा सर्वथा क्षणिक ही है अथवा सर्वथा नित्य ही है'— तो उस ज्ञान के विषयभूत हो, ऐसी वस्तु में नहीं है, इसलिए वह ज्ञान मिथ्या है; उस मिथ्याज्ञान में नय भी नहीं होते। नय तो कब कहलाते हैं ?—कि वस्तु का प्रमाणज्ञान हुआ हो, तब नय कहलाते हैं। परन्तु वस्तु के भान बिना एकान्त नित्य या एकान्त क्षणिक माने तो नय नहीं कहा जा सकता; वह तो कुनय है। मिथ्याज्ञान में नय नहीं होते, मिथ्याज्ञान का विषय भी नहीं होता, परन्तु मिथ्याज्ञान में निमित्त तो होते हैं।

प्रत्येक आत्मा अनन्त धर्मों से परिपूर्ण है; इतने महान आत्मा को पूर्णरूप से जाने बिना श्रद्धा–ज्ञान में सच्ची शक्ति नहीं आती, इसलिए वे सम्यक् नहीं होते। आत्मा की जितनी महिमा है, उतना उसे जानने से श्रद्धा–ज्ञान उसके सन्मुख होकर सम्यक् हो जाते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक आत्मा में अपने अनन्त धर्म हैं; उसी प्रकार प्रत्येक पुद्गल परमाणु में भी उसके अपने अनन्त धर्म हैं। जगत के प्रत्येक द्रव्य में अपने–अपने अनन्त धर्म हैं; परन्तु यहाँ तो आत्मा की ही प्रधानता है। सर्व का ज्ञाता तो आत्मा है; आत्मा के बिना 'दूसरे

का अस्तित्व है'—ऐसा कौन जानेगा? इसलिए 'ज्ञाता' रूप से आत्मा की महिमा है। आत्मा सर्व को जानता है; इसलिए सर्व द्रव्यों में आत्मा ही उत्तम पदार्थ है।—ऐसे आत्मा को जानना, वह मोक्ष का कारण है।

—ऐसे आत्मा को जानने के लिये जिज्ञासु शिष्य ने प्रश्न किया था; उसके उत्तर में 'आत्मद्रव्य अनन्त धर्मात्मक है'—ऐसा कहकर, पश्चात् आचार्यदेव ने ४७ धर्मों से उसका वर्णन किया है; उसमें २० वें बोल में 'सर्वगतनय से सर्ववर्ती' कहकर ज्ञान का परिपूर्ण जानने का सामर्थ्य बतलाया था, और २१ वें बोल में 'असर्वगतनय से आत्मवर्ती' कहकर ज्ञान पर में प्रविष्ट होकर नहीं जानता परन्तु अपने में रहकर ही जानता है – ऐसा बतलाया है।

—यहाँ २१ वें असर्वगतनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

✦✦✦

इस परिशिष्ट में ४७ नयों से आत्मा का वर्णन करने के पश्चात् 'आत्मा कैसा है'—तत्सम्बन्धी कथन समाप्त करते हुए आचार्यदेव ऐसा कहेंगे कि—'इस प्रकार स्यात्कारश्री के निवास के वश वर्तते हुए नयसमूहों द्वारा देखे तो भी और प्रमाण द्वारा देखे तो भी, स्पष्ट अनन्त धर्मोंवाले निजात्मद्रव्य को अन्तर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखता ही है।'—इसलिए किसी भी नय से आत्मा का वर्णन किया हो परन्तु उसका तात्पर्य तो अन्तर में शुद्ध चैतन्यमात्र निजात्मद्रव्य को देखना ही है—यह अवश्य ध्यान रखना।

(22)
शून्यनय

शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि २२।

आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है। २२.

आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भाँति, अकेला (अमिलित) भासित होता है। जिस प्रकार खाली घर में कोई नहीं होता; उसी प्रकार शून्यनय से देखने पर आत्मा पर से बिल्कुल खाली, अकेला है; वह किसी के साथ मिला हुआ नहीं है।

आत्मा में पर का बिल्कुल अभाव है, इसलिए पर से आत्मा बिल्कुल खाली एकाकी है; जिस प्रकार कोई घर खाली पड़ा होता है; उसी प्रकार आत्मा का चैतन्य-गृह पर से बिल्कुल खाली है; चैतन्य-गृह में किसी पर का प्रवेश नहीं है। वास्तव में त्रिकाली चैतन्य-गृह में विकल्प का भी प्रवेश नहीं है। शून्यनय से देखने पर आत्मा अकेला दिखायी देता है; अकेला अर्थात् दूसरे के संयोग से रहित; अपने में अपने अनन्त-धर्म तो एकरूप हैं परन्तु पर से बिल्कुल खाली होने से अकेला है। आत्मा निजस्वभाव से तो परिपूर्ण भरा है, परन्तु पर से खाली है। ऐसे आत्मा को जो जाने, उसे पर में से सुख लेने की मिथ्याबुद्धि न रहे; इसलिए पराश्रय बुद्धि छूटकर अकेले आत्मा के आश्रय से स्वभाव का सुख प्रगट हो!

अहो! मेरा आत्मा किन्हीं परज्ञेयों के साथ मिला हुआ नहीं है, अकेला खाली ज्ञानपिण्ड ही है—इस प्रकार जो जीव अपने आत्मा की प्रतीति में ले, वह जीव फिर किसका ममत्व करेगा? अकेले ज्ञानपिण्ड का ही आश्रय करके पर से बिल्कुल उदासीन -वीतराग हो जाएगा।

बाह्यदृष्टि जीवों को ऐसा लगता है कि हमें बहुत उपाधि लगी है। किन्तु अरे भाई!

बाह्य की कोई उपाधि तेरे आत्मा में नहीं है, क्योंकि बाह्य वस्तुओं का तो तुझमें सदैव अभाव ही है। परपदार्थ तुझसे लिपटे नहीं हैं परन्तु तू अपने स्वभाव में स्थित न रहकर जो पराश्रयभाव करता है, उस पराश्रयभाव की ही तुझे उपाधि है। एकाकी ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके उसका अवलम्बन ले तो वह उपाधिभाव छूट जाए।

जिस प्रकार—चारों ओर मजबूत सींकचोंवाले किसी मकान में कोई मनुष्य अकेला रहता हो और बाहर सिंहादि घूमते हों, तो वहाँ वह मनुष्य मकान में बैठा-बैठा सिंह को देखता है, परन्तु सिंह का घर में प्रवेश नहीं होता, इसलिए वह सिंह उसे क्या कर सकता है? उसी प्रकार इस असंख्यप्रदेशी चैतन्यगृह में ज्ञानस्वभावी आत्मा अकेला विराजमान है, वह पर से बिल्कुल खाली है; आत्मा अपने ज्ञान में रहकर सबको जानता है, परन्तु पर का उसमें प्रवेश ही नहीं है। इसलिए किसी पर से उसे लाभ-हानि नहीं हो सकते। आत्मा के ऐसे एकाकी स्वभाव को पहिचाने तो सम्यग्ज्ञान हो। मैं पर से बिल्कुल खाली अकेला चैतन्यज्योति हूँ, शरीर-मन-वाणी इत्यादि का मुझ में प्रवेश नहीं है और 'अकेला ज्ञान' कहने से उसमें विकार भी नहीं है; अकेला ज्ञान ही है—इस प्रकार पर से शून्य एकाकी ज्ञानस्वभावरूप से आत्मा को देखनेवाली ज्ञान-किरण को 'शून्यनय' कहा जाता है।

आत्मा ज्ञानप्रकाश से परिपूर्ण है, उसके बदले अज्ञानी जीव आत्मा को पर संयोग से और विकार से परिपूर्ण मानते हैं। भगवान आत्मा पर से बिल्कुल खाली और चैतन्यप्रकाश से परिपूर्ण है; उसके बदले पर संयोग से जो आत्मा की महत्ता मानता है, उसने आत्मा की महिमा को नहीं जाना है; कूड़े-कचरे से घर भरे, वह भरा नहीं कहलाता। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त:—एक सेठ के पास दो आदमी नौकरी करने के लिये आये। सेठ न दोनों की परीक्षा करने के लिये उन्हें चार-चार पैसे दिये और कहा कि—'इन चार पैसों का माल लाकर कोठार भर दो।' उन दो में से एक आदमी मूर्ख था; उसने विचार किया कि कौन सा माल कोठार भरना चाहिए? बहुत विचारने पर भी कोई माल नहीं मिला, इसलिए वे चार पैसे मजदूर को दिये और एक कूड़ा-घर का कूड़ा उठवाकर कोठार भर दिया! दूसरे आदमी ने विचार किया कि सेठ चार पैसे में कोठार भरने को कहते हैं, इसमें अवश्य कोई गम्भीर आशय है। खूब सोच-विचारकर उसने एक दियासलाई की पेटी और एक मोमबत्ती ली; और सेठ को लेकर अँधेरे कोठार में जाकर कहा कि देखो सेठ! यह कोठार

प्रकाश से भरे देता हूँ।—ऐसा कहकर दियासलाई से मोमबत्ती जलायी कि सारा कोठार प्रकाश से भर गया—कोठार का कोई भाग प्रकाश से खाली नहीं है। ऐसे देखा जाए तो कोठार में अनाज या अन्य कोई वस्तु नहीं है, कोठार खाली है, तथापि प्रकाश से तो वह भरा हुआ है। उसी प्रकार आत्मा पर से बिल्कुल खाली होने पर भी चैतन्यप्रकाश से भरपूर है। जिसे ऐसे आत्मा का भान नहीं है, वह अज्ञानी जीव, दृष्टान्त के मूर्ख मनुष्य की भाँति आत्मा को संयोग एवं विकार से भरपूर मानता है; और ज्ञानी तो अपने आत्मा को चैतन्य-प्रकाश से परिपूर्ण तथा पर से खाली जानता है। पर्याय में विकार है, उसका भी वह प्रकाशक है। विकार आत्मा की क्षणिक पर्याय में ही है और चैतन्यप्रकाश से आत्मा त्रिकाल भरपूर है।

सम्यग्ज्ञान आत्मा को अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से परिपूर्ण बतलाता है और पर से उसका खालीपना बतलाता है। परवस्तु के बिना मेरा नहीं चल सकता—ऐसी अज्ञानी की मान्यता है, वह मिथ्या है। 'परवस्तु के बिना मेरा नहीं चल सकता'—ऐसा जिसने माना, उसने आत्मा को पर से खाली नहीं माना, परन्तु भरपूर माना है; और पर से भरपूर माना उसने आत्मा को अपने स्वभाव से खाली माना है अर्थात् आत्मा को वास्तव में माना ही नहीं। जीव में परवस्तु का तो अभाव ही है, इसलिए त्रिकाल उसका परवस्तु के बिना ही चल रहा है। मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता—ऐसा अज्ञानी भले माने, परन्तु उस विपरीत मान्यता के समय भी उसका परवस्तुओं के अभाव से ही चल रहा है।—यह बात प्रत्येक जीव को समझने योग्य है।

देखो, यह कल्याण की रीति! जो जीव अपने कल्याण के लिये लालायित होकर आया है, उसे आचार्यदेव कल्याण का उपाय बतलाते हैं। जिस प्रकार तीर्थंकर भगवान के जन्म-कल्याणकादि प्रसंगों पर सौधर्म स्वर्ग में सुघोष घण्ट बजता है; उसी प्रकार हे भाई! तेरे कल्याण का प्रसंग आया है; इसलिए सच्चा स्वरूप समझकर अपने आत्मा की स्वतन्त्रता का सुघोष घण्ट बजा! 'अरेरे! संयोग प्रतिकूल हैं, कर्म मुझे हैरान करते हैं, कर्म का बहुत जोर है'—इत्यादि प्रकार की विपरीत घोषणा एवं विपरीत मान्यता छोड़ और 'अहो! मेरा आत्मा कर्मादि परद्रव्यों से तो त्रिकाल बिल्कुल खाली ही है, मैं अपने चैतन्य

–स्वभाव से त्रिकाल परिपूर्ण हूँ; कोई भी परद्रव्य मुझ में प्रवेश करके मेरा अहित करने में समर्थ नहीं है'—ऐसी सच्ची समझ की घोषणा जागृत कर! अहो, मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण–भरा हूँ और पर से बिल्कुल शून्य हूँ, इसलिए अपने कल्याण के लिये किसी पर का आश्रय मुझे नहीं है—ऐसी अपूर्व दृष्टि होने से ही जीव को अपने स्वभाव के आश्रय से, स्वालम्बन के बल से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होता है और उसका कल्याण होता है, ऐसा नियम है।

देखो, आत्मा कैसा है वह यहाँ बतलाते हैं। शरीर और कर्मादि समस्त परवस्तुओं से तो आत्मा खाली है, और अपने अनन्त गुण–पर्यायों से परिपूर्ण है। अपने में गति आदि पर्याय की तथा ज्ञानादि की जो योग्यता है, वह तो अपना धर्म है। संसार पर्याय के समय उससे आत्मा खाली नहीं है परन्तु उस समय भी कर्म से तो आत्मा खाली ही है। श्रेणिक राजा को जो नरक पर्याय हुई, उससे उनका आत्मा खाली नहीं है, क्योंकि वह भी अपना अंश है और अपनी योग्यता से ही वह पर्याय हुई है; कर्म के कारण उन्हें नरक–पर्याय हुई है—ऐसा नहीं है, क्योंकि श्रेणिक का आत्मा भी कर्म से तो खाली है।—ऐसा समझने से कर्म की ओर देखना नहीं रहता परन्तु आत्मा की ओर दृष्टि जाती है।

आत्मा में कर्म हैं ही नहीं, इसलिए 'मैंने कर्मबन्ध किया और मैं कर्मों को काटता हूँ'—यह बात ही नहीं रहती; और कर्म की ओर के झुकाव से अपने में जो क्षणिक विकार की योग्यता है, वह भी स्व का आश्रय करने से उत्पन्न नहीं होती। यदि आत्मा में जड़कर्म प्रविष्ट हो गये हों, तब तो जड़कर्मों के साथ आत्मा एकमेक हो जाए; इसलिए जिस प्रकार आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है, उसी प्रकार कर्मों से भी परिपूर्ण हो जाए। परन्तु कर्मों से तो आत्मा त्रिकाल खाली ही है। मैं जगत के समस्त पदार्थों से खाली एकाकी ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसा समझे तो आत्मा कितना हल्का हो जाए!

जिस प्रकार किसी का हृदय भर आया हो और वह किसी के पास उसे खाली करके हल्का करता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने को अनादि से कर्मवाला और संयोगवाला मानकर मोह से भारी हो गया है; उसे ज्ञानी समझाते हैं कि अरे आत्मा! तू शान्त हो, धीरज रख; तेरे एकाकी आत्मा में किसी भी अन्य द्रव्य का प्रवेश होता ही नहीं; एक

बार तो समस्त पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर अकेले आत्मद्रव्य को लक्ष्य में ले। यदि अपने आत्मा को इस प्रकार पर से बिल्कुल खाली समझे तो जीव एकदम हल्का हो जाए अर्थात् उसके मोह का नाश हो जाए। मैं पर का करता हूँ और पर मेरा करता है—इस प्रकार व्यर्थ ही पर का बोझ अपने सिर पर रखकर अज्ञानी जीव भटकता है; यदि पर के अभावरूप निजस्वभाव को जाने तो अपने आत्मा का किसी भी पर के बोझरहित मुक्त अनुभव करे। इसलिए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू कर्म से बिल्कुल खाली है—ऐसा समझकर एक बार हल्का हो जा! जहाँ पर से खालीपने को समझा, वहाँ परसन्मुख देखना नहीं रहा किन्तु स्वोन्मुख होना रहा। पर से मैं खाली हूँ—ऐसा जो समझा, उसकी पर्यायबुद्धि छूटकर निर्मल स्वभाव पर दृष्टि गये बिना नहीं रह सकती। जिसे निमित्त के साथ एकत्वबुद्धि हो, उसे विकार के साथ भी एकताबुद्धि होती ही है और जहाँ निमित्त के साथ की एकत्वबुद्धि छूटी, वहाँ विकार के साथ की एकताबुद्धि भी छूटे बिना नहीं रहती। जहाँ निमित्त से भिन्नत्व जानकर अपने स्वभाव में एकत्वबुद्धि हुई, वहाँ निमित्त और विकार—दोनों में से एकत्वबुद्धि छूट जाती है।

जड़कर्म की प्रकृति का बन्ध आत्मा करता है और उस प्रकृति का फल आत्मा में आता है—यह सब तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध के कथन हैं। वास्तव में जड़कर्म का बन्ध, उदय, सत्ता, उपशम, क्षयोपशम या क्षय—इत्यादि जितनी अवस्थाएँ हैं, वे सब पुद्गल में ही हैं, आत्मा में नहीं हैं; आत्मा उनसे शून्य है। जो ऐसा भिन्नत्व का भान करे, वही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को यथार्थ जान सकता है। जिसे अभी जीव और कर्म की बिल्कुल भिन्नता का भान न हो, उसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होता ही नहीं। पर से आत्मा शून्य है—ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि पर के ऊपर से हटकर स्वोन्मुख हो जाती है; इसलिए जिसे अपने स्वभाव की दृष्टि हुई है, उसी के सच्चा 'शून्यनय' होता है।

'ब्रह्म सत् और जगत मिथ्या'—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, वह तो मिथ्या बात है; उसे कहीं 'शून्यनय' नहीं कहा जाता। जगत में आत्मा के अतिरिक्त परवस्तुएँ भी निज-निजस्वरूप से सत् हैं, परन्तु आत्मा में परवस्तुएँ नहीं हैं—ऐसा जो जाने, उसी के 'शून्यनय' होता है।

'नास्तित्वनय' ऐसा बतलाता है कि आत्मा पररूप नहीं है, और 'शून्यनय' ऐसा

बतलाता है कि आत्मा में पर नहीं है; एक तो आत्मा का पर में नास्तित्व बतलाता है, दूसरा, पर का आत्मा नास्तित्व बतलाता है।

प्रश्न—यदि आत्मा कर्मों से खाली हो तो, एक का शरीर निरोगी और दूसरे का रोगी, एक निर्धन और दूसरा धनवान—ऐसा अन्तर क्यों दिखाई देता है ?

उत्तर—अरे भाई ! उन निरोगी या रोगी शरीर तथा पैसादि से भी आत्मा खाली ही है, वे कोई वस्तुएँ आत्मा में आयीं ही नहीं। कर्म भी तुझमें नहीं हैं और शरीरादि परपदार्थ भी तुझमें नहीं हैं। तेरे आत्मा के चैतन्य प्रदेश में प्रविष्ट हो सके, वही वस्तु तेरी कही जायेगी। शरीर या कर्मादि कोई वस्तु तेरे आत्मप्रदेश में प्रविष्ट नहीं हो सकती।

प्रश्न—यदि आत्मा में ज्ञानावरणीय कर्म न हो तो ज्ञान की अवस्था हीन क्यों हो ?

उत्तर—देखो भाई ! जब जीव अपने कारण ज्ञान की हीन अवस्थारूप परिणमित होता है, तब जगत में निमित्तरूप से ज्ञानावरणीय कर्म है, परन्तु आत्मा में तो उसका अभाव ही है। अपना नैमित्तिकभाव अपने में है, परन्तु निमित्त का तो अपने में अभाव ही है। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान की हीन अवस्था नहीं हुई है, परन्तु ज्ञान की अपनी योग्यता से ही उसका हीन परिणाम हुआ है। इसलिए ऐसा समझकर, 'कर्म का उदय जीव को हैरान करता है'—ऐसी पुकार को बन्द करके अपना हृदय हल्का कर और आत्मा की सम्भाल कर। कर्म का उदय, उपशम, क्षयोपशम, आदि सबसे आत्मा खाली है; इसलिए उनकी दृष्टि छोड़कर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा पर दृष्टि कर, वही कल्याण का उपाय है।

मेरा आत्मा पर से बिल्कुल खाली एकाकी है—यह बात समझे तो निमित्तबुद्धि दूर हो जाए, और निमित्तबुद्धि दूर होने से अपनी पर्याय में अंशबुद्धि भी दूर होकर त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि हो और अनुक्रम से वीतरागी चारित्र प्रगट होकर मोक्षदशा हुए बिना न रहे।

श्रवण के शब्दों से भी आत्मा खाली है, परन्तु उनके ज्ञान से आत्मा खाली नहीं है; इसलिए शब्दों के कारण मुझे ज्ञान होता है—यह बात नहीं रही, किन्तु ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन रहा।

असातावेदनीय के कारण सर्प ने काटा; तो वहाँ असातावेदनीय कर्म कहीं आत्मा

में प्रविष्ट नहीं हो जाता; सर्प भी आत्मा में नहीं है, सर्प का विष भी आत्मा में नहीं है; और जिस शरीर को सर्प ने काटा, वह शरीर भी आत्मा में नहीं है; आत्मा उन सबसे खाली एकाकी चैतन्यबिम्ब है। आत्मा का ऐसा स्वरूप समझे तो कहीं, पर से लाभ-हानि की बुद्धि न रहे, इसलिए पराश्रय छूटकर स्वाश्रित वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो!

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में तीर्थंकरनामकर्म का तथा समवसरणादि का भी अभाव है। तीर्थंकर भगवान का आत्मा अपने केवलज्ञानादि से परिपूर्ण है परन्तु समवसरणादि से तो खाली है। जो जीव ऐसा न समझे, उसे जिससे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है, उस प्रकार का शुभराग भी नहीं होता; क्योंकि मिथ्यादृष्टि को वैसा शुभभाव होता ही नहीं। सम्यग्दृष्टि को शुभराग से तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध होता है परन्तु वह सम्यग्दृष्टि तो तीर्थंकरनामकर्म का अपने में अभाव मानता है; इसलिए उससे परम्परा अपना कल्याण होगा—ऐसा वह वास्तव में नहीं मानता। कहीं निमित्त से कथन किया हो, वहाँ यथार्थ स्थिति इस प्रकार समझता है कि वास्तव में इस राग द्वारा या तीर्थंकरनामकर्म द्वारा मेरा कल्याण नहीं है, परन्तु जब स्वभाव के आश्रय से उस राग को दूर करूँगा, तब मेरा पूर्ण कल्याण होगा। इसी प्रकार कहीं निमित्त से कर्म को दुःखदायक कहा हो तो वहाँ भी धर्मी जीव ऐसा समझता है कि वास्तव में जड़कर्म जीव को दुःख नहीं देते, परन्तु कर्म की ओर की वृत्तिवाला विकारी भाव ही दुःखरूप है। कर्म के ओर की बुद्धि छुड़ाकर आत्मा के ओर की बुद्धि कराने के लिये निमित्त से कर्म को दुःख का बीज कहा है; वास्तव में आत्मा में कर्म का अभाव है। आत्मा में एक ऐसा धर्म है कि वह समस्त अन्य पदार्थों से खाली है—ऐसे एकाकी आत्मा को जाननेवाला 'शून्यनय' है, वह श्रुतज्ञानप्रमाण का एक अंश है। —

यहाँ 22 वें शून्यनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(23)
अशून्यनय

अशून्य-नयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि २३।

आत्मद्रव्य अशून्यनय से, लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति, मिलित भासित होता है। २३.

आत्मद्रव्य अशून्यनय से, मनुष्यों से भरे हुए जहाज की भाँति, मिलित भासित होता है। आत्मा के ज्ञान में सभी ज्ञेय भासित होते हैं, इसलिए मानों ज्ञानरूपी जहाज में सारा लोकालोक भरा हो—ऐसा आत्मा भरा हुआ दिखाई देता है। देखो तो वन-जंगल में आत्मा के अनुभव में झूलते हुए सन्तों ने चैतन्य की कैसी अद्भुत महिमा गायी है! शून्यनय से आत्मा को परपदार्थों से खाली कहा, इसलिए कहीं उसकी महिमा कम नहीं हो जाती, वह बतलाने के लिये अशून्यनय से कहा कि आत्मा के ज्ञान में मानों लोकालोक भरे हों—ऐसा उसका अचिन्त्य ज्ञानसामर्थ्य है। पर को जानने के लिये आत्मा को परसन्मुख नहीं देखना पड़ता, परन्तु ज्ञान में एकाग्र होने से स्वयं ही समस्त ज्ञेयों से भर जाता है अर्थात् समस्त ज्ञेयों को जान लेता है। वास्तव में कहीं ज्ञेय ज्ञान में नहीं आ जाते, परन्तु ज्ञान में वे सब ज्ञात होते हैं, उस अपेक्षा से ज्ञान को मिलित कहा है।

समुद्र में तैरता हुआ जहाज, उसमें बैठे हुए मनुष्यों से भरा है, परन्तु किनारे पर खड़े हुए मनुष्यों से वही नहीं भरा है; उसी प्रकार आत्मा अपने में विद्यमान अनन्त धर्मों से भरपूर है किन्तु बाह्य परपदार्थों से वह भरा हुआ नहीं है। असंख्यप्रदेशी भगवान आत्मा लोक में तैरता हुआ जहाज है, वह प्रदेश-प्रदेश में अनन्त गुणों से ठसाठस भरा हुआ है; पर से खाली है परन्तु पर के ज्ञान से भरा हुआ है। ज्ञान तो अपना है; परन्तु ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव में लोकालोक के समस्त पदार्थ ज्ञात होते हैं; इसलिए मानों आत्मा उन ज्ञेयों के साथ एकमेक हो गया हो—इस प्रकार ऊपर से मिलित कहा है। वास्तव में कहीं

परज्ञेय आत्मा में भरे हुए नहीं हैं; आत्मा तो अपने द्रव्य–गुण–पर्याय से भरा हुआ है। जिस प्रकार मनुष्यों से भरा हुआ जहाज स्वयं तैरता हुआ चला जाता है; उसी प्रकार अपने गुण –पर्याय से भरा हुआ आत्मा परिणमित होता रहता है और जो जीव ऐसे आत्मा का आश्रय ले, वह जीव संसार–समुद्र से पार हो जाता है। जो जीव अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा की साधना करता है, ऐसे साधक जीव के नयों का यह वर्णन है; यह नय अन्तर्मुख देखते हैं। आगे यह बात भारपूर्वक कही जा चुकी है कि किसी भी नय से आत्मा को लक्ष्य में लेनेवाले की दृष्टि अन्तर में शुद्ध आत्मा पर ही पड़ी है; क्योंकि यह धर्म किसी निमित्त के आश्रय से, राग के आश्रय से, या क्षणिक पर्याय के आश्रय से स्थित नहीं है; और न एक–एक धर्म पृथक् स्थित है, परन्तु अखण्ड आत्मद्रव्य के आश्रय से ही समस्त धर्म स्थित हैं, इसलिए उस अखण्ड आत्मा की दृष्टिपूर्वक ही उसके धर्मों का यथार्थ स्वीकार किया है।

जिस प्रकार जहाज में मनुष्य भरे हों, वहाँ वह जहाज भरा हुआ दिखाई देता है; उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान में अनन्त ज्ञेय ज्ञात होने से आत्मा भी भरा हुआ दिखाई देता है; परपदार्थों का ज्ञान भी आत्मा में नहीं है—ऐसा नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव से परवस्तु को भी आत्मा जानता है, इसलिए अनन्त ज्ञेयों के ज्ञान से वह भरा हुआ है; ऐसे ज्ञानसामर्थ्य के कारण समस्त ज्ञेय मानों ज्ञान में आ गये हों... ज्ञान में उतर गये हों... ज्ञान में डूब गये हों... इस प्रकार ज्ञान भरा हुआ ज्ञात होता है।

जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में रंगबिरंगे पदार्थों के झलकने से दर्पण उनसे भरा हुआ मालूम होता है; उसी प्रकार आत्मा के स्वच्छ ज्ञान में समस्त ज्ञेय ज्ञात होने से आत्मा भी सर्वज्ञेयों से भरा हुआ ज्ञात होता है। ज्ञान में एकाग्र होने से अपने ज्ञान में सब ज्ञात हो जाता है।

कोई पूछे कि—भगवान को कहाँ ढूँढ़ें? तो कहते हैं कि अपने ज्ञान में! अनन्त तीर्थंकर–सिद्ध और सन्तों को बाह्य में ढूँढ़ने के लिये नहीं जाना पड़ता, अपने ज्ञान में वे सब ज्ञात होते हैं; इसलिए वे सब ज्ञान में ही विराजमान हों—ऐसा ज्ञात होता है। इसलिए तू अपने ज्ञान–सन्मुख देखकर ज्ञान सामर्थ्य की प्रतीति कर। अनन्त सिद्ध भगवन्त,

केवली भगवन्त और धर्म-अधर्म-आकाश-काल तथा अनन्त पुद्गलादि-सबके ज्ञान से आत्मा भरपूर है; ऐसे आत्मा को पहिचानकर उसकी दृष्टि करे तो स्वाधीनदृष्टि और सम्यग्ज्ञान होता है।

जिस प्रकार लैंडीपीपर में चौंसठपुटी चरपराहट प्रगट होने का स्वभाव है, उसी में से वह प्रगट होती है; उसी प्रकार मैं अपनी केवलज्ञानादि जो पर्याय प्रगट करना चाहता हूँ, उसका सामर्थ्य मेरे स्वभाव में भरा हुआ है; वर्तमान पर्याय विकार में अटकती है तथा मेरा आत्मा पूर्ण शक्ति से भरपूर है, उसी में से पूर्णता आती है, कहीं बाहर से नहीं आती। इस प्रकार साधक जीव अपने स्वभाव-सामर्थ्य को जानते हैं; इसलिए किसी बाह्य अवलम्बन से मेरी पर्याय में विकास होगा—ऐसा वे नहीं मानते; जितना अपनी अन्तरशक्ति का अवलम्बन लूँगा, उतना ही विकास मेरी पर्याय में होगा। मेरी पर्याय वर्तमान में अल्प है और उसे पूर्ण करना है, तो वह पूर्ण पर्याय कहाँ से आयेगी?—आत्मा का ध्रुवस्वभाव पूर्णता से भरपूर है, उसी में से पूर्ण पर्याय प्रगट होगी। निमित्तों से तो आत्मा खाली है, इसलिए निमित्तों के संग से पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होगी और वर्तमान पर्याय स्वयं अल्प है, उसमें से भी पूर्णपर्याय नहीं आ सकती; जो पूर्ण सामर्थ्य से सदैव भरपूर है, ऐसे स्वभाव में एकाग्रता से ही पूर्ण पर्याय प्रगट हो जाएगी। आत्मा स्वयं पूर्ण सामर्थ्य से परिपूर्ण है, तब फिर पर का आश्रय लेने की आवश्यकता ही कहाँ रही? और पर से तो आत्मा खाली है, इसलिए पर का आश्रय लेना कहाँ रहा?—इस प्रकार आत्मा के धर्मों की प्रतीति करने से स्वाश्रय ही आता है और स्वभाव के आश्रय से पर्याय निर्मल होती जाती है।

देखो, आचार्य भगवान ने आत्मा की कैसी सरस और मीठी बात कही है! यह बात सुनते हुए अपने अन्तर में उसका रस आना चाहिए तथा अपूर्वता भासित होना चाहिए। अन्तर में आत्मा का रस लाकर जो यह बात समझेगा, उसका अपूर्व कल्याण होगा।

यहाँ 23 वें अशून्यनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(24)

ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय

ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् २४।

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से), महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है। २४.

आत्मा अनन्त धर्मोंवाला एक द्रव्य है; ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से देखने पर वह आत्मद्रव्य, विशाल ईंधनसमूहरूप से परिणत अग्नि की भाँति एक है।

जिज्ञासु शिष्य ने पूछा था कि प्रभो! यह आत्मा कैसा है? इसका स्वरूप क्या है? उसका यह उत्तर चल रहा है। आत्मा चैतन्यवस्तु है, उसमें अनन्त धर्म हैं। वास्तव में आत्मा स्वयं अपने में है और पर, पर में है; परपदार्थ आत्मा में नहीं जा जाते; परन्तु आत्मा का ज्ञानस्वभाव इतना विशाल है कि उसमें समस्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं। जिस प्रकार अग्नि के भारी समूह में अनेक जाति की लकड़ियाँ आदि जल रहे हों, वहाँ अग्नि की एक भारी ज्वाला ही दिखाई देती है; उसी प्रकार आत्मा की ज्ञानज्योति का ऐसा सामर्थ्य है कि वह समस्त ज्ञेयों को जान लेती है; उस अपेक्षा से ज्ञान मानों समस्त ज्ञेयों के साथ अद्वैत हो!— ऐसा कहा है। अकेला ज्ञान मानों स्वयं अनन्त पदार्थोंरूप होता हो—ऐसा उसका समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव है। यह स्वभाव किन्हीं निमित्तों के या राग के कारण नहीं है; जगत में केवली भगवान आदि हैं; इसलिए इस आत्मा में उनका ज्ञान करने का धर्म है— ऐसा नहीं है। ज्ञान करने का धर्म तो अपने कारण से ही है और ज्ञेय उनके अपने कारण से हैं; कोई किसी के कारण नहीं है।

ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ कभी एकमेक नहीं हो जाते, परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा में एक ऐसा स्व-पर प्रकाशक धर्म है कि लोकालोक के समस्त ज्ञेय मानो ज्ञान में अंकित हो गये

हों—ऐसा ज्ञात होता है। पहले 200 वीं गाथा में भी कहा था कि 'एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमश: प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भविष्य के विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाध स्वभावी और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को शुद्ध आत्मा एक क्षण में इस प्रकार प्रत्यक्ष करता है मानों वे द्रव्य, ज्ञायक में अंकित हो गये हों... चित्रित हो गये हों... दब गये हों... खच गये हों... डूब गये हों... प्रतिबिम्बत हो गये हों!'— ऐसे ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध के कारण ज्ञान और ज्ञेय मानों एकमेक हों—ऐसे प्रतिभासित होते हैं, तथापि आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव की एकता को छोड़कर परज्ञेयों के साथ एकमेक नहीं हो गया है। ज्ञान की ही ऐसी विशेषता है कि ज्ञेय उसमें ज्ञात होते हैं, परन्तु कहीं ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता। भगवान की वाणी थी; इसलिए उसके कारण आत्मा को ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है; सामने साक्षात् तीर्थंकर भगवान या उनकी प्रतिमा विराजमान थी, इसलिए उस ज्ञेय के कारण ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है; सम्मेदशिखर या गिरनारजी तीर्थ थे, इसलिए उन ज्ञेयों के कारण उनका ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है; और उन-उन प्रकार के ज्ञेयों का ज्ञान आत्मा में नहीं होता—ऐसा भी नहीं है। आत्मा का ही अपना जानने का स्वभाव है, इसलिए वह जाननेरूप परिणमित होता है; वहाँ स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के कारण परज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होने से, आत्मा मानों उन ज्ञेयों के साथ एकमेक हो गया हो— ऐसा ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतनय से भासित होता है; ऐसा भी आत्मा का एक धर्म है। इस धर्म से देखें तो भी अनन्त धर्मवाला शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही अन्तर में दिखाई देता है। ऐसा चैतन्यस्वभाव ख्याल में लिये बिना श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं होते, और सच्चे श्रद्धा-ज्ञान के बिना चाहे जितने व्रत, तप, आदि के शुभभाव करे, तथापि उससे जीव का किंचित् हित नहीं होता। शुभभावों से सांसारिक संयोगों की प्राप्ति होती है, परन्तु स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती, मुक्ति नहीं होती।

आत्मा का स्वभाव क्या?—ज्ञान। ज्ञान के अतिरिक्त इस जड़ शरीर-मन-वाणी को लक्ष्य में से छोड़ दो और अन्तर की शुभ-अशुभ वृत्तियों को भी लक्ष्य में से छोड़ दो; उन सबसे पार अन्तर में अकेले ज्ञान को लक्ष्य में लो; वह ज्ञानस्वभावी आत्मा है। ऐसा आत्मा वास्तव में परज्ञेयों से पृथक् है, परन्तु उसके ज्ञान में परज्ञेय ज्ञात होते हैं, इसलिए ज्ञान और ज्ञेय का अद्वैत हो—ऐसा कहा जाता है। जिस प्रकार कण्डे, लकड़ी इत्यादि अनेक प्रकार

के ईंधन को जलानेवाली अग्नि एक ही ज्ञात होती है; उसमें लकड़ी-कण्डे अलग-अलग दिखाई नहीं देते; उसी प्रकार ज्ञातास्वभाव द्वारा आत्मा स्वयं अपने ज्ञान में परिणत होकर अनन्त ज्ञेय पदार्थों के ज्ञानरूप परिणमित होता है, वहाँ मानों समस्त ज्ञेय पदार्थोंरूप से एक ज्ञान ही परिणमित हो गया हो—ऐसा ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय से प्रतिभासित होता है।

देखो, यहाँ ज्ञान और ज्ञेय का एकत्व सिद्ध नहीं करना है, परन्तु ज्ञान सामर्थ्य में समस्त ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं—ऐसा सिद्ध करके, आत्मा का ज्ञानस्वभाव बतलाना है। परज्ञेय तो त्रिकाल पर में ही रहते हैं, परन्तु ज्ञान में ज्ञात होने की अपेक्षा से उन्हें ज्ञान के साथ अद्वैत कहकर, ज्ञान का सामर्थ्य बतलाया है। अनन्त सिद्ध आदि ज्ञेय हैं, उनके कारण उनका ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है, परन्तु ज्ञान का ही ऐसा दिव्य सामर्थ्य है, इसलिए ज्ञान स्वयं ही वैसे ज्ञेयों के प्रतिभासरूप से परिणमित होता है, ज्ञान की ही इतनी विशालता है कि समस्त ज्ञेयों के ज्ञानरूप से स्वयं एक ही भासित होता है।

जिस प्रकार अग्नि का ऐसा स्वभाव है कि रुई की हजारों गांठों को और लकड़ियों के ढेरों को जलाकर स्वयं एक ज्वालारूप परिणमित हो जाती है; उसी प्रकार ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि एक क्षण में समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जाननेरूप परिणमित हो जाता है। दर्पण तो स्थूल वस्तु है; उसमें अधिक दूर की, भूत-भविष्य की या पीछे की वस्तुएँ ज्ञात नहीं होतीं; दर्पण तो जड़ वस्तु है, वह कुछ नहीं जानता; परन्तु ज्ञान का स्वभाव तो सबकुछ जानने का है; दूर का और भूत-भविष्य का सबकुछ ज्ञान जानता ही है। ज्ञान अपने सन्मुख रहकर सर्व को जान लेने के स्वभाववाला है।

वस्तु का स्वभाव क्या है, उसे पहिचानना चाहिए। देखो, विशाल लहराते हुए समुद्र में लाखों मण के जहाज तैरते हैं और लकड़ी का एक छोटे से छोटा टुकड़ा भी तैरता है। लकड़ी लाख मण वजन की होने पर भी पानी में तैरती है और एक रत्तीभर लोहा भी पानी में डूब जाता है; उसका कारण ?—ऐसा ही उन पदार्थों का स्वभाव है। उनके उस स्वभाव को किसने जाना ?—किन्हीं इन्द्रियों से वह स्वभाव ज्ञात नहीं होता, परन्तु ज्ञान से ही ज्ञात होता है। दूसरों के स्वभाव को भी ज्ञान जानता है, इसलिए ज्ञान का जानने का स्वभाव है। परन्तु अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है; उसे पर की महिमा भासित होती

है, परन्तु पर को जाननेवाला अपना ज्ञान है, अपनी महिमा उसे भासित नहीं होती। यदि ज्ञान की महत्ता भासित हो तो संसार-समुद्र से पार हो जाए, क्योंकि ज्ञान का तैरने का स्वभाव है। अनन्त ज्ञेयों से परिपूर्ण विश्व-समुद्र के बीच में गिरने पर भी मेरे ज्ञान का स्वभाव उनसे पृथक् रहकर तैरने का है; मेरे ज्ञान का स्वभाव जानने का है, परन्तु कहीं पर में अहंपना करके अटकने का मेरे ज्ञान का स्वभाव नहीं है। समस्त ज्ञेयों के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी, उन ज्ञेयों से पृथक् का पृथक् रहे—ऐसा मेरा स्वभाव है।—इस प्रकार यदि अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन हो और भवसमुद्र से पार हो जाए।

आत्मा का जानने का स्वभाव है तो वह किसे नहीं जानेगा? जिसका स्वभाव जानने का हो, वह परिपूर्ण ही जानता है; उसके ज्ञानसामर्थ्य में मर्यादा नहीं होती। अपूर्ण जाने तो उसके परिणमन में कचास है परन्तु स्वभावसामर्थ्य में कचास नहीं है। यह बात साधक जीव के लिये है, क्योंकि नय साधक के ही होते हैं। अपनी पर्याय में कचास होने पर भी साधक जीव अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा अपने परिपूर्ण स्वभाव को प्रतीति में लेता है।

आत्मा का स्वभाव सर्व को जानने का है परन्तु किसी पर को अपना बनाये—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जगत में नरकादि गति के दूसरे जीवों के दु:ख की उसे खबर पड़ती है परन्तु अपने ज्ञान के साथ कहीं उन जीवों के दु:ख का वेदन उसे नहीं होता। जैसे—किसी को बिच्छू ने काटा हो तो उसे कैसा दु:ख होता है, वह दूसरे लोग जानते हैं; परन्तु उन देखनेवाले मनुष्यों को कहीं वैसे दु:ख का वेदन नहीं होता; उसी प्रकार समस्त पदार्थों को जानने में कहीं भी राग-द्वेष करने का आत्मा का स्वरूप नहीं है।

अज्ञानी मानते हैं कि हमारा अमुक वस्तु के बिना नहीं चल सकता; परन्तु ज्ञानी उन्हें समझाते हैं कि अरे भाई! तू तो ज्ञान है, तूने अपने ज्ञान के अतिरिक्त अनादि काल से परपदार्थों के बिना ही चलाया है; समस्त आत्माओं का परवस्तु के बिना ही चल रहा है परन्तु ज्ञान के बिना एक क्षण भी नहीं चलता। यदि ज्ञान न हो तो आत्मा का ही अभाव हो जाए। पर्याय में अल्प राग-द्वेष होने पर भी 'मैं तो ज्ञान हूँ'—ऐसा जिसने निर्णय किया, वह जीव आराधक हुआ; अब, ज्ञान में एकाग्रता के बल से बीच में से बाधकभाव तो निकल जाएगा और ज्ञान परिपूर्ण विकसित हो जाएगा।

अज्ञानी लोग तो बाह्य में ही 'मुझे यह खपेगा (काम में आयेगा) और यह नहीं खप सकता'—इस प्रकार परद्रव्य के अभिमान में रुक गये हैं; परन्तु अन्तर में 'मैं ज्ञान हूँ'—इसकी उन्हें खबर नहीं है। ज्ञानी तो जानते हैं कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ; मुझे ज्ञान करने के लिये सर्व पदार्थ ज्ञेयरूप से खपते हैं, परन्तु कोई भी परज्ञेय (-ज्ञान में ज्ञात होने योग्य होने पर भी) मुझ में नहीं खपता। मेरे ज्ञानसामर्थ्य में समस्त पदार्थ ज्ञेयरूप से भले ज्ञात हों, परन्तु किसी भी परज्ञेय को मैं अपने रूप से स्वीकार नहीं करता। अरे जीव! एक बार प्रतीति तो कर कि मेरा ज्ञानस्वभाव है; मुझमें सर्व को जान लेने का सामर्थ्य है; परज्ञेयों के अवलम्बन बिना अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही मैं समस्त लोकालोक का ज्ञाता हूँ।—ऐसे ज्ञायकपने की प्रतीति करे तो सारे जगत में उदासीन होकर ज्ञान अन्तर में स्थिर हो जाए।

लोकालोक के कारण जीव को उसका ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है; यदि लोकालोक के कारण उसका ज्ञान होता हो तो समस्त जीवों को लोकालोक का ज्ञान होना चाहिए; क्योंकि लोकालोक तो सदैव है; इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानस्वभाव के सामर्थ्य से ही ज्ञान होता है। ऐसे निज स्वभाव की प्रतीति करके, उस एक ज्ञानस्वभाव की भावना में ही व्रतादि सबका समावेश हो जाता है। बारह भावनाएँ तो व्यवहार से हैं; वास्तव में उन बारह भावनाओं का आधार तो आत्मा है; आत्मा के आश्रय से ही सच्ची बारह भावनाएँ हैं; बारह प्रकार के भेद के लक्ष्य से तो विकल्पों की उत्पत्ति होती है। इसलिए किसी भी नय से आत्मा के धर्म द्वारा धर्मी ऐसे अखण्ड आत्मा को दृष्टि में लेकर उसके अवलम्बन का ही तात्पर्य है।

— यहाँ 24 वें ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(25)

ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय

ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसम्पृक्तदर्पणवदनेकम् २५।

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से, पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति, अनेक है (अर्थात् आत्मा ज्ञान और ज्ञेय के द्वैतरूपनय से अनेक है, जैसे पर-प्रतिबिम्बों के संगवाला दर्पण अनेकरूप है।) २५.

आत्मद्रव्य ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय से, पर के प्रतिबिम्बों से संयुक्त दर्पण की भाँति अनेक है। जिसमें अनेक चीज़ों का प्रतिबिम्ब झलकता हो, ऐसा दर्पण स्वयं अनेकरूप हुआ है; उसी प्रकार ज्ञान में अनेक प्रकार के परज्ञेय झलकते हैं – ज्ञात होते हैं, वहाँ ज्ञान अपने स्वभाव से ही ऐसी अनेकतारूप परिणमित हुआ है, परज्ञेय कहीं ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हुए हैं।

अपनी अनन्त शक्तियों से सम्पूर्ण भगवान आत्मा अनन्त धर्मों का स्वामी है और वह प्रमाणज्ञान का विषय है; और उस प्रमाणज्ञान की किरण द्वारा उसका एक-एक धर्म ज्ञात होता है। नय, प्रमाणपूर्वक ही होते हैं। उनमें से यहाँ 25 वें नय से आत्मा का वर्णन चल रहा है।

प्रथम ज्ञान-ज्ञेय के अद्वैतनय से आत्मा को एक कहा, उसमें भी आत्मा पर से तो पृथक् ही है; और यहाँ ज्ञान-ज्ञेय के द्वैतनय से आत्मा को अनेक कहा; उसमें भी पर से तो पृथक् ही है। एकरूप और अनेकरूप भासित हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव ही है। आत्मा में वे दोनों धर्म एक साथ ही हैं। आत्मा का एकत्व देखनेवाला नय हो अथवा अनेकत्व देखनेवाला नय हो—वे सर्व नय आत्मा को ही उस-उस धर्म की मुख्यता से देखते हैं; पर के कारण आत्मा का धर्म है—ऐसा वे नहीं मानते। एकपना और अनेकपना—

इन दोनों को परस्पर विरोध है, परन्तु प्रमाणज्ञान उस विरोध को दूर करके आत्मस्वभाव को सिद्ध करता है।

जिस प्रकार दर्पण में मोर, सुवर्ण, आम, जामुन, नीम—इत्यादि अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देने से दर्पण की भी अनेकता भासित होती है; उसी प्रकार चैतन्यज्योति दर्पण भगवान आत्मा का ज्ञान भी अनेक पदार्थों को जानने से, अनेकतारूप से परिणमित होता है; इसलिए आत्मा में अनेकत्वरूप धर्म है। ज्ञेयों की अनेकता ज्ञेयों में है, उनसे तो आत्मा पृथक् है, परन्तु अरिहन्त-सिद्ध, जड़-चेतनादि अनेक ज्ञेय पदार्थों को जानने से ज्ञान स्वयं अपने स्वभाव से ही अनेकतारूप होता है; वह अनेकता कहीं परज्ञेयों के कारण नहीं होती। जैसे, दर्पण में अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वह दर्पण की ही अवस्था है, दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वैसी ही अनेकाकाररूप पर्याय से परिणमित हुआ है; उसी प्रकार ज्ञान भी अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण अनेक ज्ञेयाकारोंरूप परिणमित होता है; वह ज्ञान की अपनी अवस्था है; परज्ञेयों का आकार ज्ञान में नहीं आ जाता।

देखो, यह आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है; यह आत्मा के अपने वैभव का वर्णन है; ऐसे धर्मों द्वारा धर्मी—आत्मा—की पहिचान होती है। ऐसे धर्मों द्वारा आत्मा को जाने तो स्वभाव की रुचि और सम्यग्ज्ञान हो तथा उसमें एकाग्रता द्वारा मुक्ति प्राप्त हो।

प्रश्नः—आत्मा के इतने अधिक धर्मों को जानना तो उपाधि और राग का कारण होगा?

उत्तरः—अरे भाई! आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है; इसलिए आत्मा के इन धर्मों को जानना, वह कहीं उपाधि या राग का कारण नहीं है, परन्तु इन धर्मों से आत्मा को जानने पर राग टूटकर ज्ञान की निर्मलता में वृद्धि होती है अर्थात् निरुपाधिकपना होता है। सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में लोकालोक की अनेकता ज्ञात होने पर भी, उनके ज्ञान में उपाधि नहीं है, विकल्प नहीं है, परन्तु वीतरागता है। अनेकता को भी जानने का ज्ञान का स्वभाव है; ज्ञान में अनेकता ज्ञात हो, वह कहीं राग का कारण नहीं है। ज्ञान का द्वैत स्वभाव अपना है, वह लोकालोक के कारण नहीं है। ज्ञान में लोकालोक का जो प्रतिभास होता है, वह कहीं लोकालोक की अवस्था नहीं है, परन्तु वह तो ज्ञान स्वयं ही अपने वैसे धर्मरूप से

परिणमित हुआ है; लोकालोक तो ज्ञान के बाहर है।—इस प्रकार द्वैतनय से अनेकाकार ज्ञानस्वभाव आत्मा को जानना, वह सम्यग्ज्ञान और वीतरागता का कारण है। ज्यों-ज्यों विशेष-विशेष पक्षों से आत्मस्वभाव का निर्णय करे, त्यों-त्यों जीव के ज्ञान की विशुद्धता बढ़ती जाती है और राग टूटता जाता है। वस्तु के स्वरूप का सच्चा ज्ञान कभी भी उपाधि या राग का कारण नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह समस्त ज्ञेयों को जानने के स्वभाववाला है; उसका ज्ञान एकरूप रहने पर भी अनेक ज्ञेयों के ज्ञानरूप से अनेकरूप भी होता है—ऐसा उसका धर्म है। एकरूप रहना भी आत्मा का धर्म है और अनेकरूप होना भी आत्मा का ही धर्म है। आत्मा में वे दोनों धर्म एक साथ विद्यमान हैं; और ऐसे अनन्त धर्मों का पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा है!

ज्ञान में अनेक पदार्थ ज्ञात होने से, वह अनेक पदार्थों के ज्ञानरूप परिणमित हुआ है; वहाँ ज्ञान अपना है, ज्ञेयों का नहीं है और ज्ञेय, ज्ञेय में हैं, ज्ञान में नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयों की भिन्नता है। ज्ञान में अपने स्वभाव से द्वैतपना—अनेकपना भासित होने पर भी वह उपाधि नहीं है और न राग का कारण है। यह सब धर्म आत्मा के हैं; उन धर्मों द्वारा आत्मा का ज्ञान होने से प्रमाण—सम्यग्ज्ञान होता है; वह ज्ञान, राग का कारण नहीं है परन्तु वीतरागता का ही कारण है।

देखो, यहाँ कहे जा रहे हैं—ऐसे अनन्त धर्मों का समावेश होकर परिपूर्ण आत्मद्रव्य है, वह प्रमाण का विषय है। आत्मा के इन सर्व धर्मों में से एक भी धर्म को कम माने तो परिपूर्ण आत्मद्रव्य प्रतीति में नहीं आता और न आत्मा का सच्चा ज्ञान होता है। साधक धर्मात्मा अनन्त धर्मों को भिन्न-भिन्नरूप से भले न जान सके, परन्तु अपने ज्ञान में आ सकें, ऐसे प्रयोजनभूत धर्मों द्वारा वह अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा को स्वानुभवपूर्वक जानता है; आत्मा के अनन्त धर्मों की उसे निःशंक प्रतीति है—उसमें शंका नहीं होती।

जिसे अभी आत्मा के स्वरूप में ही शंका का वेदन होता हो, वह जीव भले त्यागी होकर बैठे, परन्तु उसे सच्चे व्रत होते ही नहीं, क्योंकि अभी उसके मिथ्यात्व की महान शल्य दूर नहीं हुई है; तब फिर उसके व्रतादि कहाँ से होंगे? तत्वार्थसूत्र में कहा है कि—

'**निःशल्यो व्रती**'—शल्यरहित जीव ही व्रती होता है। जहाँ मिथ्यात्वादि शल्य विद्यमान हो, वहाँ व्रत नहीं होते। स्वानुभवपूर्वक यथार्थ आत्माद्रव्य को जानकर निःशंक न हो और मिथ्यात्वादि शल्य को दूर न करे, तब तक सच्चे व्रतादि नहीं होते।

ज्ञान में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता है—ऐसा कहा जाता है, वहाँ वास्तव में कहीं ज्ञान में परपदार्थों का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, परन्तु ज्ञान की ही वैसी अवस्था दिखाई देती है। ज्ञान तो सदा अरूपी है और वृक्ष आदि तो रूपी हैं; तो अरूपी में रूपी वस्तु का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? ज्ञान में पर को जानने की शक्ति है, इसलिए उसमें पर ज्ञात होता है; उस अपेक्षा से ज्ञान में पर का प्रतिबिम्ब कहा है। ज्ञान का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य बतलाने के लिये निमित्त से वैसा कहा है। यदि ज्ञान में वास्तव में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता हो तो कोयले का प्रतिबिम्ब पड़ने से ज्ञान काला हो जाए, दस हाथ ऊँचे नीम का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसे दस हाथ लम्बा होना पड़े! परन्तु ऐसा नहीं होता। स्वयं साढ़े तीन हाथ में रहकर भी दस हाथ ऊँचे नीम को ज्ञान जान लेता है; इसलिए परज्ञेयों का आकार या प्रतिबिम्ब ज्ञान में नहीं आता, परन्तु ज्ञान उन्हें जान लेता है, उस अपेक्षा से ज्ञान में उनका प्रतिबिम्ब कहा है।

ज्ञान अपने ज्ञानभावरूप से एकरूप होने पर भी, अनेक ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उस अपेक्षा से उसमें अनेकता भी है। ज्ञान में अनेक पदार्थ ज्ञात होने से जो अनेकता होती है, वह उपाधि या मैल नहीं है परन्तु ज्ञान का ही स्वरूप है। जिस प्रकार दर्पण में कोयले का प्रतिबिम्ब पड़ने से जो कालापन दिखाई देता है, वह कहीं दर्पण का मैल नहीं है परन्तु वह तो उसकी स्वच्छता का परिणमन है; उसी प्रकार ज्ञान में अनेक ज्ञेय ज्ञात होने से जो अनेकरूपता होती है, वह कहीं ज्ञान का मैल नहीं है परन्तु ज्ञान की स्वच्छता का वैसा स्वभाव है कि समस्त ज्ञेय उसमें ज्ञात हों। मिश्री को, नीम को या नीबू को जानने से ज्ञान मीठा, कड़वा या खट्टा नहीं हो जाता; क्योंकि ज्ञान में परज्ञेय का अभाव है; उस उस प्रकार के अनेकविध पदार्थों के ज्ञानरूप होने का ज्ञान का स्वभाव है।

जिस प्रकार ज्ञान, परपदार्थों को जानता है किन्तु पर की उपाधि ज्ञान में नहीं है; उसी प्रकार वास्तव में तो ज्ञान, विकार को भी जानता है परन्तु ज्ञान में विकार की उपाधि नहीं

है। जैसे—कुछ वर्ष पहले किसी से कोई दोष हुआ हो और वर्तमान ज्ञान में उसका स्मरण हो कि अमुक वर्ष पहले मेरे इस प्रकार के बुरे परिणाम हुए थे; तो वहाँ पूर्व के विकारी परिणामों का ज्ञान होता है परन्तु उस ज्ञान के साथ पहले के विकारी परिणामों की उपाधि नहीं आ जाती। ज्ञान स्वयं विकार रहित रहकर विकार को भी जाने—ऐसा उसका स्वभाव है। अनेक प्रकार के समस्त ज्ञेयों को जानने का ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु राग करने का उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञान के समय साथ में जो राग होता है, वह दोष है; इसलिए वह तो निकल जाता है, परन्तु ज्ञान में जो अनेकता (अनेक पदार्थों का ज्ञान) होती है, वह तो उसका स्वभाव है; यदि उसे निकाल दें तो ज्ञान का ही नाश हो जाये, अर्थात् जो ज्ञान की अनेकता होती है, उसे न माने तो ज्ञानस्वभाव प्रतीति में नहीं आता। इसलिए हे भाई! तू शान्त होकर अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कर! तेरे ज्ञानस्वभाव में कैसे-कैसे धर्म विद्यमान हैं, वह आचार्यदेव बतलाते हैं; इसलिए उनकी महिमा लाकर पहिचान कर।

अहो! आत्मा का ज्ञान सामर्थ्य! ज्ञान किसे नहीं जानता? सबको जानता है। जानना कहीं दोष का कारण नहीं है। पूर्व के विकार का ज्ञान करना, वह कहीं दोष नहीं है, परन्तु जिसने वर्तमान में आत्मा का शुद्धस्वभाव जाना हो और उस स्वभाव में विकार नहीं है—ऐसा ज्ञान किया हो, वही पूर्व के विकार का यथार्थ ज्ञान कर सकता है। वह ज्ञान कहीं विकार का कारण नहीं है। सर्वज्ञ के ज्ञान में क्या ज्ञात नहीं होता?—केवली भगवान पूर्व काल में निगोददशा में थे, उसे भी वे जानते हैं; जगत के गूढ़ से गूढ़ विषयों को वे जानते हैं, तथापि उनके ज्ञान में किंचित्मात्र विकार नहीं होता।—तो हे जीव! क्या तुझमें वैसा स्वभाव नहीं है? सर्वज्ञ का वैसा स्वभाव कहाँ से प्रगट हुआ है? भीतर आत्मा में वैसा स्वभाव शक्तिरूप से था ही, उसी के अवलम्बन से वह प्रगट हुआ है और तेरे आत्मा में भी वैसा ही ज्ञानस्वभाव है; अन्तर्मुख होकर उसकी प्रतीति करके अवलम्बन कर तो तुझमें भी सर्वज्ञ जैसा स्वभावसामर्थ्य प्रगट हो जायेगा।

जो सर्वज्ञ भगवान हुए, उनकी शक्ति में और तेरे आत्मा की शक्ति में कुछ भी अन्तर नहीं है; सर्वज्ञ की अपेक्षा तेरे आत्मा की शक्ति में किंचित् भी न्यूनता नहीं है। यदि आत्मा में सर्वज्ञ जितनी ही परिपूर्ण शक्ति न हो तो सर्वज्ञता आयेगी कहाँ से? वर्तमान पर्याय में हीनता और विकारी भाव हो, वह दोष है; परन्तु चैतन्य के ज्ञानसामर्थ्य में पूर्व का विकार

ज्ञात हो, वह कहीं दोष नहीं है; वह तो ज्ञान का उस प्रकार का सामर्थ्य है। चैतन्य को पाप से भिन्न रखकर पाप का ज्ञान करे—वह तो चैतन्य की स्वच्छता की महिमा है। ज्ञान अन्धा नहीं है कि विकार को न जाने। विकार को न करे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु पूर्व काल में जो विकार हो गया हो, उसे न जाने—ऐसा कहीं ज्ञान का स्वभाव नहीं है।

कोई जीव विकार का ज्ञान निकाल देना चाहे तो उसे ज्ञानस्वभाव की ही खबर नहीं है। अरे भाई! विकार ज्ञात होता है, वह तो तेरे ज्ञान का सामर्थ्य है; इसलिए उस ज्ञानसामर्थ्य को जान तो उसके अवलम्बन से विकार दूर हो जायेगा। आत्मा का विकास होने से विकार दूर हो जाएगा परन्तु विकार का ज्ञान दूर नहीं होगा। सबका ज्ञान करके ज्ञानरूप से रहना और विकाररूप न होना—वही आत्मा का स्वभाव है। अपने ज्ञान में अनेक परपदार्थों को जानने से ज्ञान की अनेकता होती है, परन्तु वह ज्ञान कहीं पररूप नहीं हो जाता।—इस प्रकार अपने ज्ञान की प्रतीति करना चाहिए।

मिश्री मीठी है; अफीम कड़वी है; नीबू को देखकर जीभ पर पानी आ जाता है और इमली को देखकर मुँह में अमी झरता है;—इस प्रकार समस्त पदार्थों की प्रतीति करता है तथा इमली मुँह में दिये बिना मात्र उसे देखने ही मुँह में अमी झरता है—ऐसा मानता है, तो हे भाई! परज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट हुए बिना चौदह ब्रह्माण्ड के समस्त ज्ञेय पदार्थों को देखकर आत्मा में उनका ज्ञान होता है और अपूर्व आनन्द का रस झरता है—ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति क्यों नहीं करता? ज्ञानस्वभाव को चूककर परज्ञेयों में अपनत्व मानकर उनमें राग-द्वेष करके अटका, इसलिए पूर्णज्ञान नहीं हुआ और आत्मा में आनन्द का रस नहीं झरा, परन्तु सर्व ज्ञेयों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर जैसे का तैसा ज्ञाता रहा और कहीं राग-द्वेष में नहीं रुका, वहाँ पूर्ण ज्ञान हुआ और आत्मा में अपूर्व अमृत झरा। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आत्मा के सहज आनन्दरूपी अमृत का अनुभव नहीं होता।

— यहाँ २५ वें ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। अब नियतिनय तथा अनियतिनय से आत्मद्रव्य का वर्णन करेंगे। ●●

(26)

नियतिनय

नियतिनयेन नियमितौष्ण्यव-ह्निवन्नियतस्वभावभासि २६।

आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है, ऐसी अग्नि की भाँति। [आत्मा नियतिनय से नियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे अग्नि के उष्णता का नियम होने से अग्नि नियतस्वभाववाली भासित होती है।] २६.

अनन्त धर्मवाला चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रमाणज्ञान से ज्ञात होता है; उसका २५ नयों से अनेक प्रकार से वर्णन किया है। अब, नियति, स्वभाव, काल, पुरुषार्थ और दैव—इन पाँच बोलों का वर्णन करते हैं; उनमें प्रथम नियतिनय से आत्मा कैसा है, वह कहते हैं।

आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है; जिस प्रकार उष्णता, वह अग्नि का नियत स्वभाव है, उसी प्रकार नियतिनय से आत्मा भी अपने नियतस्वभाववाला भासित होता है। आत्मा के त्रिकाल एकरूप स्वभाव को यहाँ नियतस्वभाव कहा है; उस स्वभाव को देखनेवाले नियतिनय से जब देखो, तब आत्मा अपने चैतन्यस्वभावरूप से एकरूप भासित होता है। पर्याय में कभी तीव्रराग, कभी मन्दराग और कभी रागरहितपना, और कभी राग बदलकर द्वेष, कभी मतिज्ञान और कभी केवलज्ञान, एक क्षण मनुष्य और दूसरे क्षण देव—इस तरह अनेक प्रकार होते हैं;—उनका वर्णन आगे आनेवाले बोल में आत्मा के अनियतस्वभावरूप से करेंगे। यहाँ आत्मा के नियतस्वभाव की बात है। जैसा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव है, वैसे ही नियतस्वभावरूप से आत्मा सदैव प्रतिभासित होता है; पर्याय अल्प हो या अधिक हो, विकारी हो या निर्मल हो, परन्तु नियतस्वभाव से तो आत्मा सदैव एकरूप है। ऐसे नियतस्वभाव को जो देखता है, उसे अकेली पर्यायबुद्धि नहीं रहेगी किन्तु द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन होगा। पर्यायबुद्धिवाला जीव आत्मा को एकरूप नियतस्वभाव से नहीं देख सकता और न उसके नियतिनय होता है।

यहाँ द्रव्य के त्रिकाल स्वभाव को ही नियत कहा है; जिस प्रकार उष्णता, वह अग्नि का नियतस्वभाव है, अग्नि सदैव उष्ण ही होती है; ऐसा कभी नहीं हो सकता कि अग्नि उष्णतारहित हो। उसी प्रकार चैतन्यपना आत्मा का नियतस्वभाव है; उस स्वभाव से जब देखो, तब आत्मा एकरूप चैतन्यस्वरूपमय ज्ञात होता है। यद्यपि पर्याय में भी नियतपना अर्थात् क्रमबद्धपना है; जिस समय जिस पर्याय का होना नियत है, वही होती है; उसके क्रम में परिवर्तन नहीं होता—ऐसा पर्याय का नियतस्वभाव है; परन्तु इस समय यहाँ उसकी बात नहीं है; यहाँ तो निमित्त की अपेक्षारहित आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वाभाविक धर्म है, उसका नाम नियतस्वभाव है और वह नियतिनय का विषय है।

जिस प्रकार अग्नि का उष्णस्वभाव है, वह नियत ही है,—निश्चित ही है; अग्नि सदैव उष्ण ही होती है। उसी प्रकार आत्मा का चैतन्यस्वभाव नियत-निश्चित-सदैव एकरूप है; नियतस्वभाव से आत्मा अनादि-अनन्त एकरूप नियत परमपारिणामिक-स्वभावरूप ही भासित होता है; बन्ध-मोक्ष के भेद भी उसमें दिखाई नहीं देते। बन्ध और मोक्ष की पर्यायें नियत अर्थात् स्थायी एकरूप नहीं हैं परन्तु अनियत हैं। उदय-उपशम-क्षयोपशम या क्षायिक—यह चारों भाव भी अनियत हैं; परमपारिणामिकस्वभाव ही नियत है। आत्मा का सहज निरपेक्ष शुद्धस्वभाव ही नियत है। नियतिनय आत्मा को सदैव ज्ञायकस्वभावरूप ही देखता है। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है, वह नियत-निश्चित हुआ अनादि-अनन्त स्वभाव है; उसमें कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जाननेवाला जीव, पर्याय के अनेक प्रकारों को भी जानता है, तथापि उसे पर्यायबुद्धि नहीं होती। आत्मा के नियत एकरूप ध्रुवस्वभाव को जानने से उसी का आश्रय होता है; इसके अतिरिक्त किसी निमित्त, विकल्प या पर्याय के आश्रय की मान्यता नहीं रहती। इस प्रकार प्रत्येक नय से शुद्ध आत्मा की ही साधना होती है। जो जीव अन्तरंग में शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं देखता, उसके एक भी नय सच्चा नहीं होता।

जैसे कोई कहे कि—ऐसा नियम बनाओ जिसमें कभी परिवर्तन न हो। उसी प्रकार यह नियतिनय आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम बाँधता है कि जो कभी पलट न सके, आत्मा का नियम क्या है ?—कि अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव से त्रिकाल रहना ही उसका

नियम है; अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को वह कभी नहीं छोड़ता। जो आत्मस्वभाव के ऐसे नियम को जानता है, वह नियम से मुक्ति प्राप्त करता है।

देखो, यह आत्मस्वभाव के गीत! सन्तों के अन्तर अनुभव में से यह झन्कार उठी है कि अरे जीव! तूने अपने नियत परमानन्दस्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है; तेरा सहजज्ञान और आनन्दस्वभाव तुझमें नियत है; तू सदैव अनाकुल शान्तरस का कुण्ड है; यदि अग्नि कभी अपनी उष्णता को छोड़ दे तो भगवान आत्मा अपने पवित्र चैतन्यस्वभाव को छोड़े! परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। केवलज्ञान और परम आनन्द प्रगट होने के सामर्थ्य से सदैव परिपूर्ण ऐसा तेरा नियतस्वभाव है; उस स्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म प्रगट होता है; इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य से धर्म नहीं आता। एक बार अन्तर में अपने ऐसे नियतस्वभाव को देख!

नियतिनय से देखने पर पवित्रता का पिण्ड आत्मा स्वयं चैतन्यस्वभाव से नियत ज्ञात होता है—ऐसा उसका धर्म है। यह धर्म आत्मा को सदैव अपने परम शुद्ध अमृतरस में डुबा रखता है; अपने शान्त उपशमरस में स्थिर-नियत रखता है। नरक में या स्वर्ग में; अज्ञानदशा के समय या साधकदशा के समय, निगोद में था, तब या सिद्धदशा में होगा तब—कभी भी वह अपने स्वभाव को बदलकर अन्यरूप नहीं हो जाता—ऐसा आत्मा का नियतस्वभाव है। जो ऐसे नियतस्वभाव को जाने, उसके पर्याय में भी ऐसा ही नियत होता है कि अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करे।

एक ओर देखने से अनुकूलता में राग और फिर वह बदलकर प्रतिकूलता में द्वेष—इस प्रकार आत्मा अनियतस्वभाव से लक्ष्य में आता है; और दूसरी आरे से देखने पर तीन लोक की चाहे जैसी प्रतिकूलता आ पड़े, तथापि आत्मा कभी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता —ऐसा उसका नियतस्वभाव है।—इस प्रकार दोनों स्वभावों से जो आत्मा को जानता है, उसे ध्रुव एकरूप स्वभाव की महिमा आकर उसमें अन्तरोन्मुख हुए बिना नहीं रहेगी।

जिस प्रकार, अग्नि में उष्णता न हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव अनादि-अनन्त एकरूप है, उसका नाम नियतस्वभाव है। अग्नि का स्वभाव ऐसा नियत है कि उसमें उष्णता होती ही है; उसी प्रकार आत्मा में ऐसा

नियत धर्म है कि अपने शुद्धचैतन्यस्वभाव से वह कभी पृथक् नहीं होता। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव अनन्त सहजानन्द की मूर्ति है; उस स्वभाव को देखनेवाले ज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानते कि किन्हीं अनुकूल निमित्तों से मेरा स्वभाव नवीन उत्पन्न होता है अथवा प्रतिकूल निमित्तों से मेरा स्वभाव नष्ट हो जाता है या उसमें परिवर्तन हो जाता है। इसलिए उन ज्ञानियों को चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में भी अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष होते ही नहीं। वे जानते हैं कि हमारा आत्मा त्रिकाल चैतन्य ज्ञायकरूप से नियत है; हमें अपने ज्ञायकस्वभाव से छुड़ाने की किन्हीं संयोगों की तो शक्ति नहीं है, और पर्याय के क्षणिक विकार में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि हमें अपने स्वभाव से पृथक् कर दे। जिस प्रकार लोग नियम लेते हैं कि हम अमुक वस्तु नहीं खाएँगे; उसी प्रकार आत्मा नियतस्वभाव का ऐसा नियम है कि तीन काल में कभी भी अपने चैतन्यस्वभाव को छोड़कर विभावरूप नहीं होना। जो घड़ी-घड़ी में बदले, उसे नियम नहीं कहा जाता।

देखो, यह किसकी बात चल रही है? यह भगवान आत्मा के गीत गाये जा रहे हैं; आत्मा में जो धर्म हैं, उनकी यह महिमा गायी जा रही है। अज्ञानी को अनादि काल से अपने स्वभाव की महिमा नहीं रुचती और वह पर की महिमा करता है। जहाँ उच्च प्रकार के हीरे-जवाहरात या आभूषणों की महिमा सुनता है, वहाँ उनकी महिमा आ जाती है, परन्तु आत्मा स्वयं तीन लोक का प्रकाशक चैतन्य हीरा है, उसके स्वभाव की महिमा गायी जा रही है, उसे सुनने में अज्ञानी को रुचि या उत्साह नहीं आता। यहाँ तो जिसे आत्मा का स्वभाव समझने की जिज्ञासा जागृत हुई है, उसे आचार्यदेव समझाते हैं।

आत्मा का शुद्धस्वभाव त्रिकाल नियमित है; उसी के आधार से पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है; इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य में से, विकार में से या क्षणिक पर्याय में से शुद्ध पर्याय नहीं आती। भगवान आत्मा ने अपनी पवित्रता के पिण्ड को कभी छोड़ा नहीं है, पर्याय में जो शुद्धता प्रगट होती है, वह तो पहले नहीं थी और नवीन प्रगट हुई, इसलिए वह अनियत है; और शुद्ध स्वभाव ध्रुवरूप से सदैव ऐसे का ऐसा ही है; इसलिए वह नियत है। पर्याय जिस समय जो होना हो, वही होती है;—इस प्रकार से पर्याय का जो नियत है, उसकी इस नियतनय में बात नहीं है परन्तु यहाँ तो द्रव्य के नियतस्वभाव की बात है, क्योंकि नियत के समक्ष फिर अनियतस्वभाव का भी कथन करेंगे; उसमें पर्याय की बात

लेंगे। पर्यायों के नियतपने की (क्रमबद्धपर्याय की) जो बात है, उसमें नियत और अनियत ऐसे दो प्रकार नहीं हैं; उसमें तो नियत का एक ही प्रकार है कि समस्त पर्यायें नियत ही हैं—कोई भी पर्याय अनियत नहीं है। परन्तु इस समय तो आत्मवस्तु में नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव—ऐसे दोनों धर्म उतारना है; इसलिए यहाँ नियत अर्थात् द्रव्य का एकरूप स्वभाव; पर्याय का क्रम नियत है परन्तु पर्यायस्वभाव त्रिकाल एकसमान रहनेवाला नहीं है; इसलिए उसे यहाँ अनियतस्वभाव कहा है। जब पर्याय का नियतपना (—क्रमबद्धपना) कहना हो, उस समय तो विकार भी नियत कहा जाता है; ज्ञान नियत है, ज्ञेय नियत हैं, विकार नियत है, संयोग और निमित्त भी नियत हैं; जो हों, वही होते हैं, अन्य नहीं होते; जिस समय जो होना है, वह सब नियत ही है। ऐसे नियत के निर्णय में भी ज्ञानस्वभाव की ही दृष्टि हो जाती है, और वस्तु का नियत-अनियतस्वभाव कहा, उसके निर्णय में भी ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हो जाती है। द्रव्य के नियतस्वभाव को जानने पर राग को अनियतधर्मरूप से जानता है; इसलिए उस राग में स्वभावबुद्धि नहीं होती; इस प्रकार आत्मा के नियतस्वभाव को जानने पर राग से भेदज्ञान हो जाता है।

राग होता है, वह आत्मा का अनियतस्वभाव है—ऐसा जाने, अथवा राग को उस समय की पर्याय के नियतरूप से जाने, तो भी उन दोनों में, 'आत्मा का नियतस्वभाव उस राग से भिन्न है' ऐसा भेदज्ञान होकर स्वभावदृष्टि होती है।

जो जीव त्रिकाली द्रव्य के नियतस्वभाव को जाने, वही जीव त्रिकाल की पर्यायों के नियतपने को यथार्थ जानता है, और क्षणिक भावों के अनियतपने को भी वही जानता है। पर्याय में राग हुआ, वह आत्मा का अपना अनियतधर्म है, इसलिए कर्म के उदय के कारण राग हुआ, यह बात नहीं रहती। आत्मा का स्थायी स्वभाव, वह नियत है और क्षणिक भाव, वह अनियत है। पूर्व अनादि काल में आत्मा नरक-निगोद आदि चाहे जिस पर्याय में रहा, तथापि आत्मा के नियतधर्म को उसने अपने शुद्धस्वभाव से एकरूप बना रखा है; जहाँ-जहाँ परिभ्रमण किया, वहाँ सर्वत्र अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को अपने साथ रखकर भटका है। यदि ऐसे अन्तरस्वभाव का ज्ञान करे तो वर्तमान में अपूर्व धर्म होता है।

नियतनय का विषय त्रिकाल एकरूप रहनेवाला द्रव्य है और अनियतनय का

विषय पर्याय है। 'अनियत' का अर्थ अक्रमबद्ध-अनिश्चित् अथवा उल्टी-सीधी पर्याय—ऐसा नहीं समझना; परन्तु पर्याय, वह आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव नहीं है किन्तु वह पलट जाता है, उस अपेक्षा से उसे अनियत धर्म समझना। पर्याय तो त्रिकाल के प्रत्येक समय की जैसी है, वैसी नियत है; उसमें कुछ उल्टा-सीधा नहीं हो सकता। बस! तू अपने ज्ञान की प्रतीति करके उसका ज्ञाता रह जा। शरीरादि मेरे हैं—यह बात भूल जा और राग को बदलूँ—यह बात भी भूल जा; शरीरादि और रागादि—सबको जाननेवाला तेरा ज्ञानस्वभाव है, उसे सँभाल; वह तेरा नियतस्वभाव है। अपने नियतस्वभाव को तूने कभी छोड़ा नहीं है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है—इस प्रकार द्रव्य के नियतस्वभाव का निर्णय करे तो वह स्वभावदृष्टि से रागादि का ज्ञाता हो गया।

द्रव्य के नियतस्वभाव को जानने पर, राग को पर्याय के नियतरूप से जाने तो उसमें भी राग का ज्ञाता हो गया।

राग, आत्मा का अनियतस्वभाव है अर्थात् वह आत्मा का त्रिकाल स्थायी स्वभाव नहीं है—ऐसा जाने तो उसमें भी राग और स्वभाव का भेदज्ञान होकर राग का ज्ञाता रह गया।

—इस प्रकार चाहे जिस रीति से समझे परन्तु उसमें ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करना ही आता है और वही धर्म है।

'नियतवाद' का बहाना लेकर अज्ञानी लोग अनेक प्रकार की अंधा-धुँधी चलाते हैं। सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा है, उसी प्रकार नियम से होता है—इस प्रकार सर्वज्ञ की श्रद्धापूर्वक के सम्यक् नियतवाद को भी अज्ञानी, गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं; परन्तु उसमें ज्ञानस्वभाव के निर्णय का महान पुरुषार्थ आता है, उसकी उन्हें खबर नहीं है। तथा दूसरे स्वच्छन्दी जीव, सर्वज्ञ के निर्णय के पुरुषार्थ को स्वीकार किए बिना अकेला नियत का नाम लेकर पुरुषार्थ को उड़ाते हैं, उन्हें भी नियतस्वभाव की खबर नहीं है।

गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है। वह जीव तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का सम्यक् पुरुषार्थ नहीं करता, सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता; परन्तु विकार का और पर का स्वामी होकर कहता है कि 'जो नियत होगा, वह होगा।' परन्तु 'जो नियत

होगा, वह होगा'—ऐसा जाना किसने ? उसका निर्णय कहाँ किया ?—अपने ज्ञान में। तो तुझे अपने ज्ञान की प्रतीति है ? ज्ञान की महत्ता और महिमा को जानकर, उसके सन्मुख होकर, ज्ञेयों के नियत को जो जानता है, वह तो मोक्षमार्गी साधक हो गया है, उसकी गोम्मटसार में बात नहीं है, परन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव, ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुए बिना और सर्वज्ञ की श्रद्धा किये बिना मात्र परसन्मुख देखकर नियत मानता है, वह मिथ्या नियतवादी है और उसी को गोम्मटसार में गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धापूर्वक अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया कि अहो! सब नियत है; जिस समय जैसा होना है, वैसा ही क्रमबद्ध होता है; मैं तो स्व-पर प्रकाशी ज्ञाता हूँ—ऐसा निर्णय, वह सम्यग्दृष्टि का सम्यक् नियतवाद है। इस नियत में द्रव्य-पर्याय सबका समावेश हो जाता है। अज्ञानी का नियतवाद ऐसा नहीं होता। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी रुचि का सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट किया और शुभ-अशुभभावों की रुचि छोड़ दी है, उसी ने वास्तव में सम्यक् नियतवाद को माना है; उसमें चैतन्य का पुरुषार्थ है, मोक्ष का मार्ग है। उसका वर्णन स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१-३२२ वीं गाथा में है; सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कैसा चिंतवन करना है, वह उसमें बतलाया है।

यहाँ प्रवचनसार में जो नियतधर्म कहा है, वह तीसरी बात है। यहाँ तो आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप शुद्ध निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव है, उसका नाम नियतधर्म है। स्वभाववान कभी अपने मूलस्वभाव को नहीं छोड़ता—ऐसा उसका नियतधर्म है। यह नियतधर्म तो ज्ञानी-अज्ञानी सभी जीवों में है; परन्तु ज्ञानी ही उसे नियतिनय द्वारा जानते हैं। नियतधर्म सभी आत्माओं में है, परन्तु नियतिनय सभी आत्माओं के नहीं होता; जो ज्ञानी, आत्मा के नियतस्वभाव को जाने, उसी के नियतिनय होता है।

इस प्रकार नियत के तीन प्रकार हुए:—

(१) गोम्मटसार में कहा हुआ ज्ञान की प्रतीतिरहित गृहीतमिथ्यादृष्टि का नियतवाद।

(२) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा हुआ ज्ञानी का नियतवाद; उसमें सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव की भावनापूर्वक सर्वज्ञदेव के देखे हुए वस्तुस्वरूप का चिन्तन करता

हुआ, जैसा होता है, वैसा पर्याय के नियत को जानता है; उसमें विषमभाव नहीं होने देता। इसलिए यह ज्ञानी का नियतवाद तो वीतरागता और सर्वज्ञता का कारण है।

(३) इस प्रवचनसार में कहा हुआ नियतस्वभाव; नियतिनय से सभी जीव त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वभाव से नियत है।

उपरोक्त तीन प्रकारों में से गोम्मटसार में जिस नियतवाद को गृहीतमिथ्यात्व में गिना है, वह अज्ञानी का है; उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वर्णित नियतवाद तो सर्वज्ञ की श्रद्धासहित और ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की सन्मुखता के पुरुषार्थसहित ज्ञानी का सम्यक् नियतवाद है; और प्रवचनसार में जिस नियतवाद की बात है, वह समस्त जीवों का त्रिकालिक एकरूप शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है, उसकी बात है। आत्मा अपने असली चैतन्यस्वभाव को कभी नहीं छोड़ता—ऐसा उसका नियतस्वभाव है। जो जीव ऐसे नियतस्वभाव को जाने, उसे विकार पर बुद्धि नहीं रहती, क्योंकि विकार, आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं है; इसलिए इस नियत में उसका स्वीकार नहीं है। इस तीसरे बोल की अपेक्षा से तो विकार आत्मा का 'अनियतस्वभाव' है, और दूसरे बोल की अपेक्षा से तो विकार भाव भी 'नियत' है, क्योंकि उस समय उसी पर्याय का क्रम नियत है।

विकार होता है, वह आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है; इसलिए अनियतरूप से उसका वर्णन करेंगे, परन्तु उस अनियत का अर्थ ऐसा नहीं है कि उस समय की उस पर्याय के क्रम में भंग पड़ा! आत्मा की पर्याय में कभी विकार होता है और कभी नहीं होता; और न वह सदैव एक-सा रहता है—इसलिए उसे अनियत कहा है, परन्तु पर्याय के क्रम की अपेक्षा से तो वह भी नियत ही है। वस्तुस्वभाव त्रिकाल व्यवस्थित परिणमित हो रहा है; उसकी तीनों काल की पर्यायों में इतनी नियमितता है कि उसके क्रम का भंग करने में अनन्त तीर्थंकर भी समर्थ नहीं हैं। पर्यायों के ऐसे व्यवस्थितपने का निर्णय करनेवाला जीव स्वयं त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख देखकर वह निर्णय करता है; इसलिए वह स्वयं स्वभावोन्मुख और मोक्षपथ में बैठा हुआ साधक हो गया है। क्रमरूप पर्यायें एकसाथ नहीं होती; इसलिए उस क्रम की प्रतीति करनेवाले की दृष्टि अक्रमरूप द्रव्यस्वभाव पर होती है और उसी में मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ आ जाता है।

धर्मी जीव नियतनय से ऐसा जानता है कि मैंने अपने स्वभाव को सदैव ऐसे का

ऐसा नियत बना रखा है; मेरे स्वभाव में कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं; विकार के समय मेरे स्वभाव में से कुछ कम नहीं हो जाता और न केवलज्ञान होने से कुछ बढ़ जाता है; पर्याय में विकार हो या निर्विकारीपना हो, परन्तु अपने नियत स्वभाव से तो सदैव एकरूप हूँ। इस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा का नियत धर्म है परन्तु उसी के साथ पर्याय अपेक्षा से अनियत धर्म भी विद्यमान है, उसे भी धर्मी जानता है; उसका वर्णन अगले बोल में करेंगे।

✦✦✦

अग्नि कभी ठण्डी हो और कभी गर्म हो—ऐसे दो प्रकार उसमें नहीं हैं; अग्नि गर्म ही होती है—ऐसा एक नियत प्रकार है। उसी प्रकार नियतिनय से आत्मा में भी ऐसा नियत स्वभाव है कि वह सदैव एकरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही रहता है। जिस प्रकार अग्नि कभी अपनी उष्णता से पृथक् नहीं होती—ऐसा उसके स्वभाव का नियम है; उसी प्रकार आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम है कि वह अपने शुद्ध चैतन्यत्व से कभी पृथक् नहीं होता।

यहाँ त्रिकाली शुद्धस्वभाव के नियम को नियत कहा है। गोम्मटसार का नियतवादी तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ से रहित है; इसलिए वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है और द्वादशानुप्रेक्षा में ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थसहित सम्यग्दृष्टि के सम्यक् नियतवाद का वर्णन है। जिस पदार्थ की जिस समय, जिस प्रकार जिस अवस्था का होना सर्वज्ञदेव के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है, उस पदार्थ की उस समय उसी प्रकार वैसी ही अवस्था नियम से होती है; कोई इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी उसमें फेरफार नहीं कर सकते—ऐसा वस्तुस्वरूप समझनेवाले सम्यग्दृष्टि को साथ में ऐसी भी प्रतीति है कि मैं ज्ञाता हूँ; इसलिए पर से उदासीन होकर वह उसका ज्ञाता रहा, और अपनी पर्याय का आधार द्रव्य है, उस द्रव्य की ओर उन्मुख हुआ; द्रव्यदृष्टि से उसे क्रमशः पर्याय की शुद्धता होने लगती है।—ऐसा यह सम्यक्नियतवाद है।

देखो, गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा, और यहाँ सम्यग्दृष्टि के नियतवाद को यथार्थ कहा। कहाँ कौन-सी अपेक्षा है, वह गुरुगम से समझना चाहिए।

जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही;
वहाँ-वहाँ वह-वह आचरे, आत्मार्थीजन सही॥

कुछ लोग तो 'नियत'—ऐसा शब्द सुनकर ही भड़क उठते हैं, परन्तु भाई! तू जरा समझ तो कि ज्ञानी क्या कहते हैं? 'क्रमबद्ध जैसा होना नियत है, वैसा ही होता है'—ऐसा जानने का बीड़ा किसने उठाया? जिस ज्ञान ने वह बीड़ा उठाया है, वह अपने ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति के बिना वह बीड़ा नहीं उठा सकता; क्रमबद्ध जैसा होना नियत है, वैसा ही होता है—ऐसा बीड़ा उठानेवाले ज्ञान में ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ—इत्यादि सभी समवाय आ जाते हैं।

(१) यहाँ कहा हुआ नियत धर्म सभी जीवों में है।

(२) द्वादशानुप्रेक्षा में कथित सम्यक्नियतवाद सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

(३) गोम्मटसार में कथित मिथ्या नियतवाद गृहीत मिथ्यादृष्टि के ही होता है।

—इसलिए नियत का जहाँ जो प्रकार हो, वह समझना चाहिए; मात्र 'नियत' शब्द सुनकर भड़कना नहीं चाहिए।

'नियतस्वभाव' भी आत्मा का एक धर्म है; और उस धर्म से आत्मा को जानने पर उसके दूसरे अनन्त धर्मों की स्वीकृति भी साथ ही आ जाती है। आत्मा में अनन्त धर्म एक साथ ही हैं; उनमें से एक धर्म की यथार्थ प्रतीति करने से दूसरे समस्त धर्मों की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है और प्रमाणज्ञान होकर अनन्त धर्मों के पिण्डरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है।

पाँच समवाय कारणों में जो भवितव्य अथवा नियति आता है, वह सम्यक् नियतवाद है; उसके साथ दूसरे चारों समवाय आ जाते हैं। न होनेवाला हो जाए—ऐसा कभी होता ही नहीं; जो होता है, वह सब नियत ही है। परन्तु उस नियत के निर्णय में ज्ञातास्वभाव का 'पुरुषार्थ' है, उस समय जो निर्मल स्वपर्याय प्रगट हुई, वही उस समय का 'काल' है; स्वभाव में जो पर्याय थी, वही प्रगट हुई है; इसलिए उसमें 'स्वभाव' भी आ गया; और जितने अंश में निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उतने अंश में कर्म का अभाव है—वह 'निमित्त' है।—इस प्रकार एक समय में पाँचों बोल एक साथ आ जाते हैं। उनमें नियत-अनियतरूप अनेकान्त उतारना हो तो जो भवितव्य है, वह 'नियत' और नियत के अतिरिक्त अन्य चार बोल हैं, वह 'अनियत'—इस प्रकार नियत-अनियतरूप अनेकान्त, वह भगवान का मार्ग

है। परन्तु उसमें 'अनियत' शब्द का अर्थ 'आगे-पीछे या अनिश्चित्'—ऐसा नहीं समझना चाहिए; किन्तु आत्मा के नियत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का नाम 'अनियत' समझना चाहिए।

सम्यक् नियत में तो विकारी-अविकारी और जड़ की समस्त पर्यायें आती हैं, क्योंकि समस्त पर्यायों का क्रम नियत ही है; और यहाँ कहे हुए नियतस्वभाव में तो अकेला ध्रुवस्वभाव ही आता है; उसमें पर्याय नहीं आती।

पर्याय के नियत का निर्णय भी द्रव्य के निर्णय बिना नहीं किया जा सकता, क्योंकि पर्यायें द्रव्य में से ही आती हैं। निश्चित पर्याय का निर्णय करने में द्रव्यसन्मुखता का अपूर्व पुरुषार्थ है; वह निर्णय करनेवाले को पर्यायबुद्धि नहीं रहती। वर्तमान पर्याय की बुद्धि अन्तर्मुख होकर द्रव्य में प्रविष्ट हो जाए, तभी सम्यक् नियत का निर्णय होता है। पर्याय में समय-समय का विकार है, वह मेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं है—इस प्रकार दोनों धर्मों से आत्मा को जाने तो अवस्था विकार की ओर से विमुख होकर चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख हो जाती है और सम्यग्ज्ञान होता है।

द्रव्य का त्रिकाल नियतस्वभाव है, उसकी दृष्टि करे, या पर्याय के नियत का यथार्थ निर्णय करे, अथवा नियत और पुरुषार्थ आदि पाँचों समवाय एक साथ हैं, उन्हें समझे, तो मिथ्याबुद्धि दूर होकर स्वभावोन्मुख हो जाती है। जिसने नियति का यथार्थ निर्णय किया, उसके आत्मा के ज्ञानस्वभाव का, केवली भगवान का और पुरुषार्थ का विश्वास भी साथ ही है। नियति का निर्णय कहो, स्वभाव का निर्णय कहो, केवलज्ञान का निर्णय कहो, पाँच समवाय का निर्णय कहो, सम्यक् पुरुषार्थ कहो—वह सब एक साथ ही है।

नियत के साथवाले दूसरे पुरुषार्थ आदि चार बोल हैं, उन्हें नियत में नहीं लेते; इसलिए उन्हें अनियत कहा जाता है। इस प्रकार नियत और अनियत—ऐसा वस्तुस्वभाव है। अथवा दूसरे प्रकार से—द्रव्य का एकरूप स्वभाव, वह नियतधर्म है और पर्याय में विविधता होती है, वह अनियतधर्म है;—इस प्रकार नियत और अनियत दोनों धर्म एक साथ विद्यमान हैं। उनमें नियतिनय से आत्मा के द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया; अब अनियतिनय से पर्याय की बात करेंगे।

—यहाँ २६ वें नियतिनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(27)
अनियतिनय

अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि २७।

आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसके उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है, ऐसे पानी की भाँति। [आत्मा अनियतिनय से अनियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे पानी के (अग्नि के निमित्त से होनेवाली) उष्णता अनियत-होने से पानी अनियतस्वभाववाला भासित होता है।] २७.

नियतिनय से आत्मा के एकरूप द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया; अब अनियतिनय से पर्याय की बात करते हैं। आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है; जिस प्रकार पानी में उष्णता नियमित नहीं है परन्तु अग्नि का निमित्त पाकर कभी-कभी उसमें उष्णता आ जाती है; उसी प्रकार अनियतिनय से आत्मा, रागादि अनियतस्वभावरूप ज्ञाता होता है।

पानी का स्थायी स्वभाव ठण्डा है, वह नियत है, और उष्णता उसके ठण्डे स्वभाव से विपरीत दशा है; वह उष्णता पानी में नित्यस्थायी रहनेवाली नहीं है; इसलिए अनियत है; उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में रागादि विकारी भाव होते हैं, वे स्थायी रहनेवाले नहीं है परन्तु क्षणिक हैं; इसलिए वह अनियत है। ऐसा अनियतपना भी आत्मा का एक धर्म है। परन्तु 'होना नहीं था और हो गया'—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नहीं है। रागादि को अनियत कहा, इसलिए कहीं पर्याय का क्रम टूट जाता है—ऐसा नहीं है; जो रागादि हुए, वे कहीं पर्याय का क्रम टूटकर नहीं हुए हैं। पर्याय के क्रम की अपेक्षा से रागादि भी नियत क्रम में ही हैं, परन्तु रागादि अशुद्धभाव हैं, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नहीं है, इसलिए उसे अनियतस्वभाव कहा है। अनियतिनय से देखें तो उसमें भी क्रमबद्धपर्याय का फेरफार होना नहीं आता; पर्याय का क्रम तो नियत ही है।

गोम्मटसार में एकान्त नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है, वह तो अलग बात है और यहाँ अलग बात है। गोम्मटसार में जिस नियतवाद को मिथ्यादृष्टि कहा है, वह तो नियत के नाम से मात्र स्वच्छन्द का सेवन करता है; परन्तु नियत के साथ अपना ज्ञातास्वभाव है, उसे वह जानता नहीं है, स्वसन्मुख होने के पुरुषार्थ को और सर्वज्ञ को मानता नहीं है, परसन्मुख ही रुचि रखता है किन्तु अनन्त स्वसामर्थ्यमय ज्ञानस्वभाव की रुचि नहीं करता; स्वभाव की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के पुरुषार्थ को वह स्वीकार नहीं करता, अपनी निर्मलपर्यायरूप स्वकाल को वह जानता नहीं है, और निमित्त में कितने कर्मों का अभाव हुआ है, उसे भी वह नहीं समझता।—इस प्रकार किसी प्रकार के मेल बिना मात्र नियत की बातें करके स्वच्छन्दी होता है; नियत के साथ के पुरुषार्थ आदि समवायों को वह मानता नहीं है और श्रद्धा-ज्ञान का सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट नहीं करता; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है, परन्तु सम्यग्दृष्टि तो नियत के साथ-साथ सर्वज्ञ का भी निर्णय करता है और 'मैं ज्ञातास्वभाव हूँ'—ऐसा भी स्वसन्मुख होकर प्रतीति करता है; इसलिए नियत के निर्णय में उसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान का पुरुषार्थ भी साथ ही है; उस समय निर्मलपर्यायरूप स्वकाल है तथा निमित्त में मिथ्यात्वादि कर्म का अभाव है; इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को एक साथ पाँच समवाय आ जाते हैं। नियत के निर्णय के सम्बन्ध में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का यह महान अन्तर है, वह अज्ञानी नहीं समझ सकते; इसलिए भ्रम से दोनों में समानता लगती है, परन्तु वास्तव में तो उन दोनों में आकाश-पाताल जितना अन्तर है।

'मैं ज्ञायक हूँ'—इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव की जिसे प्रतीति नहीं है और जो पर में फेरफार करने के मिथ्याभिमान का सेवन कर रहे हैं, वे यह नियतवस्तुस्वभाव की यह बात सुनते ही भड़के उठते हैं कि 'अरे! क्या सब नियत है!! हमारे पुरुषार्थ से कुछ फेरफार नहीं हो सकता?' अर्थात् उसे ज्ञाता नहीं रहना है किन्तु फेरफार करना है;—यह बुद्धि ही मिथ्यात्व है। अज्ञानी मानता है कि वस्तु की पर्याय नियत नहीं है, अर्थात् निश्चित नहीं है; उसमें हम अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते हैं;—यह उसकी मान्यता मिथ्या है, क्योंकि वस्तु की पर्यायों में ऐसा अनियतपना नहीं है कि वे आगे-पीछे हो जाएँ! यहाँ आत्मा के अनियत धर्म का वर्णन करते हैं, उसमें तो अलग बात है; कहीं उसमें पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने की बात नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि इस अनियतनय में तो हमारी मान्यतानुसार वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में फेरफार होना आयेगा!—परन्तु ऐसा नहीं है; किसी पर्याय का क्रम तो फिरता ही नहीं है—इस नियम को अबाधित रखकर ही सब बात है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर, आत्मा शुद्धरूप दिखाई देता है और पर्याय-दृष्टि से देखने पर अशुद्ध दिखाई देता है, वह अशुद्धता आत्मा का अनियतस्वभाव है; क्षणिक अशुद्धता को भी आत्मा स्वयं अपनी पर्याय में धारण कर रखता है।

आत्मा के अनियत धर्म को कौन मान सकता है?

आत्मा एकान्त शुद्ध है, उसकी पर्याय में भी विभाव नहीं है—ऐसा जो माने, उसने आत्मा के अनियत धर्म को नहीं जाना है; अथवा आत्मा की पर्याय में जो विकार है, वह पर के कारण होता है—ऐसा माने तो वह भी आत्मा के अनियत धर्म को नहीं जानता है; और पर्याय में जो क्षणिक विकार है, उसी को यदि आत्मा का स्थायी स्वभाव मान ले तो उसने भी आत्मा के अनियत धर्म को नहीं जाना है; पर्याय में जो विकार है, वह उसके अपने कारण से है, परन्तु वह आत्मा का त्रिकाल रहनेवाला स्वभाव नहीं है, अपितु क्षणिक अशुद्धभाव है—ऐसा जो जाने, उसी ने आत्मा के अनियत धर्म को यथार्थरूप से माना कहा जाता है।

सर्व जीव, कर्म के वश हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिए कर्म ही जीव को विकार करता है—ऐसा वह मानता है, परन्तु आत्मा के अनियत धर्म को वह नहीं जानता है। रागादि विकार होता है, वह कहीं जड़कर्म का धर्म नहीं है परन्तु वे रागादि, आत्मा की ही अवस्था में होते हैं; इसलिए आत्मा का ही अनियत धर्म है। तत्त्वार्थसूत्र में भी औदयिकभाव को भी आत्मा का स्वतत्व कहा है। रागादि भाव आत्मा का अनियतधर्म है, वह कहीं कर्म के वश नहीं है; आत्मा का वह धर्म कहीं जड़कर्म के कारण नहीं है।

'आत्मा की पर्याय में विकार नहीं होना था, किन्तु बहुत से कर्मों का एकसाथ उदय आया; इसलिए विकार हुआ'—ऐसा अनियतपना नहीं है, परन्तु आत्मा के स्वभाव का जो एकरूप नियम है, वैसा पर्याय में नहीं है; इसलिए पर्याय के विकार को अनियत कहा है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल है, उसकी अवस्था में विकार और संसार है, वह

अनियतस्वभाव से है; एक समयपर्यन्त का अनिश्चित् है, इसलिए वह आत्मा में सदैव नहीं रहेगा, और शुद्धस्वभाव तो सदैव ज्यों का त्यों रहनेवाला है; उस स्वभाव की महिमा करके उसके सन्मुख रहने से पर्याय में अनियत ऐसा संसार दूर हो जाएगा। इसलिए हे जीव! मैं ज्ञायक आनन्दकन्दस्वभाव से नियत हूँ और अवस्था का विकार, वह अनियत है—ऐसी प्रतीति करके स्वभावोन्मुख हो! विकार, आत्मा में स्थायी रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिए पर्याय में भले ही चाहे जितना विकार हो, उससे तू अकुलाना मत, परन्तु उस विकार की तुच्छता जान, और नित्यस्थायी शुद्ध नियतस्वभाव की महिमा लाकर उसके सन्मुख दृष्टि करके उसमें स्थिर हो!—ऐसा करने से, जैसा नित्य-स्थायी शुद्धस्वभाव है, वैसी शुद्धता पर्याय में प्रगट हो जाएगी और विकार नष्ट हो जाएगा। आत्मा के शुद्धस्वभाव के आश्रय से अनियत जो विकार है, वह दूर हो जाने योग्य है, परन्तु पर्याय के क्षणिक विकार से कहीं आत्मा के नियतस्वभाव का नाश नहीं हो जाता। रागादि विकार तो क्षणिक अनियत नाशवन्त है, वे शरणभूत नहीं हो सकते, और द्रव्य का नियतस्वभाव तो सदा शुद्ध है; उसकी शरण में जाने से जीव की शान्ति और कल्याण होता है। इस प्रकार नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव—इन दोनों से आत्मा को जानकर उसके ध्रुव स्वभाव का आश्रय करना, वह प्रयोजन है।

भाई! तेरा द्रव्यस्वभाव शुद्धचैतन्यमय है, वह नियत है और पर्याय में विकारी संसारभाव है, वह अनियत है; इसलिए वह दूर हो जाएगा। नियत शुद्धस्वभाव की दृष्टि करने से अनियत विकारी भाव दूर हो जाएगा। शुभाशुभ विकार तेरा क्षणिक पर्याय-धर्म है तो भी वह अनियत है, इसलिए वह पानी की उष्णता की भाँति दूर हो जाता है। अग्नि की उष्णता, वह उसका नियतस्वभाव है; इसलिए वह दूर नहीं होता, परन्तु पानी की उष्णता अनियत है, इसलिए वह दूर हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्धचैतन्यमय द्रव्यस्वभाव तो नियत है, उसका कभी नाश नहीं होता, और पर्याय का विकार अनियतस्वभावरूप है, इसलिए वह दूर हो जाता है। इसलिए पर्याय में एक समय का विकार देखकर आकुलित मत हो, क्योंकि सारा द्रव्य विकाररूप नहीं हो गया है; द्रव्य तो नित्य शुद्धस्वभावरूप है ही, उसकी दृष्टि करने से विकार दूर हो जाएगा और शुद्धता प्रगट हो जाएगी। पर्याय का स्वभाव अनियत है—ऐसा जानकर उसका आश्रय छोड़, और द्रव्य

का स्वभाव नियत है—ऐसा जानकर उसका आश्रय कर। अहो! मैं सदैव एकरूप परमपारिणामिकभाव से नियत हूँ—ऐसा जानकर स्वाश्रय करने से सम्यग्दर्शनादि अपूर्वभाव प्रगट हो जाता है।

आत्मा सदैव चैतन्य प्रभुता से परिपूर्ण है—ऐसा नियतिनय देखता है, और पर्याय में पामरता है, उसे अनियतिनय देखता है। यह दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ हैं। आत्मा के ऐसे दोनों धर्मों को जो जानता है, उसका बल पूर्ण स्वभाव की पूर्णता की ओर ढले बिना नहीं रहता; इसलिए द्रव्य की प्रभुता के बल से पर्याय की पामरता का नाश हुए बिना नहीं रहता।

द्रव्यस्वभाव में विकार नहीं है और पर्याय में विकार हुआ, तो वह कहाँ से आया? —क्या कर्म के कारण आया? नहीं; विकार भी आत्मा का ही अनियत धर्म है; आत्मा की पर्याय में उस प्रकार की योग्यता है। अग्नि के संयोग के समय पानी गर्म हुआ, वह अग्नि के कारण नहीं हुआ है परन्तु पानी की पर्याय में उस प्रकार की योग्यता है; वह उष्णता पानी का अनियतधर्म है; उसी प्रकार आत्मा में जो रागादि पर्याय होती है, वह उसका अनियतधर्म है। यदि उस एक धर्म को भी निकाल दें या पर के कारण मानें तो सारी आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होती अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार सौ वर्ष की उम्र का कोई व्यक्ति हो; उसके साथ वर्ष में से बीच का एक समय भी निकाल दिया जाये तो उस व्यक्ति की सौ वर्ष की अखण्डता नहीं रहती, परन्तु उसके दो टुकड़े हो जाते हैं; उसी प्रकार आत्मा अनन्त धर्मों का अखण्ड पिण्ड है; उसमें से उसके एक भी अंश को निकाल दें तो अखण्ड वस्तु सिद्ध नहीं होती।

यहाँ नय से जिन-जिन धर्मों का वर्णन किया है, वे धर्म आत्मा के हैं; इसलिए नयज्ञान स्व की ओर देखता है। पर की ओर देखने से आत्मा के धर्मों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्मा की ओर उन्मुख होने से ही उसके धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है।

केवली भगवान को तेरहवें गुणस्थान में योग का कम्पन है, वह उनका अनियतधर्म है; अघातिकर्म के कारण वह कम्पन नहीं है। योग का कम्पन भी आत्मा का अपना औदयिकभाव है; वह भी स्वतत्त्व का धर्म है। द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर प्रमाण हैं,

पर्याय का धर्म भी आत्मा का अपना धर्म है; पर्याय का धर्म कहीं पर के आधार पर अवलम्बित नहीं है। पर्याय में जो विकार हुआ, उस पर्यायरूप से कौन भासित होता है ?— अनियतनय से आत्मद्रव्य स्वयं ही विकाररूप भासित होता है; कहीं परद्रव्य विकाररूप भासित नहीं होता।

वस्तु के अनन्त धर्मों को सर्वज्ञदेव प्रत्यक्ष जानते हैं; और साधक सम्यग्ज्ञानी उन्हें प्रतीति में लेते हैं। यह धर्म पूर्णरूप अपनी आत्मा की प्रतीति कराते हैं; धर्मी आत्मा की प्रतीति के बिना धर्म की प्रतीति नहीं होती। यह तो वीतरागता के मन्त्र हैं।

प्रमाणज्ञान कराने के लिये द्रव्य और पर्याय दोनों की बात साथ ही साथ ली है। नियतिनय, द्रव्य अपेक्षा से आत्मा के नियतस्वभाव को देखता है और उसी समय पर्याय की अपेक्षा से आत्मा में अनियतस्वभाव भी है; उसे देखनेवाला अनियतिनय है। आत्मा की पर्याय में भूल और विकार सर्वथा हैं ही नहीं—ऐसा नहीं है; भूल और विकार भी आत्मा का अपना अनियतस्वभाव है, और आत्मा का स्थायी स्वभाव भूलरहित चैतन्यस्वरूपी है। वस्तु में जैसा हो, वैसा ही यदि न जाने तो ज्ञान की महिमा क्या ? और उसकी प्रमाणता क्या ? आत्मा के विकाररहित त्रिकालीस्वभाव को ज्ञान जानता है। यदि स्वभाव और विकार—दोनों को न जाने तो विकार में से एकाग्रता दूर होकर स्वभाव में एकाग्र होना नहीं रहता, और सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता, इसलिए किसी प्रकार का धर्म नहीं होता।

द्रव्यरूप से तो आत्मा सदैव एकरूप नियतस्वभाव से है, और उसकी पर्याय में हीनाधिकता के अनेक प्रकार होते हैं; इसलिए अनियतपना भी है। पर्याय में अनेक प्रकार और विकार हैं, उन्हें यदि न जाने तो ज्ञान सम्यक् नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता तो नियत है और पानी में उष्णता अनियत है; इसलिए कभी होती है और कभी नहीं भी होती। पानी का स्थायी स्वभाव नित्य ठण्डा होने पर भी, उसकी वर्तमान पर्याय में उष्णता, वह उसका अपना अनियतस्वभाव है; उष्णतारूप होने की उसकी अपनी क्षणिक योग्यता है; यदि उस अनियत उष्णस्वभाव को न जाने और पानी को एकान्त ठण्डा मानकर पीने लग जाए तो क्या होगा ?—मुँह जल जाएगा ! उसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा उपशमरस का समूद्र नियतस्वभाव से सदा शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी व्यक्त पर्याय में जो रागादि हैं, वह भी उसका एक समय का अनियतस्वभाव है। अपनी पर्याय में वे रागादि हैं—ऐसा

यदि न जाने और आत्मा को सर्वथा शुद्ध माने तो उसे शुद्धता का अनुभव तो नहीं होगा परन्तु मात्र रागादि की आकुलता का ही अनुभव होगा। आत्मा की पर्याय में जो क्षणिक विकार होता है, वह उसका अनियतस्वभाव है और वह 'अनियतनय' का विषय है, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नहीं है। परन्तु यदि वह विकार एकसमयपर्यन्त भी पर्याय में न होता हो तो उसे दूर करके स्वभाव में एकाग्र होने का प्रयत्न करना नहीं रहता; अर्थात् मोक्षमार्ग ही नहीं रहता। इसलिए द्रव्य और पर्याय—दोनों का यथार्थ ज्ञान हो, तभी मोक्षमार्ग की साधना हो सकती है।

वस्तु में नियत और अनियत दोनों धर्म हैं। वस्तु का जो सदैव एकरूप रहनेवाला स्वभाव है, वह नियत है और जो क्षणिक स्वभाव है, वह अनियत है। परन्तु क्रमबद्धपर्याय में जो पर्याय होना हो, उसके बदले उल्टी-सीधी होकर अनियत हो जाए—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नहीं है। जिस प्रकार द्रव्य नियत हैं, उनके जड़-चेतनादि गुण नियत हैं, उसी प्रकार उनकी समय-समय की पर्यायें भी नियत हैं। पर्यायों का क्रम कहीं अनियत नहीं है; जिस समय जो पर्याय होना नियत है, उस समय वह पर्याय नियम से होगी। सर्वज्ञ उसे जानते हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान अन्यथा नहीं होता और वस्तु की पर्यायों का क्रम भी नहीं टूटता। अहो! इस निर्णय में स्वतन्त्र वस्तु स्वभाव का निर्णय आ जाता है, और पुरुषार्थ की उन्मुखता पर की ओर से हटकर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर हो जाती है। वह अन्तर्दृष्टि की बात है। अनेक लोग अपनी कल्पितदृष्टि के अनुसार शास्त्र पढ़ जाते हैं, परन्तु पात्रता और गुरुगम के अभाव में अन्तर्दृष्टि का यह रहस्य नहीं समझ सकते।

कोई तो ऐसा कहते हैं कि—'द्रव्यों की संख्या नियत है, उनके चेतन-अचेतन गुण नियत हैं, तथा प्रतिक्षण उनका किसी न किसी प्रकार का परिणमन होगा, वह भी नियत है; परन्तु अमुक समय में अमुक ही परिणमन होगा—यह बात नियत नहीं है; जैसे संयोग आयेंगे, वैसी अवस्था होगी।' देखो, ऐसा कहनेवाले को स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप की कोई खबर नहीं है और सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नहीं है। यह बात पहले कई बार विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है। 'द्रव्य की शक्ति तो नियत है, परन्तु परिणमन किस समय कैसा होगा, वह अनियत है;—इस प्रकार नियत-अनियतपना, वह जैनदर्शन का अनेकान्तवाद है।'—ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं परन्तु वह बात मिथ्या है; जैनदर्शन के अनेकान्तवाद का ऐसा

स्वरूप नहीं है। नियत और अनियत का अर्थ तो जैसा कहा है, वैसा ही है। द्रव्यस्वभाव से आत्मा नियत शुद्ध एकरूप होने पर भी, उसकी पर्याय में जो विकार होता है, वह उसका अनियतस्वभाव है; विकार नित्य एकरूप रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिए उसे अनियत कहा है—ऐसा समझना चाहिए।

नियतधर्म से देखने पर आत्मा सदैव एकरूप शुद्ध ही भासित होता है और अनियतधर्म से देखने पर वह विकारी भी है, अनेकरूप है। यदि आत्मा में अपने में अनियतरूप से विकार होने का धर्म न हो तो अनन्त कर्म एकत्रित होकर भी उसे विकारी नहीं बना सकते। विकार अनियत होने पर भी, वह पर के कारण नहीं है परन्तु आत्मा का अपना भाव है। शुद्धस्वभाव त्रिकाल ध्रुव है, उसमें विकार नहीं है और पर्याय में हुआ; इसलिए उसे अनियत कहा है, परन्तु वह विकार होनेवाला नहीं था और हो गया—ऐसा अनियतस्वभाव नहीं है। पर्याय का जो नियतपना है, वह बात यहाँ नहीं ली है, यहाँ तो नियतरूप से त्रिकाली स्वभाव को लिया है और अनियतरूप से पर्याय की क्षणिक अशुद्धता ली है।

—यहाँ २७ वें अनियतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

यहाँ प्रवचनसार के परिशिष्ट में पाँच समवाय के बोल लिये हैं परन्तु वे दूसरी शैली से लिये हैं; उनमें से नियत और अनियत धर्म का वर्णन किया; अब आत्मा के स्वभाव धर्म और अस्वभाव धर्म की बात करेंगे। पश्चात् काल तथा अकाल तथा पुरुषार्थ और दैव का भी वर्णन करेंगे।

(28)
स्वभावनय

स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि २८।

आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्मा को स्वभावनय से संस्कार निरुपयोगी है), जिसकी किसी से नोक नहीं निकाली जाती (किन्तु जो स्वभाव से ही नुकीला है), ऐसे पैने काँटे की भाँति। २८.

आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करनेवाला है। जिस प्रकार तीक्ष्ण कण्टक स्वभाव से ही नोंकवाला है; उसकी किसी से नोंक नहीं निकाली जाती; उसी प्रकार आत्मा का जो एकरूप स्वभाव है, उसमें संस्कार निरपयोगी है। स्वभावनय से देखने पर आत्मा का जो स्वभाव है, उसमें किसी के संस्कार नहीं पड़ते। संस्कार तो क्षणिक पर्याय में कार्य कर सकते हैं; ध्रुवस्वभाव तो एकरूप है, उसमें संस्कार क्या करेंगे?

जिस प्रकार भव्य जीव का भव्य स्वभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करने की योग्यतारूप है; उस भव्य जीव ने अनादि काल से पर्याय में चाहे जितना अधर्म किया है; महाकषाय और पापभाव किये हैं, तथापि उसका भव्य स्वभाव बदल नहीं जाता, इसलिए पर्याय के जो संस्कार हैं, वे स्वभाव में नहीं पड़ते। इस प्रकार स्वभाव में संस्कार निरर्थक हैं। पर्याय में महाकषाय हिंसादि के संस्कार हैं, किन्तु संस्कार कहीं ध्रुव स्वभाव में फेरफार नहीं कर सकते; ध्रुव स्वभाव में पाप के संस्कार पड़कर, भव्य का स्वभाव बदलकर वह अभव्य हो जाए—ऐसा कभी नहीं हो सकता। तीव्र पाप करने से भव्य में से अभव्य हो जाए—ऐसा भी नहीं हो सकता; और व्रत, तपादि के महान शुभभाव करने से अभव्य का स्वभाव बदलकर वह भव्य हो जाए—ऐसा भी नहीं होता। इस प्रकार जिसका जो स्वभाव है, वह बदल नहीं सकता; अर्थात् स्वभाव में संस्कार काम नहीं कर सकते।

'अनादि से निगोद में भटका और पर्याय में महान अशुद्धता की, उसके संस्कार आत्मा में पड़ गये हैं, इसलिए अब कभी अशुद्धता दूर करके उसकी शुद्धता नहीं हो सकेगी'—ऐसा नहीं है; क्योंकि पर्याय के संस्कार द्रव्यस्वभाव में नहीं पड़ गये हैं। पर्याय में अनादि से अशुद्धता की है, तथापि द्रव्यस्वभाव ज्यों का त्यों शुद्ध है; उसका अवलम्बन करते ही पर्याय में से अशुद्धता के संस्कार दूर होकर शुद्धता के संस्कार प्रगट होते हैं।

आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि वह क्षणिक पर्याय के संस्कार को निरर्थक कर देता है, पर्याय के विकार को स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होने देता। अनादि से पर्याय में चाहे जितने विकार भाव किये, किन्तु वे भाव ध्रुव चैतन्यस्वभाव को बदल देने में समर्थ नहीं है; ध्रुवस्वभाव को अशुद्ध कर देने की शक्ति उनमें नहीं है। कोई जीव अनेक पाप करे तो उसका चैतन्यस्वभाव मिटकर वह जड़ हो जाए—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा का स्वभाव, संस्कार को निरर्थक कर देता है।

जहाँ ऐसे स्वभाव का भान हुआ, वहाँ पर्याय में भी पूर्वकालीन अधर्म के संस्कार टलकर अपूर्व धर्म के संस्कार प्रगट हुए। अहो! मेरा आत्मा पर्याय के विकार के संस्कार को निरर्थक कर डाले, ऐसे स्वभाववाला है; पर्याय के संस्कार मेरे स्वभाव को बिगाड़ नहीं सकते—मेरे स्वभाव में विकार प्रविष्ट ही नहीं हुआ है—इस प्रकार जहाँ स्वभाव की खबर पड़ी, वहाँ पूर्व काल में जितने अधर्मभाव किये थे, उनके संस्कार निरर्थक हो गये।

जिस प्रकार तीक्ष्ण कण्टक स्वभाव से ही नोंकदार है; किसी ने उसे संस्कार देकर नोक नहीं निकाली है; उसी प्रकार भगवान आत्मा स्वभाव से ही अनादि-अनन्त टंकोत्कीर्ण ज्ञानमूर्ति है; उसमें किसी से संस्कार नहीं पड़ते। इसलिए हे भाई! तू क्षणिक विकार से आकुलित मत हो, किन्तु आत्मा के स्वभाव को देख; तेरा स्वभाव त्रिकाल ज्यों का त्यों सिद्धस्वरूपी भगवान है। जहाँ पर्याय ने अन्तर में देखा, वहाँ पूर्वकालीन संस्कारों को निरर्थक जाना और विकार के साथ की एकत्वबुद्धि छूट गयी।

पर्याय में विकार हो, उससे कोई कहीं आत्मा के स्वभाव का घात नहीं हो जाता; किन्तु इससे ऐसा कहे कि—'पर्याय का विकार, स्वभाव में हानि नहीं करता; इसलिए चाहे जैसा विकार करने में कोई हानि नहीं है'—तो ऐसा कहनेवाले की दृष्टि एकदम विपरीत

है; वह इस बात को समझा ही नहीं है। जो यह बात समझ ले, उसे तो स्वभावदृष्टि हो जाती है; इसलिए उसकी पर्याय में भी तीव्र विकार तो होता ही नहीं। 'पर्याय का विकार, स्वभाव में हानि नहीं करता'—ऐसा कहनेवाला किसके समक्ष देखकर यह कहता है ?—स्वभाव की ओर देखकर कहता है;—जिसकी दृष्टि स्वभावसन्मुख होती है, उसे विकार की भावना होती ही नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि हे भाई! पूर्व काल में विकार हो गया, उससे तुझे अकुलाने की आवश्यकता नहीं है; उस विकार ने तेरे परिपूर्ण आत्मस्वभाव को विकारी नहीं बना दिया है। 'अरे रे! मैंने अनेक पाप किये, अब मेरा क्या होगा ?'—इस प्रकार अकुला मत! पाप कहाँ किये हैं ? मात्र एक समय की पर्याय में वे पाप हुए हैं; तेरे ध्रुव चैतन्यस्वभाव में तो वे पाप हुए ही नहीं हैं; उस एक समय की पर्याय के संस्कार को तेरा स्वभाव निरर्थक बना देता है, इसलिए उस स्वभाव के सन्मुख देख। जिसका स्वभाव अल्प काल में मोक्ष जाने का है, उसे पूर्वकालीन अधर्मभाव नहीं रोक सकते। जिसमें से परमात्मदशा प्रगट हो, ऐसा स्वभाव आत्मा में त्रिकाल है। चिदानन्द भगवान ज्यों का त्यों चैतन्यमूर्ति है, उसके स्वभाव को नया नहीं बनाना पड़ता। जिस प्रकार मोर स्वभाव से ही रंगबिरंगा चित्रित होता है, उसे चित्रित किया नहीं जाता; उसी प्रकार अन्य किसी संस्कार से उस स्वभाव को अन्यथा नहीं किया जा सकता। उस स्वभाव के आश्रय से सम्यक् पुरुषार्थ करने से पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या सिद्धपद प्रगट हो, तो भी उस स्वभाव में से कुछ कम नहीं हो जाता; स्वभावनय से वह ज्यों का त्यों त्रिकाल एकरूप है।

देखो, एक जीव को पर्याय में अल्प सामर्थ्य व्यक्त हुआ है, उस समय शक्ति में उसके अधिक सामर्थ्य बाकी रहा है, और फिर जब पर्याय में अधिक सामर्थ्य व्यक्त हुआ, तब शक्ति में उसे कम सामर्थ्य बाकी रहा है—ऐसा होता होगा!—नहीं; पर्याय में अल्प निर्मलता हो या अधिक हो, किन्तु शक्तिरूप स्वभाव तो ज्यों का त्यों ही परिपूर्ण रहता है; उसमें कहीं हीनाधिकता नहीं होती। इस प्रकार संस्कार को निरर्थक कर डाले, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। निगोद पर्याय या सिद्ध पर्याय, अज्ञान पर्याय या केवलज्ञान पर्याय—उस प्रत्येक समय ध्रुव स्वभाव ज्यों का त्यों ही विद्यमान है, उस स्वभाव का नाश नहीं हो गया है और न उसमें किंचित् हानि हुई है। इसलिए 'अरे रे! अभी तक हमने पाप किये हैं, अब

हमारा क्या होगा ?'—इस प्रकार आकुलित होना नहीं रहा, क्योंकि स्वभाव में वे संस्कार प्रविष्ट नहीं हो गये हैं। जहाँ दृष्टि बदलकर स्वभाव पर दृष्टि की, वहाँ पाप के संस्कार नहीं रहते। एक समय में पर्याय बदलकर स्वभावदृष्टि से सम्यग्दर्शन हो सकता है। ध्रुव स्वभाव की बड़ी ओट है; वह स्वभाव सभी विकार के संस्कारों को निरर्थक कर देता है। इसलिए हे भाई! तू अपने ऐसे ध्रुवस्वभाव की रुचि और उसी का अवलम्बन कर। मैं भगवान सिद्ध परमात्मा जैसा नित्यानन्द अशरीरी शुद्ध चैतन्यमूर्ति सदैव ज्यों का त्यों हूँ; मेरा स्वभाव किंचित् न्यून नहीं हुआ है;—इस प्रकार जो सहज एकरूप स्वभाव को जानकर उसका अवलम्बन करे, उसी के वास्तविकरूप से स्वभावनय होता है।

— यहाँ २८वें स्वभावनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(29)

अस्वभावनय

अस्वभावनयेनायस्कार-निशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि २९।

आत्मद्रव्य अस्वभावनय से संस्कार को सार्थक करनेवाला (अर्थात् आत्मा को अस्वभावनय से संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभाव से नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके लुहार के द्वारा नोक निकाली गयी हो, ऐसे पैने बाण की भाँति।) २९.

अब अस्वभावनय से आत्मा कैसा है ? वह कहते हैं:—'आत्मद्रव्य अस्वभावनय से संस्कार को सार्थक करनेवाला है।' जिस प्रकार तीर के स्वभाव से नोंक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके लुहार द्वारा नोंक बनायी जाती है; उसी प्रकार अस्वभावनय से आत्मा को संस्कार उपयोगी है अर्थात् उसकी पर्याय में नये संस्कार पड़ते हैं। देखो, पर्याय में अनादि कालीन मिथ्यात्व है, इसलिए वह बदलकर अब सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकेगा—ऐसा नहीं है, किन्तु सच्ची रुचि के संस्कार द्वारा अनादिकालीन अज्ञान दूर होकर एक क्षण में सम्यग्ज्ञान हो सकता है। अनादि काल के विपरीत भावों के संस्कार दूर करके वर्तमान पर्याय में सच्चे भाव हो सकते हैं;—इस प्रकार आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है।

आत्मा में पूर्णानन्द परमात्मस्वभाव भरा है, किन्तु अवस्था में उस स्वभाव को कभी नहीं माना और अपने को तुच्छ पामर माना है; वह विपरीत मान्यता छोड़कर पूर्णानन्दस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान द्वारा तेरी पर्याय में एक क्षण में परमात्मपने के संस्कार हो सकते हैं; इसलिए हे भाई! 'मैं पामर हूँ, मैं पापी हूँ'—ऐसी तुच्छ मान्यता के संस्कार निकाल दे, और 'मेरा आत्मा ही परमात्मा है'—इस प्रकार अपने स्वभाव-सामर्थ्य की श्रद्धा करके स्वभाव के अपूर्व संस्कार प्रगट कर। देखो, यह आत्मा के संस्कार! लोग कहते हैं कि अच्छे संस्कार डालना चाहिए; तो आत्मा में अच्छे संस्कार कैसे डाले जाएँ, उसकी यह बात है।

भाई! पर के संस्कार तुझमें नहीं हैं; 'मैं रागी, मैं जड़ का कर्ता'—ऐसे जो कुसंस्कार हैं, उन्हें निकाल दे, और 'मैं तो रागरहित चिदानन्दस्वभाव हूँ'—इस प्रकार अन्तरोन्मुख होकर अपनी पर्याय में स्वभाव के संस्कार डाल। वही सच्चे सुसंस्कार हैं। जिस प्रकार तीर में नोंक निकाली जाती है; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में नये संस्कार डाले जाते हैं; इसलिए हे जीव! तू आकुलित न हो; बहुत समय पुराने विपरीत संस्कार अब मैं कैसे दूर कर सकूँगा!—इस प्रकार हताश न हो, किन्तु मैं अपने स्वभाव की जागृति द्वारा अनादिकालीन विपरीत संस्कारों को एक क्षण में दूर करके अपूर्व संस्कार प्रगट कर सकता हूँ;—ऐसा मुझमें सामर्थ्य है;—इस प्रकार स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति करके तू प्रसन्न हो।

यहाँ जो तीर का दृष्टान्त है, वह सिद्धान्त समझाने के लिये है। वह तीर तो जड़ है; इसलिए दृष्टान्त में निमित्त से ऐसा कहा है कि लुहार द्वारा उसकी नोंक बनायी जाती है; किन्तु सिद्धान्त में तो चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वयं ही अपना लुहार है अर्थात् अपनी पर्याय की रचना करके स्वयं ही उसमें संस्कार डालनेवाला है; कोई दूसरा आत्मा की पर्याय को बनानेवाला नहीं है—ऐसा समझना चाहिए। 'मैं पामर हूँ, परवस्तु के बिना मेरा एक क्षण भी नहीं चल सकता'—ऐसे विपरीत संस्कार हैं; उसके बदले 'मैं स्वयं चिदानन्द भगवान हूँ, मेरे तीनों काल परचीज़ बिना ही चलता है, परन्तु मेरी परमात्मशक्ति के बिना मुझे एक क्षण भी नहीं चलता'—इस प्रकार स्वसन्मुख होकर आत्मा स्वयं अपनी पर्याय में सीधे संस्कार डाल सकता है। आत्मा सीधा हो जाए तो अनन्त काल के पाप एक क्षण में पलट जाते हैं और धर्म के अपूर्व संस्कार प्रगट होते हैं; इसलिए अवस्था में आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है।

आत्मा कैसा है, उसका यह वर्णन हो रहा है। आत्मा में एक साथ अनन्त धर्म विद्यमान हैं। उसमें स्वभावनय से देखने पर आत्मा सदैव एकरूप है; उसके स्वभाव में कोई नये संस्कार नहीं पड़ते; किन्तु अस्वभावनय से देखने पर, आत्मा की अवस्था में प्रतिक्षण नये संस्कार होते हैं। पर्याय में अनादिकालीन विपरीत संस्कार हैं, उन्हें बदलकर स्वभाव की रुचि करने से सम्यग्दर्शनादि के नये संस्कार आते हैं; इसलिए पर्याय में पुरुषार्थ सार्थक हो सकता है। द्रव्यस्वभाव में तो कुछ फेरफार नहीं होता, किन्तु पर्याय में पुरुषार्थ द्वारा विपरीत संस्कार बदलकर सीधे संस्कार हो सकते हैं। 'चेतनरूप अनूप

अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरो'—ऐसी स्वीकृति द्वारा पर्याय में शुद्ध संस्कार पड़ते हैं। एक समय की पर्याय का पाप त्रिकाल स्वभाव में तो नहीं है, और उस एक समय की पर्याय का पाप दूसरे समय की पर्याय में भी नहीं आता; इसलिए पहले समय पाप किया; इस कारण दूसरे समय में वह सुधर नहीं सकता—ऐसा नहीं है; दूसरी पर्याय में स्वयं जैसे संस्कार डाले, वैसे डल सकते हैं; अपनी प्रति समय की पर्याय की रचना स्वतन्त्र है। संसार तो एक समयमात्र का है, किन्तु विपरीत संस्कार से उसे विस्तृतरूप दे दिया है; किन्तु यदि अन्तरस्वभाव की ओर उन्मुख हो तो स्वभाव के संस्कार पड़ें और संसार के संस्कार दूर हो जाएँ। त्रिकाली द्रव्य में संस्कार का प्रभाव नहीं है, किन्तु पर्याय में स्वयं जैसे संस्कार डाले, वैसे डलते हैं। भव्यस्वभाव बदलकर अभव्य नहीं होता; जीवस्वभाव बदलकर अजीव नहीं होता, किन्तु अज्ञान बदलकर सम्यग्ज्ञान होता है, संसार बदलकर मोक्ष होता है।—इस प्रकार पर्याय में संस्कार आते हैं।

पर्याय में विपरीत संस्कारों को बदलकर सीधे संस्कार हो सकते हैं; पुराने संस्कार दूर होकर नये संस्कार प्रगट हो सकते हैं। पर्याय के संस्कारों को बदला जा सकता है—ऐसा यहाँ कहा है; उससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि पर्याय के क्रम को बदलकर अन्यथा किया जा सकता है। जो क्रमबद्धपर्याय है, उसका क्रम तो कभी टूटता ही नहीं है; किन्तु क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाले को ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होने से पर्याय में नये वीतरागी संस्कारों का प्रारम्भ होता है—वहाँ भी पर्याय का उस प्रकार का ही क्रम है। किन्तु पर्याय में पहले वैसी निर्मलता नहीं थी और अब ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से निर्मलता प्रगट हुई, उस अपेक्षा से पर्याय के संस्कार बदले कहे जाएँगे, किन्तु पर्याय का क्रम नहीं बदला है।

एक जीव अनादि से निगोददशा में था, और निगोद से निकलकर मनुष्य होकर आठ वर्ष में उसने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया;—वहाँ उस जीव का द्रव्यस्वभाव तो ज्यों का त्यों एकरूप है; किन्तु उस स्वभाव के आश्रय से पर्याय में नये संस्कार पड़े हैं। द्रव्यस्वभाव तो ज्यों का त्यों ही है, किन्तु पर्याय में संस्कार बदल गये हैं। निगोददशा में वैसे संस्कार नहीं थे और केवलज्ञानदशा में वैसे अपूर्व संस्कार पड़े, तथापि द्रव्यस्वभाव ज्यों का त्यों है।

जिसके जैसे संस्कार हों, उसे वैसी ही झंकार सुनायी देती है। जिसके स्वभाव के

सीधे संस्कार हों, उसे भन्कार भी स्वभाव की ही आती है; स्वप्न में भी उसे ऐसी झंकार सुनायी देती है कि 'मैं विमान में बैठकर सिद्धलोक में जा रहा हूँ; मेरे असंख्य प्रदेश इस देह से पृथक् हो गये हैं; मैं अल्पकाल में भगवान होऊँगा।' और जिसने स्वभाव की तीव्र विराधना करके महान विपरीत संस्कार डाले हों, उसे आभास भी वैसा ही होता है कि— 'मैं मरकर तिर्यंचगति में जाऊँगा, मैं बन्दरी होऊँगा, मुझे कोई खींचे ले जा रहा है।'—इस प्रकार जैसे संस्कार डाले, वैसी झंकार आती है।

इसलिए हे भाई! अपनी पर्याय को अन्तरस्वभाव सन्मुख करके ऐसे संस्कार डाल कि 'मैं परमात्मा हूँ; इस संसार को दूर करके अब मैं अल्प काल में परमात्मा होनेवाला हूँ; अपनी पर्याय में स्वभाव के संस्कार डाले, इसलिए अब तुझमें विपरीत संस्कार रह ही नहीं सकते; अपनी पर्याय में मोक्ष के संस्कार डालने से अब संसार कहीं रहेगा ही नहीं।'— इस प्रकार पर्याय को अन्तरस्वभावोन्मुख करके जो आत्मा में स्वभाव के संस्कार प्रगट करे, उसे विचार और स्वप्न भी ऐसे अच्छे आते हैं कि मैं सन्त-मुनियों की टोली में बैठा हूँ, मैं भगवान हो गया हूँ, मेरा असंख्यप्रदेशी चैतन्यबिम्ब इस शरीर से पृथक् हो गया है ......इस प्रकार स्वभाव के भान से पर्याय में अपूर्व संस्कार प्रगट किये जा सकते हैं।

शुद्ध स्वभाव को प्रतीति में लेकर पर्याय में उसके संस्कार डालने से जैसा शुद्धस्वभाव है, वैसी ही शुद्ध पर्याय हो जाती है। अनन्तकालीन विपरीत संस्कारों की कुलाँट मारकर सीधे अपूर्व संस्कार प्रगट करने में मात्र एक समय के स्वाश्रित पुरुषार्थ की आवश्यकता है। अरे! एक क्षण का भी असंख्यवाँ भाग!—एक बार ऐसा सम्यक्पुरुषार्थ करके पर्याय में शुद्धस्वभाव के संस्कार डालने से अनादिकालीन विपरीत संस्कार दूर होते हैं और अल्प काल में ही मुक्ति होती है।

जिस प्रकार पुत्री को ससुराल भेजते समय माता-पिता उसे दहेज देते हैं; उसी प्रकार यहाँ आचार्य भगवान आत्मा को संस्कार से मोक्ष में भेजने के लिये उसे उसका दहेज बतलाते हैं कि—'देख भाई! तेरे आत्मा में अनन्त धर्म एक साथ विद्यमान है; अपने आत्मा के अनन्त धर्मों की ऋद्धि तुझमें भरी है; उसे जानकर तू प्रसन्न हो... प्रसन्न हो! शुद्ध चैतन्यद्रव्य में डुबकी लगाकर पर्याय में प्रमोद कर... आनन्दित हो... कि अहो! मेरी सम्पूर्ण चैतन्य ऋद्धि का सागर मुझमें भरा है; शान्तरस का समुद्र मेरे आत्मा में उछल रहा है।

जिज्ञासु शिष्य ने पूछा था कि प्रभो! यह आत्मा कौन है? उसे आत्मस्वरूप स्पष्टरूप से समझाने के लिये यहाँ आचार्य भगवान ने 47 नयों से आत्मा का वर्णन किया है। उन 47 नयों में सप्तभंगी (अस्तित्व-नास्तित्व आदि) के सात नय हैं; नाम-स्थापना -द्रव्य और भाव—इन चार बोलों के चार नय हैं और द्रव्य-पर्याय, नित्य-अनित्य इत्यादि अठारह बोलों के छत्तीस नय हैं। इस प्रकार 47 नयों से वर्णन करके अन्त में आचार्यदेव कहेंगे कि—स्याद्वाद के अनुसार किसी भी नय से देखो या प्रमाण से देखो, तथापि भीतर अनन्तधर्मवाला अपना आत्मा शुद्धचैतन्यमात्र दिखायी देता है। इसलिए ऐसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मस्वभाव को अन्तर्दृष्टि से देखना ही सर्वनयों का तात्पर्य है। क्योंकि नय जिस धर्म को विषय बनाते हैं, वह एक धर्म कहीं पृथक् नहीं रहता; वह धर्म तो धर्मी ऐसे अभेद आत्मा के आश्रय से ही विद्यमान है; इसलिए अखण्ड धर्मी ऐसा जो शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा है, उसे दृष्टि में लिये बिना उसके प्रत्येक धर्म का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता, अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि के बिना एक भी नय सच्चा नहीं होता। इसलिए सर्व नयों के वर्णन में शुद्ध स्वभाव की दृष्टि तो साथ ही रखकर समझना चाहिए।

—यहाँ 29 वें अस्वभावनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

उसकी रुचि और बहुमान करनेयोग्य है

प्रभु! तूने आत्मा के भान बिना अनन्तबार चारों गति के अवतार धारण किये हैं, किन्तु भव और भव के कारण से रहित तेरा ज्ञानानन्दस्वभाव है, उस स्वभाव की दृष्टि कर तो भव का अन्त आ जाये। इसके सिवा किसी भी बाह्यकारण से भव का अन्त नहीं आ सकता। इसलिये जिसे भव का अन्त लाना हो और आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करना हो, उसे अन्तर के ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभाव को लक्ष में लेकर उसकी रुचि और बहुमान करने योग्य है; उसकी मुख्यता करके अवलम्बन लेने से धर्म होता है और भव-भ्रमण का अन्त आकर पूर्णानन्द मोक्षदशा प्रगट होती है।

(30)

कालनय

कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमान-सहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ३०।

आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है, ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति। [कालनय से आत्मद्रव्य की सिद्धि समय पर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम की भाँति।] ३०.

आत्मद्रव्य कालनय से, जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है,—ग्रीष्म ऋतु के दिवस अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति। आत्मा की मुक्ति जिस समय होना है, उसी समय होती है-ऐसा कालनय से ज्ञातव्य आत्मा का एक धर्म है। जिस काल मुक्ति होती है, उस काल भी वह पुरुषार्थपूर्वक ही होती है; किन्तु पुरुषार्थ से कथन न करके 'स्वकाल से मुक्ति हुई'—ऐसा कालनय से कहा जाता है। स्वकाल से मुक्ति हुई; इसलिए पुरुषार्थ उड़ जाता है—ऐसा नहीं है; स्वकाल से मुक्ति हुई, उसमें भी पुरुषार्थ तो साथ ही है।

जिस समय मुक्ति होना है, उसी समय होती है, किन्तु वह मुक्ति कहाँ से होती है ?—द्रव्य में से होती है, इसलिए ऐसा निर्णय करनेवाले का लक्ष्य अकेली मुक्ति की पर्याय पर नहीं रहता, किन्तु पर्याय के आधारभूत द्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है; 'जिस काल मुक्ति होना हो, उस काल होती है'—ऐसा धर्म तो आत्मद्रव्य का है; इसलिए आत्मद्रव्य पर जिसकी दृष्टि है, वही इस धर्म का निर्णय कर सकता है; इसलिए इस निर्णय में मुक्ति का पुरुषार्थ आ ही जाता है। अपनी मुक्ति पर्याय के काल को देखनेवाला वास्तव में द्रव्य की ओर देखता है क्योंकि 'जिसकी सिद्धि समय पर आधारित है'—ऐसा धर्म,

द्रव्य का है; द्रव्य की ओर देखा, वही अपूर्व पुरुषार्थ है। द्रव्य की ओर देखनेवाले ने निमित्त, विकार या पर्याय से दृष्टि उठा ली है, तथा एक-एक गुण के भेद पर भी उसकी दृष्टि नहीं है; ऐसी द्रव्यदृष्टि में ही क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, स्वकाल का निर्णय, भेदज्ञान, मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ, केवली का निर्णय—इत्यादि सब कुछ आ जाता है। कालनय का परमार्थ तात्पर्य भी यही है कि स्वद्रव्य की दृष्टि करना। यह धर्म कहीं काल के आधार से नहीं है, किन्तु आत्मा के आधार से है; इसलिए मुक्ति के काल का निर्णय करनेवाला काल की ओर नहीं, किन्तु आत्मा की ओर देखता है।

केवली भगवान के केवलज्ञान में जो काल देखा, उस काल ही मुक्ति होती है, मुक्ति का काल बदल नहीं सकता—ऐसा आत्मद्रव्य का एक धर्म है; आत्मा के इस धर्म का निर्णय कहीं पर सन्मुख देखने से नहीं होता किन्तु आत्मद्रव्य के समक्ष देखने से ही उसके धर्म का निर्णय होता है। कालनय भी किसे देखता है ?—जिसकी सिद्धि काल पर आधार रखती है, ऐसे आत्मद्रव्य को ही देखता है; इसलिए जो जीव अन्तर्मुख होकर आत्मद्रव्य को देखता है, उसी ने कालनय को सच्चा माना कहा जाता है और उसका मुक्ति का काल अल्प काल में ही होना होता है।

देखो, यहाँ एक-एक धर्म को सिद्ध नहीं करना है, किन्तु पूर्ण आत्मद्रव्य को सिद्ध करना है; इसलिए धर्म देखनेवाले को स्वद्रव्याश्रित अनेक धर्म का निर्णय करने में अपना ज्ञान एक अपने आत्मोन्मुख करना है। इस प्रकार द्रव्यदृष्टि करके शुद्ध आत्मा को प्रतीति में लेना ही इस सब का तात्पर्य है। जो जीव सम्पूर्ण आत्मा को प्रतीति में लेता नहीं है और एक-एक धर्म को पृथक् करके देखता है, उसके सर्व नय मिथ्या हैं। प्रमाणज्ञान से अनन्त धर्मात्मक अखण्ड आत्मा को स्वीकार किये बिना उसके एक-एक धर्म का सच्चा ज्ञान नहीं होता, अर्थात् नय नहीं होता।

कालनय कहता है कि आत्मा में जिस समय सम्यग्दर्शन होना है, उसी समय होगा, किन्तु वह किसे जँचा है ?—जिसने द्रव्यसन्मुख दृष्टि की उसे! इसलिए जिसे यह बात जम गयी, उसे तो सम्यग्दर्शन का काल आ ही गया है। आत्मा का जो धर्म है, वह क्षणिक पर्याय के आधार से नहीं है, किन्तु द्रव्य के आधार से है। पर्याय तो प्रति समय चली ही

जाती है; एक गुण की अनेक पर्यायें तो एक समय में होती नहीं हैं और द्रव्य तो सदैव एकरूप है; इसलिए उस द्रव्य पर दृष्टि जाते ही पर्याय के काल का या क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है।

प्रत्येक समय की पर्याय का काल व्यवस्थित है। जिस पर्याय को जो काल है, उसमें फेरफार नहीं हो सकता। यदि उसमें फेरफार हो तो वस्तुस्वभाव या केवलज्ञान ही सिद्ध नहीं होगा, केवलज्ञान को भी अव्यवस्थित मानना होगा; अत: त्रिकालवर्ती पर्यायों के पिण्ड द्रव्य पर दृष्टि रखकर प्रत्येक समय की पर्यायें व्यवस्थित है—ऐसा निश्चय करने में सच्चा पुरुषार्थ भी आ जाता है, क्योंकि पर्याय का निर्णय करनेवाले का मुख आत्मद्रव्य पर है, उसकी दृष्टि में द्रव्य की ही मुख्यता है; द्रव्यसन्मुख दृष्टि में उसे पर्याय बदलने की बुद्धि नहीं रहती, किन्तु द्रव्य के आश्रय में पर्याय का निर्मलपरिणमन हो जाता है और अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। और पर्यायें अव्यवस्थित माननेवाला नि:शंक हो ही नहीं सकता और व्यवस्थित का सच्चा पुरुषार्थ भी उसे नहीं होता।

अहो! वीतरागी संत चाहे जिस पक्ष से बात समझायें, किन्तु उसमें वस्तु का मूलस्वभाव ही बतलाना चाहते हैं।

✦✦✦

जो मुक्ति का काल है, उसी काल में मुक्ति होती है—ऐसा कालनय से आत्मा का स्वभाव है। अब, आत्मा की मुक्ति के समय का निर्णय करनेवाले को स्वभावसन्मुख दृष्टि से ही अल्प काल में मुक्ति हो—ऐसा काल उसको होता ही है। सर्वज्ञभगवान ने देखा है, तभी मुक्ति होगी—ऐसा कालनय से आत्मा का धर्म है; किन्तु उस धर्म का निर्णय कब होता है? वह धर्म पर के आश्रय नहीं है, किन्तु आत्मा के आश्रय से ही है; इसलिए जब सम्पूर्ण आत्मा को दृष्टि में ले ले, तब उसके इस धर्म का निर्णय होगा। और जिसने आत्मा को दृष्टि में लिया, उसके अल्प काल में ही मुक्ति का स्वकाल अवश्य होता है। यह कालनय भी कहीं पुरुषार्थ उड़ाने के लिये नहीं है, किन्तु उसमें वीतरागी ज्ञातादृष्टापने का सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है, वह मोक्ष का कारण है। जो अभेद स्वभाव पर दृष्टि करे, उसी को यह नय यथार्थरूप से जमता है; अन्य किसी को यह नय नहीं जमता।

शंका:—कालनय से आत्मा की सिद्धि समय पर आधार रखती है, इसलिए अब हमें क्या ? हमें तो काल की ओर देखकर बैठना ही रहा ?

समाधान:—ऐसा नहीं है; सुन भाई ! कालनय से जिसकी सिद्ध समय पर आधार रखती है—ऐसा कौन है !—आत्मद्रव्य ! तो यह धर्म माननेवाले को काल सन्मुख देखना नहीं रहा, किन्तु आत्मा की ओर देखना रहा। आत्मस्वभाव पर दृष्टि गयी, वहाँ स्वकाल अल्प समय में पकना ही होता है। यहाँ दृष्टान्त में भी ऐसा आम लिया है कि जो ग्रीष्म ऋतु आने पर पक जाता है; उसी प्रकार सिद्धान्त में ऐसा आत्मा लेना चाहिए कि स्वभाव का निर्णय करके स्वभाव की ओर के सम्यक् पुरुषार्थ से जिसको मुक्ति का काल पक जाता है। सर्वज्ञदेव ने तो मुक्ति का जो समय है, वह देखा है, किन्तु 'मैं मुक्त होऊँगा, मुक्त होना मेरे आत्मा का स्वभाव है'—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे बन्धन, संसार या राग की रुचि नहीं रहती, किन्तु जिसमें से मुक्तदशा आना है—ऐसे स्वद्रव्य की ओर वह देखता है और अल्प काल में उसकी मुक्ति का स्वकाल पक ही जाता है। जिसे राग की या निमित्त की रुचि है, उसे वास्तव में मुक्ति का निर्णय नहीं है। मुक्ति का निर्णय करनेवाला आत्मा को देखता है, क्योंकि मुक्ति किसी निमित्त के, राग के या पर्याय के आश्रित नहीं है, किन्तु आत्मद्रव्य के आश्रित है; इसलिए वह आत्मद्रव्य का अवलम्बन करके ज्ञातादृष्टा रहता है; उसे पर्यायबुद्धि का अधैर्य या उतावली नहीं होती, ज्ञातादृष्टारूप से वर्तते हुए अल्प काल में उसकी मुक्ति हो जाती है।

जिसने अपनी मुक्ति होने का निर्णय किया कि स्वकाल में मुक्ति-पर्याय होने का धर्म मेरे आत्मा में है, उसने राग में एकाग्र होकर वह निर्णय नहीं किया है, किन्तु ज्ञाताद्रव्य में ज्ञानपर्याय को एकाग्र करके वह निर्णय किया है; इसलिए वर्तमान में वह साधक तो हुआ है; अब उसकी दृष्टि आत्मस्वभाव पर है, 'मैं शीघ्र मुक्ति करूँ और संसार को टालूँ'—ऐसी पर्यायदृष्टि उसके नहीं है, अब स्वभाव में एकाग्र होने से अल्पकाल में उसकी मुक्तदशा हो जाएगी।

मैं बहुत शक्ति लगाकर झट अपनी मुक्ति कर डालूँ; दया, कठिन व्रत-तपादि करके जल्दी मोक्ष प्राप्त कर लूँ;—इस प्रकार पर्याय-सन्मुख देखकर आकुलता करे, उसमें तो विषमता है; ऐसी विषमता से मुक्ति नहीं होती, किन्तु मैं तो ज्ञान हूँ,—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव

को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होने से मुक्ति हो जाती है। ज्ञातादृष्टा स्वभाव में रहने से जिस समय मुक्ति होना है, उस समय हो जाती है; उसे मुक्ति का समय आने में दीर्घ काल नहीं होता। अरे! शीघ्र मोक्ष करूँ—यह भी विषमभाव है, क्योंकि अवस्था ही वस्तु की व्यवस्था है। शीघ्र मोक्ष करूँ—ऐसा कहे, किन्तु मोक्ष होने का उपाय तो स्वद्रव्य का आश्रय करना है, वह उपाय तो करता नहीं है, फिर मोक्ष कहाँ से होगा? स्वद्रव्य की दृष्टि करने से मोक्ष अल्प काल में हो जाता है, किन्तु वहाँ मोक्षपर्याय पर दृष्टि नहीं रहती। स्वभाव का अवलम्बन रखकर ज्ञातादृष्टा हुआ, उसमें पर्याय की उतावली करना रहता ही कहाँ है? क्योंकि स्वभाव के अवलम्बन से उसकी पर्याय का विकास होता ही जाता है, अब मुक्ति होने में उसे अधिक काल नहीं लगेगा।

देखो, यह कालनय का रहस्य! जिसने इस कालनय से भी आत्मा का निर्णय किया, उसके ज्ञान में ज्ञातादृष्टापने का धैर्य हो गया, उसके आत्मद्रव्य में अल्प काल में मुक्ति होने का स्वकाल है ही; केवलीभगवान ने भी अल्प काल में उसका मोक्ष देखा है। कालनय से आत्मा की मुक्ति समय पर आधार रखती है—ऐसा कहा, उसमें पुरुषार्थ की निर्बलता नहीं है, किन्तु स्वभावदृष्टि का बल है; इसका निर्णय करनेवाला जीव, द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर बन्ध-मोक्ष का भी ज्ञाता रह जाता है और अल्प काल में उसकी मुक्ति हो जाती है। केवलीभगवान के ज्ञान में उसकी मुक्ति के प्रमाण अंकित हो गये हैं और उस आत्मा के स्वभाव में भी वैसा धर्म है। अहो! इसमें मोक्ष का पुरुषार्थ है, किन्तु आकुलता नहीं है—ज्ञातादृष्टापने का धैर्य है। उतावली करे तो उसके ज्ञातादृष्टापना नहीं रहा, किन्तु आकुलता हुई—विषमभाव हुआ; वह तो मोक्ष को रोकनेवाला है। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कहते हैं कि—जितनी उतावली, उतनी कचास और जितनी कचास, उतनी खटास। स्वभावदृष्टि में धर्मी को प्रमाद भी नहीं है; उतावली भी नहीं है और न पुरुषार्थ की कचास भी है; स्वभावदृष्टि में ज्ञातादृष्टारूप से मोक्ष का प्रयत्न उसको चालू ही है और अल्प काल में मोक्षदशा हो जाती है।

देखो, आचार्यदेव ने कालनय को गुप्त नहीं रखा; कालनय के वर्णन में भी शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय का ही तात्पर्य निकलता है। अज्ञानी लोग बिना समझे अपनी स्वच्छन्द कल्पना से विपरीत अर्थ करते हैं।

धर्मी कहते हैं कि—'भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो'—लेकिन वह किसकी दृष्टि में? ध्रुवस्वभाव की दृष्टि में; स्वभावदृष्टि में बन्ध-मोक्षपर्याय पर धर्मी को समभाव है, अथवा बन्ध टालूँ और मोक्ष करूँ—इस प्रकार पर्याय की विषमता पर उसकी दृष्टि नहीं है, किन्तु एकरूप चिदानन्दस्वभाव पर उसकी दृष्टि है। उस स्वभाव की दृष्टि में अल्प काल में भवान्त होकर मोक्ष हुए बिना नहीं रहेगा।

यह विकार मुझे नहीं चाहिए—इस प्रकार विकार की ओर देखता रहे तो वह विषमभाव है, उसका विकार दूर नहीं होता। मुझे विकार नहीं चाहिए—इस प्रकार जो विकार को टालना चाहता है, उसकी दृष्टि विकार सन्मुख नहीं होती किन्तु शुद्ध स्वभाव पर होती है; शुद्धस्वभाव में विकार नहीं है, इसलिए उस स्वभाव की दृष्टि से विकार दूर होकर अविकारी मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मा में मोक्षदशा प्रगट होने का जो काल है, उसी काल वह प्रगट होती है—ऐसा आत्मद्रव्य का धर्म है;—ऐसा जिसने कालनय से जान लिया, उस जीव की दृष्टि तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही पड़ी है और उस द्रव्य के आश्रय से अल्प काल में अवश्य ही उसकी मुक्ति हो जाती है।

—इस प्रकार ३० वें कालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।●●

(31)

अकालनय

अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफल-वत्समयानायत्तसिद्धिः ३१।

आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती, ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति। ३१.

जिसे स्वभावदृष्टि है, वह जीव अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करता है। कोई जीव उग्र प्रयत्न द्वारा स्वभाव में एकाग्र होकर अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्त हुआ, इस जीव ने अचिरेण अर्थात् शीघ्र मुक्ति प्राप्त की। तथा गुरु भी शिष्य को ऐसा आशीर्वाद देते हैं कि स्वभाव के अवलम्बन से तू अचिरं अर्थात् शीघ्र मोक्ष पद को प्राप्त करेगा। अकालनय से ऐसा कथन किया जाता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि मोक्ष का जो समय है, वह बदल जाता है। जैसे घास में रखकर आम को पकायें, वहाँ भी वह आम तो उसके पकने के काल में ही पका है, लेकिन घास में रखा था, उससे ऐसा कहा जाता है कि वह आम घास में रखकर जल्दी पका दिया। उसी प्रकार अल्प समय में उग्र पुरुषार्थ करके जीव मुक्त हो, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति को प्राप्त हुआ, वह अकालनय का कथन है और वैसा एक धर्म आत्मा में है। मुक्ति तो उसका जो समय था, उस समय ही हुई, उसका समय कुछ बदला नहीं गया।

यह जीव आसन्न भव्य है, यह जीव पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त करेगा—ऐसा कहा जाता है, उसका वाच्य भी वस्तु में है। शिष्य भी गुरु के प्रति विनय से कहे कि हे नाथ! हे स्वामी! आपने मुझे इस संसार से तार दिया... यदि आप न मिलते तो हम अनन्त संसार में भटकते-भटकते मर जाते, आपके चरणकमलों के प्रसाद से शीघ्र हमारे संसार

का अन्त आ गया और अब शीघ्र ही हम अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करेंगे। आपके उपकार से हमारा अनन्त संसार नष्ट हो गया और मोक्ष निकट आ गया—इस तरह अकालनय से कहा जाता है, मोक्ष होने का काल तो जो है, वही है; वह कहीं उलटपुलट नहीं हो गया है।

आत्मा कैसा है—ऐसा शिष्य ने पूछा था। उसे आत्मा के धर्मों द्वारा आत्मा की पहिचान कराते हैं। यहाँ आचार्यदेव ने ४७ नयों से ४७ धर्मों का कथन करके आत्मा का स्वरूप बतलाया है। उनमें कालनय से ऐसा कहा कि जिस समय जिसकी मुक्ति का स्वकाल है, तभी वह मुक्ति को प्राप्त करता है। जैसे आम उसके मौसम में पकता है, वैसे आत्मा के स्वभाव में मुक्ति का जो समय है, उस समय वह मुक्तिरूप परिणमित हो जाता है। स्वभाव की दृष्टि करके स्थिर हो, वहाँ आत्मा की मुक्ति होती है। वहाँ आत्मा की अपने काल से मुक्ति हुई—ऐसा कालनय से कहा जाता है, किन्तु वह मुक्ति बिना पुरुषार्थ के नहीं हुई है।

उग्र पुरुषार्थ द्वारा जीव ने शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर ली—ऐसा अकालनय से कहा जाता है, उसमें भी मुक्ति का जो समय है, वह तो वही है; उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो गया। अनन्त पुरुषार्थ करके जीव ने बहुत काल के कर्मों को अल्प काल में नाश किया और शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा लक्ष्य में लेना, वह अकालनय है।

यह जो धर्म कहे जा रहे हैं, वे सभी धर्म शुद्ध चैतन्य वस्तु के आधार से हैं; किसी निमित्त के आधार से, राग के आधार से, अकेली पर्याय के आधार से अथवा एक-एक धर्म के आधार से यह धर्म विद्यमान नहीं हैं। अर्थात् इन धर्मों का निर्णय करते समय धर्मी ऐसा चैतन्यद्रव्य लक्ष्य में आ जाता है। सम्पूर्ण वस्तुस्वभाव को दृष्टि में लिये बिना उसके धर्म का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। आत्मद्रव्य की सन्मुखता से ही उसके धर्म की यथार्थ प्रतीति होती है। चैतन्यस्वभाव सन्मुख जिसका पुरुषार्थ पलट गया हो, उसे अचिरं (शीघ्र) मुक्ति हुए बिना नहीं रह सकती।

जैसे—अचानक सर्प इत्यादि के काटने से छोटी उम्र में कोई मनुष्य मर जाए तो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि इस मनुष्य की अकाल-मृत्यु हुई। यथार्थत: तो उसकी आयु जिस समय पूरी होना थी, उस समय ही हुई है, कुछ जल्दी नहीं हुई है, किन्तु लोक-व्यवहार से अकाल में अवसान हुआ—ऐसा कहा जाता है। वैसे ही आत्मा में एक ऐसा

धर्म है कि आत्मा पुरुषार्थ करके अकाल में मुक्त हुआ अर्थात् शीघ्र मुक्तदशा प्राप्त की— ऐसा अकालनय से कहा जाता है।

जो जीव वस्तुस्वभाव से विपरीत मानता है और विपरीत प्ररूपणा करता है, वह जीव प्रतिक्षण अनन्त संसार की वृद्धि करता है, वैसे ही स्वभावदृष्टि के बल से सम्यक्त्वी जीव संसार को एक क्षण में नष्ट कर देता है और शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करता है, ऐसा अकालनय से कहा जाता है।

पहले स्वभाव पर दृष्टि नहीं थी और संसार पर दृष्टि थी, तब प्रतिक्षण अनन्त संसार की वृद्धि करता है—ऐसा कहा, और जहाँ सत्समागम से विपरीत दृष्टि को बदलकर स्वभावदृष्टि की, वहाँ एक क्षण में अनन्त संसार नष्ट कर दिया—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। परन्तु संसार होना था और दूर हो गया अथवा उस समय मोक्ष नहीं होना था और हो गया—ऐसा अकालनय का अर्थ नहीं है। अकालनय से पर्याय का क्रम बदल जाए- ऐसा नहीं है, किन्तु अनन्त काल के कर्म अल्प काल में नष्ट कर दिये—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। छद्मस्थ के ज्ञान में यह नय होते हैं, केवलीभगवान के ज्ञान में नय नहीं होते, उनको तो एक साथ सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान वर्त रहा है।

देखो, कालनय और अकालनय से पृथक्-पृथक् दो धर्म कहे हैं, वे दोनों धर्म अलग-अलग जीव में नहीं हैं परन्तु एक ही जीव में दोनों धर्म एक साथ वर्त रहे हैं; इसी तरह नियत-अनियत इत्यादि नयों से जो धर्म कहे हैं, वे भी प्रत्येक आत्मा में एक साथ ही वर्त रहे हैं। एक जीव स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त करे और दूसरा जीव पुरुषार्थ करके अकाल में मुक्ति प्राप्त करे—ऐसा नहीं। अर्थात् एक धर्म एक जीव में और दूसरा धर्म दूसरे जीव में हो, ऐसा नहीं; एक ही जीव में समस्त धर्म एक साथ रहते हैं।

कालनय से तो जीव को जिस समय मुक्ति प्राप्त करना है, उस समय ही प्राप्त करता है और अकालनय से उसमें अदलबदल हो जाये—ऐसा परस्पर विरोध नहीं है।

इस जीव ने अपने स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त की—ऐसा कहना, वह कालनय का कथन है, परन्तु ऐसा जब कालनय से कहा तब भी, बिना पुरुषार्थ के उसे मोक्ष हुआ— ऐसा उसका अर्थ नहीं है, स्वकाल के समय भी पुरुषार्थ तो साथ ही है।

और इस जीव ने उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा कहना, वह अकालनय का कथन है, परन्तु पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा जब अकालनय से कहा, तब भी मुक्ति का स्वकाल नहीं था और मुक्ति हो गयी—ऐसा उसका अर्थ नहीं है; पुरुषार्थ के समय उसका स्वकाल वैसा ही है।

इस प्रकार कालनय और अकालनय, यह दोनों नयों के विषयरूप दोनों धर्म आत्मा में एक साथ विद्यमान ही हैं, ऐसा समझना चाहिए। यहाँ जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है, उन सभी धर्मों का अधिष्ठाता तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा है। ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेना, वही इन सब धर्मों को जानने का फल है।

— इस प्रकार यहाँ ३१ वें अकालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(32)

पुरुषकारनय

पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ३२।

आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकार से नींबू का वृक्ष प्राप्त होता है (उगता है) ऐसे पुरुषकारवादी की भाँति। [पुरुषार्थनय से आत्मा की सिद्धि प्रयत्न से होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्य को पुरुषार्थ से नींबू का वृक्ष प्राप्त होता है।] ३२.

'आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है,—जिसे पुरुषकार से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है—ऐसे पुरुषकारवादी की भाँति।' आत्मा में एक ऐसा स्वभाव है कि उसकी सिद्धि यत्न-साध्य है। जिस प्रकार कोई आदमी नींबू का बीज बोये और उसके नींबू का वृक्ष उत्पन्न हो; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव सन्मुख होकर उसकी रुचि और एकाग्रता के प्रयत्न द्वारा आत्मा की सिद्धि प्राप्त होती है।—ऐसा जाननेवाला पुरुषकारनय है। ऐसे पुरुषकारनय के बिना नियतिनय या कालनय नहीं होते। सभी नयों से—सभी पक्षों से द्रव्य को जानकर प्रतीति में लेना चाहिए। पुरुषार्थ से ही आत्मा की सिद्धि होती है—ऐसा धर्म आत्मा में त्रिकाल है।—कौन-सा पुरुषार्थ ? निमित्त की या राग की ओर का पुरुषार्थ कहीं मुक्ति का कारण नहीं है, किन्तु आत्मोन्मुख होकर स्वभाव का पुरुषार्थ, वह मुक्ति का कारण है। ऐसे प्रयत्न के बिना आत्मा की सिद्धि साध्य नहीं होती। यत्न-साध्य हो—ऐसा धर्म किसका है ? वह आत्मद्रव्य का धर्म है; इसलिए आत्मा की ओर देखना रहा; अन्तर्मुख आत्मस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता के प्रयत्न से ही धर्म होता है।

नियतिनय या कालनय के वर्णन में भी यह पुरुषार्थधर्म वस्तु में साथ ही है। इस पुरुषार्थ-धर्म को उड़ाकर अकेली नियति को माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसने वास्तव में

आत्मा को नहीं माना है। और पुरुषार्थ के समय अन्य अनन्त धर्म भी साथ ही हैं, इसलिए पुरुषार्थ करनेवाले को भी अकेले पुरुषार्थधर्म की ओर नहीं देखना है, किन्तु अखण्ड आत्मद्रव्य की ओर देखना है, क्योंकि पुरुषार्थधर्म आत्मा का है। अन्तर-प्रयत्न से मुक्ति हो—ऐसा मेरा आत्मा है—इस प्रकार यत्नसाध्य धर्म द्वारा आत्मा को लक्ष्य में ले, वह पुरुषकारनय है। इसके बाद अब दैवनय से अयत्नसाध्य धर्म का वर्णन करेंगे, किन्तु उस समय भी यह पुरुषार्थधर्म तो साथ ही है, पुरुषार्थ के बिना अकेला दैव नहीं है। एक ही धर्म का एकान्त खींचे और उसी समय आत्मा के दूसरे धर्म साथ वर्तते हैं, उन्हें स्वीकार न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है और उसके सभी नय मिथ्या हैं। ज्ञानी तो अनन्त धर्मों के आधारभूत अपने शुद्ध चैतन्यद्रव्य की दृष्टि रखकर, प्रमाणज्ञानपूर्वक प्रत्येक धर्म को उस-उस प्रकार के नय से जानते हैं, इसलिए ज्ञानी के ही सम्यक्नय होते हैं—ऐसा समझना।

—इस प्रकार ३२ वें पुरुषकारनय से आत्मा का वर्णन किया। ●●

(33)

दैवनय

दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ३३।

आत्मद्रव्य दैवनय से जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है (-यत्न बिना होता है) ऐसा है; पुरुषकारवादी द्वारा प्रदत्त नींबू के वृक्ष के भीतर से जिसे (बिना यत्न के, दैव से) माणिक प्राप्त हो जाता है, ऐसे दैववादी की भाँति। ३३.

यहाँ दैववादी का उदाहरण देकर समझाया है। बड़े पुण्यवान् पुरुषों के मस्तिष्क में और हाथी के मस्तिष्क में मुक्ताफल-मोती पैदा होते हैं; उसी प्रकार किसी जीव के पुण्यप्रताप से नींबू के वृक्ष में से मोती निकल पड़ते हैं; वहाँ उसने मोती प्राप्त करने का यत्न नहीं किया था और प्राप्त हो गये, इसलिए उसे दैव कहा। उसी प्रकार जो जीव, स्वभाव की ओर के प्रयत्न से मोक्षमार्ग की साधना करता है, उसके कर्म स्वयमेव टलते जाते हैं; कर्मों को टालने की ओर का उसका पुरुषार्थ नहीं है; इसलिए उसे दैव कहा है। किन्तु जिस प्रकार दैववादी को नींबू में से मोती मिले, उसमें भी उसको उस प्रकार का पुण्य है; उसी प्रकार दैवनय से आत्मा के यत्न बिना कर्म टले और मुक्ति हुई—ऐसा कहा जाता है, उसमें भी स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ तो है ही। अन्तर में चैतन्यस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ किया, वहाँ जड़ कर्मों का अभाव स्वयमेव हो जाता है; उसे टालने का यत्न नहीं करना पड़ता—इस अपेक्षा से आत्मा की सिद्धि अयत्नसाध्य कही जाती है। दैवनय में ऐसा नहीं है कि कर्म मार्ग दे, तब मुक्ति होती है, उसमें जीव का पुरुषार्थ नहीं चल सकता! जब जीव अपने स्वभाव का पुरुषार्थ करता है, तब कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं, उसमें यत्न नहीं करना पड़ता; इसलिए उसका नाम दैव है।

किसी को पुरुषार्थ से मुक्ति होती है और किसी को दैव से-इस प्रकार भिन्न-भिन्न

आत्माओं की यह बात नहीं है, प्रत्येक आत्मा में यह दोनों धर्म विद्यमान हैं। दैवनय के समय दूसरे नयों की विवक्षा का ज्ञान भी साथ ही होना चाहिए; तभी दैवनय का ज्ञान सच्चा कहलाता है। पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति हुई—ऐसा न कहकर कर्म टले और मुक्ति हुई, अथवा दैव से मुक्ति हुई—ऐसा कहना, वह दैववाद है, किन्तु उसमें भी चैतन्यस्वभाव के पुरुषार्थ की स्वीकृति तो साथ है ही। यत्नसाध्य स्व-अपेक्षा से है और अयत्नसाध्य पर-अपेक्षा से; अपने में पुरुषार्थ है और पर में पुरुषार्थ नहीं है। स्व के पुरुषार्थ के साथ कर्म के अभावरूप दैव भी हैं। इस दैवनयवाले को भी आत्मसन्मुखता है, उसके कहीं पुरुषार्थ का निषेध नहीं है।

जब जीव के स्वभाव का पुरुषार्थ होता है, तब दैव भी ऐसा ही होता है कि जड़कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं; उन्हें टालने के लिये यत्न नहीं करना पड़ता। वहाँ, कर्म टालने से आत्मा की मुक्ति होती है—ऐसा दैवनय का कथन है। किन्तु कर्म टलते कब हैं ? कर्मों की ओर देखने से कर्म नहीं टलते, किन्तु स्वभावसन्मुख एकाग्रता का प्रयत्न करने से कर्म स्वयं दूर हो जाते हैं और मुक्ति हो जाती है। पुरुषार्थ की विवक्षा गौण करके दैवनय में कर्म की विवक्षा से कथन किया है। वस्तु में तो पुरुषार्थ आदि अनन्त धर्म एक साथ विद्यमान हैं, उसमें एक मुख्य और दूसरा गौण—ऐसे प्रकार नहीं हैं; अभेद वस्तु में सभी धर्म एक साथ हैं, किन्तु छद्मस्थ के ज्ञान में नय पड़ते हैं, उन नयों में मुख्य-गौण होते हैं। एक नय दूसरे नयों के विषयभूत धर्मों को गौण करता है, किन्तु उनका सर्वथा निषेध नहीं करता। यदि दूसरे धर्मों का सर्वथा निषेध करे तो अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् वस्तु का प्रमाणज्ञान ही नहीं होता; और प्रमाण के बिना नय भी कहाँ से होंगे ? नहीं हो सकते, क्योंकि नय तो श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है।

दैवनय से अयत्नसाध्य है—ऐसा कहा, वह धर्म भी आत्मा का है; इसलिए दैवनयवाला भी आत्मोन्मुख होकर उसके धर्म को जानता है; इस प्रकार दैवनय में भी द्रव्य की ओर का पुरुषार्थ आ ही जाता है। दैवनय जिस धर्म को लक्ष्य में लेता है, वह धर्म पर का नहीं, किन्तु आत्मा का है; इसलिए आत्मा की ओर दृष्टि करे, उसी को उसके धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है। कर्मों की ओर देखने से दैवनय की प्रतीति नहीं होती, किन्तु आत्मा की ओर देखने से उसकी प्रतीति होती है। आत्मद्रव्य में ही मुक्ति होने का धर्म है; वह धर्म कहीं कर्म में से नहीं आता, किन्तु वह आत्मा का ही धर्म है। आत्मा के स्वभाव पर दृष्टि हुई, वहाँ पर्याय और कर्म के ऊपर की दृष्टि गयी और ऐसे धर्मों का भान हुआ। इसमें अपनी

महिमा आना चाहिए कि अहो! यह सब तो मेरे धर्मों का ही वर्णन है, इसमें पर की महिमा कहीं नहीं है किन्तु मेरे चैतन्यस्वभाव की ही महिमा है; अनेक नयों की विविध विवक्षा से वर्णन किया है, वह तो मेरे स्वभाव की विशालता है। इस प्रकार आत्मस्वभाव की महिमा लाकर समझना चाहिए—अरुचि नहीं होना चाहिए।

'आठ कर्मों का अभाव होने पर आत्मा की मुक्ति होती है'—ऐसा कहने में कर्म की ओर देखना नहीं है, किन्तु आत्मा की ओर देखना है, क्योंकि मुक्ति आत्मा की होती है, आत्मा के ही स्वभाव में से मुक्ति आती है। यह पुरुषार्थ, दैव आदि जितने धर्मों का वर्णन किया है; उसमें पर या विकार के ऊपर वजन नहीं दिया है; क्योंकि यह धर्म, पर के या विकार के आधार से नहीं हैं और एक-एक धर्म पृथक् नहीं रहता; इसलिए उस एक-एक धर्म पर भी वजन नहीं दिया है; अखण्ड आत्मा के आश्रय से ही यह सब धर्म एक साथ स्वभावोन्मुख होते ही हैं। धर्म किसका? तो कहते हैं धर्मी का; धर्मी अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा; वह अखण्ड आत्मा शुद्ध-चैतन्यमूर्ति है, उसी पर वजन देना है। वजन देने का अर्थ क्या? श्रद्धा-ज्ञान के बल को अखण्ड स्वभाव की ओर उन्मुख करके उसमें एकाग्र होना;—वह शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय है। इस समय 'आत्मा कौन है?'—यह आचार्यदेव समझाते हैं और अब बाद में आत्मा की प्राप्ति के उपाय का वर्णन करेंगे।

यहाँ 'यत्नसाध्य' और 'अयत्नसाध्य'—ऐसे दो धर्म कहे; वे दोनों धर्म प्रत्येक आत्मा में एक साथ हैं। यह धर्म चैतन्यद्रव्य के आश्रय से विद्यमान हैं, पर्याय के आश्रय से नहीं हैं; इसलिए पर्यायबुद्धि छोड़कर चैतन्यद्रव्य की ओर देखने से इन धर्मों की यथार्थ पहिचान होती है, पर्यायबुद्धिवालों को इन धर्मों की पहिचान नहीं होती। पुरुषार्थनय से कहो या दैवनय से कहो, किन्तु जो मोक्ष प्राप्त करते हैं, वे सब पुरुषार्थपूर्वक ही प्राप्त करते हैं। यदि अकेले दैव से ही मुक्ति हो और पुरुषार्थ न हो तो उस जीव में एक दैवधर्म रहा किन्तु पुरुषार्थधर्म नहीं रहा; और पुरुषार्थवाले को अकेला पुरुषार्थ ही रहा;—किन्तु ऐसा नहीं होता; दोनों में दोनों धर्म हैं। एक जीव को अकेले पुरुषार्थ से मुक्ति और दूसरे को अकेले दैव से—इस प्रकार पृथक्-पृथक् दो जीवों का वर्णन नहीं है, किन्तु एक ही जीव में अनन्त धर्म एक साथ विद्यमान हैं; उन धर्मों का यह वर्णन है। कथन में भले ही एक धर्म की मुख्यता आये, किन्तु उसी समय दूसरे अनन्त धर्म वस्तु में विद्यमान ही हैं। यदि

एक धर्म को माने और दूसरे धर्मों को न माने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। वस्तु एक साथ अनन्त धर्मोंवाली है; उस वस्तु की दृष्टिपूर्वक यह नय है; इसलिए इन नयों द्वारा एक-एक धर्म का ज्ञान करनेवाले की दृष्टि उस एक धर्म पर नहीं होती, किन्तु सम्पूर्ण धर्मी पर (चैतन्यस्वभाव पर) होती है। कथन में यह धर्म एक के पश्चात् एक आते हैं, किन्तु वस्तु में कहीं एक के पश्चात् एक नहीं है, उसमें तो एक ही साथ समस्त धर्म हैं; यह सब धर्म आत्मद्रव्य के हैं; आत्मद्रव्य इन सब धर्मों को धारण कर रखता है। ऐसे अखण्ड आत्मद्रव्य को अन्तरंगदृष्टि में लेना ही इन सब धर्मों के वर्णन का तात्पर्य है।

यहाँ आचार्यदेव ने नींबू के वृक्ष का दृष्टान्त देकर समझाया है। पुरुषार्थवादी ने नींबू के वृक्ष लगाये और उनमें से एक वृक्ष दैववादी को दिया; वहाँ दैववादी को उस नींबू के वृक्ष में से रत्नों की प्राप्ति हुई। उसी प्रकार यहाँ आत्मा ने अपने में प्रयत्न किया और कर्म टलने से चैतन्य-रत्न प्राप्त हुआ। दैववादी को नींबू के वृक्ष में से रत्नों की प्राप्ति हुई, उसका उसमें उस प्रकार का पुण्य है; उसी प्रकार यहाँ आत्मा ने अपने में प्रयत्न किया और कर्म टलने से चैतन्यरत्न प्राप्त हुआ। दृष्टान्त में दैववादी और पुरुषार्थवादी पृथक् हैं, किन्तु सिद्धान्त में दैवधर्म और पुरुषार्थधर्म कहीं पृथक्-पृथक् आत्माओं के नहीं हैं, एक ही आत्मा के हैं। जिसने अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ किया, उसके कर्म की ओर का प्रयत्न न होने पर भी कर्म दूर होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्षरूपी रत्न की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु किसी जीव का पुरुषार्थ किसी अन्य जीव के काम आ जाए—ऐसा नहीं होता। दैवनय भी पुरुषार्थधर्म का निषेध नहीं करता। कोई अकेले दैव को ही मानकर पुरुषार्थ का निषेध करे तो वह एकान्त-मिथ्यादृष्टि है।

महाकाय हाथी के मस्तक में मोती उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार सिंह पंजा मारकर हाथी के मस्तक को विदीर्ण कर देता है और मोती धरती पर बिखर जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ आत्म -पुरुषार्थरूपी सिंह, कर्मरूपी कुंजर को विदीर्ण करके मोक्षरत्न प्राप्त कर लेता है। इसमें आत्मा ने पुरुषार्थ से जड़कर्मों को दूर कर दिया—ऐसा कहना, वह निमित्त से कथन है; और वह कर्म दूर होने से आत्मा की मुक्ति हुई—यह भी निमित्त से कथन है। आत्मा का पुरुषार्थ आत्मा में है और कर्म की अवस्था जड़ में है। आत्मा तो अपने स्वभाव का ही पुरुषार्थ करता है, वहाँ कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं और मुक्ति हो जाती है। इसमें

कर्म को टालने की ओर जीव का यत्न नहीं है, तथापि कर्म दूर हो जाते हैं और मुक्ति हो जाती है; इसलिए अयत्नसाध्यधर्म कहा गया है।

दैव और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार है:—दो मित्र थे; उन में एक था दैववादी और दूसरा पुरुषार्थवादी। एक बार दोनों किसी गाँव जा रहे थे; रास्ते में उन्हें खूब भूख लगी। दैववादी बोला कि मेरे दैव में होगा, तब भोजन मिल जाएगा। पुरुषार्थवादी कहने लगा कि मैं तो गाँव में जाकर भोजन का प्रयत्न करता हूँ। इतना कहकर वह गाँव में गया और दो लड्डू ले आया। उसने दैववादी से कहा कि देखो, मैं प्रयत्न करके लड्डू ले आया। फिर एक लड्डू अपने लिये रखकर दूसरा दैववादी को दिया। लड्डू पाकर दैववादी ने कहा कि देखो, अपने दैवानुसार मुझे लड्डू मिल गया। इस दृष्टान्त में वास्तव में दैववादी और पुरुषार्थवादी—दोनों को अपने पुण्य से लड्डू की प्राप्ति हुई है; किन्तु एक को पुरुषार्थ का विकल्प निमित्तरूप से है; इसलिए उसे पुरुषार्थ से लड्डू की प्राप्ति कही, और दूसरे को वैसा विकल्प नहीं है, इसलिए उसे बिना यत्न के दैव से लड्डू की प्राप्ति कही है, किन्तु दोनों में एक ही प्रकार है कि उस प्रकार का पुण्य हो तो प्राप्ति होती है। उसी प्रकार यहाँ सिद्धान्त में पुण्य के स्थान पर पुरुषार्थ है। दैवनय में या पुरुषार्थनय में—दोनों में जीव के 'पुरुषार्थपूर्वक' ही मोक्ष की प्राप्ति हुई है, किन्तु उसमें स्वभाव की ओर का प्रयत्न है, उस अपेक्षा से मोक्ष को यत्न-साध्य कहा है और कर्म की ओर का प्रयत्न नहीं है, उस अपेक्षा से अयत्नसाध्य कहा है। दैवनय से कथन हो या पुरुषार्थनय से—दोनों में यह तो एक ही प्रकार है कि दोनों के वैसा पुरुषार्थ है; स्वभाव के पुरुषार्थ बिना दो में से किसी को भी मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती।

पुरुषार्थ और दैव दोनों धर्मी को धारण करनेवाला आत्मा तो एक ही है, इसलिए दृष्टि में लेने योग्य आत्मा तो एक ही है। अभेद चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेना ही सबका सार है। शुद्धचैतन्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर एकाग्र होने से परिणमन का प्रवाह स्वोन्मुख हो जाता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मद्रव्य तो प्रमाण का विषय है; उसमें अनन्त धर्म हैं, उन अनन्त धर्मों को जाननेवाले अनन्तनय हैं। उसमें एक-एक धर्म के लक्ष्य से प्रमाण नहीं होता, किन्तु सम्पूर्ण धर्मी के लक्ष्य से प्रमाण होता हे और उस प्रमाणपूर्वक ही नय होते हैं।

कभी आत्मा की पुरुषार्थ से मुक्ति होती है और कभी दैव से—ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है। जैसे, कभी जीव की मुक्ति होती है और कभी पुद्गल की—ऐसा नहीं है, उसी प्रकार, कभी जीव के लक्ष्य से मुक्ति होती है और कभी जड़ के लक्ष्य से—ऐसा भी नहीं है; तथा कभी अकेले पुरुषार्थ से मुक्ति होती है और कभी अकेले दैव से—ऐसा भी नहीं है। आत्मा में पुरुषार्थ और दैव दोनों एक साथ ही हैं। कर्म-पद्धति की ओर देखकर आत्मा के ऐसे धर्म की प्रतीति नहीं होती, परन्तु आत्मा के सन्मुख देखने से ही उसके धर्मों की प्रतीति होती है। आत्मा के ऐसे दैवधर्म को पहिचानने जाए तो वहाँ भी धर्म के आधारभूत धर्मी की (शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व की) दृष्टि करना ही आता है, इसलिए उसमें भी स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ आ जाता है। आत्मा के अनन्त धर्मों में से पुरुषार्थ आदि किसी एक धर्म को पृथक् करके लक्ष्य में ले तो उसके लक्ष्य से मुक्ति नहीं होती। अकेले पुरुषार्थधर्म के लक्ष्य से मुक्ति नहीं होती, इसलिए आत्मा अयत्न-साध्य है। इसलिए भेद की दृष्टि छोड़कर अखण्ड आत्मस्वरूप की दृष्टि करना ही तात्पर्य है। अयत्नसाध्यधर्म द्वारा आत्मा को जाने तो उसमें भी शुद्धचैतन्यद्रव्य पर ही दृष्टि जाती है; क्योंकि अयत्नसाध्यधर्म उससे पृथक् नहीं है। इस प्रकार अयत्नसाध्यधर्म को जाननेवाले का ज्ञान भी शुद्धस्वभाव की ओर ढला होता है और उसी को दैवनय होता है।

यह समस्त नय साधक आत्मा के हैं, साधक के श्रुतज्ञान में ही नय होते हैं। केवलीभगवान के नय नहीं होते और अज्ञानी के भी नय नहीं होते। केवली भगवान को समस्त नयों का ज्ञान होता है, किन्तु उनके अपने ज्ञान में नय नहीं होते।

कोई ऐसा कहे कि आत्मा के कार्य में आत्मा का प्रयत्न चलता है; इसलिए पुरुषार्थनय आत्मा में लागू करना चाहिए, और पर के कार्यों में आत्मा का प्रयत्न नहीं चलता, बाह्य संयोग-वियोग दैवानुसार होते रहते हैं; इसलिए दैवनय बाह्य में लागू करना चाहिए;—तो यह विवक्षा यहाँ लागू नहीं होती, क्योंकि यहाँ तो आत्मा के धर्मों का वर्णन है; इसलिए सर्व नय आत्मा में ही लागू होते हैं। यहाँ आत्मा के मोक्ष के लिये पुरुषार्थ और दैव—दोनों एक साथ बतलाना है; एक आत्मा में वे दोनों धर्म एकसाथ विद्यमान हैं। इसलिए यहाँ जिस नय की जो विवक्षा है, वह जानना चाहिए।

— इस प्रकार यहाँ ३३ वें दैवनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(34)

ईश्वरनय

ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थवालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ३४।

आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतन्त्रता भोगनेवाला है, धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भाँति। ३४.

साधक को स्वभाव की दृष्टिपूर्वक पर्याय का ज्ञान होता है; वह जानता है कि मेरी पर्याय में जितने रागादि होते हैं, उतनी मेरी परतन्त्रता है; वह परतन्त्रता पर के कारण नहीं है, किन्तु मेरी पर्याय में ही परन्तत्रता होने का वैसा धर्म है। अस्थिरता के कारण कर्म के उदय में युक्त होने से विकार होता है, वहाँ धर्मी को अपने चैतन्य के ईश्वरत्व का तो भान है और विकार हुआ, उसमें कर्म को ईश्वरत्व देकर कहते हैं कि कर्म के आधीन विकार होता है!—ऐसा जानना, वह ईश्वरनय है। वस्तु की दृष्टिपूर्वक यह नय है। स्वभाव के बड़प्पन का भान रखकर पर्याय की निर्बलता को धर्मी जानते हैं कि अभी मेरी पर्याय में मलिन पुरुषार्थ से इतनी पराधीनता होती है। मैं कर्माधीन होकर विकार करता हूँ, वह मेरा एक समय की पर्याय का धर्म है। दृष्टि के विषय में तो ऐसा आता है कि विकार को आत्मा करता ही नहीं है, किन्तु यहाँ प्रमाणपूर्वक के नयों का वर्णन है; इसलिए पर्याय के विकार को आत्मा स्वयं पराधीन होकर करता है—ऐसा ज्ञान कराया है। आत्मा स्वयं परतन्त्र होकर पर्याय में विकार करे—ऐसा उसका धर्म है, किन्तु कर्म इस जीव को जबरन विकार कराये—ऐसा धर्म तो पर में नहीं है और आत्मा में भी नहीं है। साधक को अपनी पर्याय में अभी पूर्ण वीतरागता नहीं है, किन्तु साधकत्व है; और साधकदशा में बाधकभाव भी साथ वर्तता है; और वह बाधकभाव पराश्रय से होता है, इसलिये उतनी आत्मा की परतन्त्रता है—ऐसा धर्मी जानता है।

(१) यदि स्वाश्रय सम्पूर्ण हो गया हो तो सर्वज्ञता हो जाए और विकार किंचित्मात्र न रहे; और वहाँ नय भी न हो।

(२) यदि स्वाश्रयभाव बिल्कुल न हो, अकेला पराश्रयभाव ही हो तो मिथ्यादृष्टिपना हो; उसके भी नय नहीं होगा।

(३) जिसके सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान का स्वाश्रयभाव विकसित हुआ है और अभी चारित्र में अंशत: पराश्रयभाव भी वर्तता है - ऐसे साधक जीव की यह बात है। वह जीव अपनी पर्याय की पराधीनता को जानता है, तब उसके ईश्वरनय होता है। उस समय भी साधक की दृष्टि तो पूर्ण शुद्ध स्वभाव पर ही पड़ी है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी धर्मात्मा को राग-द्वेष होता है; वहाँ वह अपनी पराधीनता समझते हैं। पर के कारण वह विकार हुआ है—ऐसा नहीं मानते, किन्तु अपना अपराध समझते हैं; अपने में अभी पराधीनता होने की उतनी योग्यता है—ऐसा जानते हैं। आत्मा में यह परतन्त्रता भोगने का धर्म त्रिकाली स्वभावरूप नहीं है, किन्तु क्षणिक पर्याय के आश्रित है।

यहाँ जिन धर्मों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ धर्म त्रिकाली स्वभावरूप हैं और कुछ क्षणिक पर्यायरूप हैं। कुछ धर्म ऐसे हैं कि जो साधकदशा में होते हैं और फिर नहीं होते। इस प्रकार यह धर्म अपेक्षित हैं; सभी जीवों को यह समस्त धर्म लागू नहीं होते। यहाँ साधक जीव किस नय से कैसे धर्म को जानता है, उसका वर्णन है।

धर्मी जानता है कि मेरा आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है; राग मेरा स्वभाव नहीं है; मेरे स्वभाव के आश्रय से राग नहीं होता; राग, पर के आश्रय से होता है; इसलिए वह परतन्त्रता है और आत्मा स्वयं कर्ता होने से उस परतन्त्रता को भोगनेवाला है। इस प्रकार स्वभाव की स्वतन्त्रता और पर्याय की अमुक परतन्त्रता, दोनों का ज्ञान करके धर्मी अपने स्वभाव में ढलता जाता है और बाधकभावरूप परतन्त्रता को तोड़ता जाता है।

जिस प्रकार—बालक माता की गोद में होता है, तब उसे जब दूध पीना होता है पी लेता है—वहाँ वह स्वतन्त्र है; किन्तु माता की गोद से निकलकर बाहर गाँव में गया हो तो अमुक समय ही धाय माता के यहाँ दूध पिलवाया जाता है; इसलिए वहाँ वह परतन्त्ररूप से दूध पीनेवाला है। उसी प्रकार माता अर्थात् शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वभाव; उसकी गोद में रहे अर्थात् स्वभाव का आश्रय करके उसमें लीन रहें तो वह आत्मा परतन्त्र नहीं होता, किन्तु

स्वाधीनरूप से अपने आनन्द का उपभोग करता है। परन्तु जहाँ स्वभाव की गोद में से बाहर निकलकर पर का आश्रय किया, वहाँ परतन्त्ररूप से रागादि का उपभोग करता है। इसलिए ईश्वरनय से आत्मा परतन्त्रता भोगनेवाला है। यदि स्वभाव का आश्रय करने से सम्पूर्ण ईश्वरत्व प्रगट हो जाए तो परतन्त्रता न रहे और ईश्वरनय लागू न हो। किन्तु अभी स्वभाव का पूर्ण ईश्वरत्व प्रगट नहीं हुआ है और अंशत: पर का आश्रय होता है, उतनी पराधीनता है; उस पराधीनता में आत्मा स्वयं पर को बड़प्पन-ईश्वरत्व देता है, इसलिए ईश्वरनय से वह परतन्त्रता भोगनेवाला है। धर्मी ने अपने चैतन्यस्वभाव के ईश्वर को जानकर उसका आश्रय तो किया है किन्तु अभी पूर्ण आश्रय नहीं लिया है; इसलिए कुछ पराश्रय भी होता है; उतनी अपनी पराधीनता है। स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को जो समझा है, वह इस पराधीनता को भी जानता है। पर्याय की पराधीनता, वह ईश्वरनय का विषय है और सारा आत्मद्रव्य, वह प्रमाण-नय का विषय है। प्रमाण से जाने या नय से जाने, किन्तु उस सबका सार तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होना ही है।

पर्याय में परतन्त्रता भोगने की आत्मा की योग्यता है, वह भी एक धर्म है; इसलिए कर्म के उदयानुसार जीव को विकार करना पड़ता है—ऐसा नहीं है; कर्म, आत्मा को पराधीन नहीं करता, किन्तु आत्मा स्वयं पर को ईश्वरत्व देकर (पर का आश्रय करके) पराधीनता भोगता है। धर्मी की दृष्टि में तो शुद्ध चैतन्यपिण्ड का ही आश्रय वर्तता है, किन्तु अभी चारित्र में विकार होता है, वह निमित्त के आश्रय से होता है; उतना निमित्त की ओर झुकाव है, वह विभाव की ईश्वरता है। स्वभाव की दृष्टि में अपने ईश्वरत्व का भान रखकर, पर्याय में जो विकार होता है, उतनी अपनी पराधीनता है-ऐसा धर्मी जानता है। किन्तु परद्रव्य जबरन जीव को विकार कराता है—ऐसा कोई धर्म आत्मा में या परद्रव्य में नहीं है। स्वभाव के स्वतन्त्र ईश्वरत्व-प्रभुत्व को चूककर, अकेले निमित्त को ही ईश्वरत्व देकर उसकी ओर देखता रहे, उसे ऐसा ईश्वरनय नहीं होता। यहाँ तो, जिन्हें आत्मा की प्रभुता का भान हुआ है—ऐसे ज्ञानी कभी-कभी ईश्वरनय से ऐसा कहते हैं कि यह जो राग-द्वेष होते हैं, वे मेरे स्वभाव के ईश्वरत्व से नहीं होते, किन्तु निमित्त के-कर्म के बड़प्पन से होते हैं, और उतना पराधीनता का उपभोग है। कर्म की बलजबरी से विकार हुआ-ऐसा भी कहा जाता है, किन्तु ऐसा कहनेवाले की दृष्टि कहाँ होती है? विकार रहित शुद्ध चैतन्यद्रव्य

स्वतन्त्र है—ऐसा जिसने जाना हो, अर्थात् स्वभाव की बलजबरी प्रगट हुई हो, वह जीव स्वभावदृष्टि के बल से विकार को गौण करके विकार को कर्म की बलजबरी से हुआ कहता है और उसी को ईश्वरनय होता है।

शिष्य ने पूछा है कि प्रभो! यह आत्मा कौन है, कैसा है ? कि जिसे जानने से मेरा कल्याण हो जाए ? उसका यह उत्तर चल रहा है। यहाँ बतलाना तो है शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा; किन्तु उसे बतलाने के लिये उसके धर्मों का वर्णन किया है। जिस प्रकार—जब मुसाफिर के बालक को धायमाता दूध पिलाती है, तब वह पराधीनता से दूध पीता है; उसी प्रकार अनन्त धर्म का पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा, स्वभाव से तो रागादि का भोगनेवाला नहीं है, किन्तु पर्याय में रागादि भावों को पराधीनरूप से भोगता है; इसलिए ईश्वरनय से आत्मा पराधीन भोगनेवाला है—ऐसा कहा है।

ईश्वरनय से पराधीनता को जाननेवाला उसी समय अपने स्वभाव से स्वाधीनता को भी समझता है। यदि अकेली पराधीनता को ही माने और स्वाधीनता को न जाने तो वह पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है; और अकेली स्वाधीनता को ही मान ले, पर्याय में पराधीनता है, उसे न जाने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। द्रव्य और पर्याय से वस्तु को यथावत् जानना चाहिए; जो द्रव्य और पर्याय दोनों से वस्तु को यथार्थरूप से जान ले, उसकी दृष्टि का बल शुद्ध द्रव्य की ओर ही ढल जाता है; किसी भी नय से देखे या प्रमाण से देखे, तथापि अन्तरंग में आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखता है। 'स्यात्कार के वश वर्तते हुए' ईश्वरनय से देखो या किसी भी नय से देखो, तथापि अनन्त धर्मोंवाला निज आत्मद्रव्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप दिखायी देता है; प्रत्येक धर्म सम्पूर्ण धर्मी को (शुद्ध चैतन्य द्रव्य को) बतलाता है, और यही नयज्ञान का सच्चा फल है। नय कहीं विकल्प में अटकने के लिये नहीं है, किन्तु वस्तु को साधने के लिये हैं। ईश्वरनय से आत्मा पराधीन है—ऐसा देखनेवाले को भी उस समय अन्तर में शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की दृष्टि नहीं छूटती।

अनन्त धर्मों का पिण्ड चैतन्यस्वरूप आत्मा है; उसके यह धर्म हैं। शुद्ध चैतन्यद्रव्य की ओर उन्मुख होना ही इन समस्त धर्मों का योगफल है। प्रारम्भ में भी यही भूमिका रची थी कि आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनन्त धर्मों के आधाररूप एक द्रव्य

है। भाई! तू अन्तर में अपने शुद्ध चैतन्य द्रव्य को देख; उसी के लिये यह सारी बात की है। अभी पर्याय में निर्बलता से रागादि होते हैं, इसलिए ईश्वरनय से पराधीनता का ज्ञान कराया है; किन्तु पराधीनता कहकर पर की ओर देखने के लिये नहीं कहा, अपितु अन्तर के शुद्ध चैतन्यद्रव्य की ओर उन्मुख करने के लिये कहा है। पराधीनता तो एक क्षणिक अंश है और उसी समय पूरा अंशी शुद्ध चैतन्य शक्तिरूप से बिराजमान है; इसलिए अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यरूप से अन्तरंग में देख;—ऐसा उपदेश का तात्पर्य है।

— इस प्रकार ३४वें ईश्वरनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(35)

अनीश्वरनय

अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ३५।

आत्मद्रव्य अनिश्वरनय से स्वतन्त्रता भोगनेवाला है, हिरन को स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रता, स्वेच्छा) पूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह की भाँति। ३५.

हे जीव! तेरा आत्मा सिंह जैसा स्वतन्त्र है। 'अनीश्वर' अर्थात् जिसके ऊपर अन्य कोई ईश्वर नहीं है—ऐसा स्वतन्त्र आत्मा है। जिस प्रकार सिंह, वह जंगल का राजा है, उसके ऊपर अन्य कोई नहीं है; उसी प्रकार आत्मा स्वयं अनन्त शक्ति का प्रभु है; वह अपनी प्रभुता के सिवा अन्य किसी को प्रभुता नहीं दे सकता। जिस प्रकार जंगल में सिंह, हिरन को स्वतन्त्ररूप से फाड़ खाता है, वहाँ उसे अन्य किसी का ऐसा भय नहीं है कि इस हिरन के सगे-सम्बन्धी आकर मुझे मारेंगे। अरे! विशाल हाथियों के झुण्ड भी आ जायें तो भी सिंह उनसे नहीं डरता। उसी प्रकार अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना करनेवाला आत्मा सिंह जैसा नि:शंक है—निर्भय है; उसे किसी कर्म का, क्षेत्र का या प्रतिकूल परीषह का ऐसा भय नहीं है कि यह मेरी प्रभुता को लूट लेगा! स्वयं स्वतन्त्ररूप से आत्मानन्द का उपभोग करता है। आत्मा का स्वभाव ऐसा स्वतन्त्र अनीश्वर है कि वह किसी अन्य को ईश्वरत्व नहीं देता। आत्मा की स्वतन्त्रता का प्रताप अखण्डित है।

समयसार के परिशिष्ट में आत्मा की ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, वहाँ 'प्रभुत्वशक्ति' का वर्णन करके आत्मा की प्रभुता बतलायी है और इस प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों से आत्मा का वर्णन किया है; उनमें इस अनीश्वरनय से आत्मा की स्वतन्त्रता का वर्णन करके उसकी प्रभुता बतलायी है। स्वतन्त्रता से सुशोभितपना, वह प्रभुता का लक्षण है; किन्तु अज्ञानी के अन्तर में अपनी प्रभुता नहीं जमती और पराश्रय की याचकबुद्धि दूर नहीं होती।

एक भिखारिन को किसी राजा ने अपनी रानी बनाकर महल में रख लिया, किन्तु उसकी माँगने की आदत न गयी; इसलिए भोजन के समय आले में भोजन रखकर भीख माँगती थी कि 'देना माँ-बाप! रोटी का टुकड़ा!'—इस प्रकार भीख माँगकर फिर खाती थी। उसी प्रकार अज्ञानी जीव भगवान के समवसरणरूपी महल में गया और भगवान ने उसे उसकी प्रभुता बताकर कहा कि हे आत्मा! तेरी प्रभुता तेरे पास है, इसलिए पराश्रय से लाभ होता है—ऐसी याचकबुद्धि छोड़ दे! किन्तु उस अज्ञानी को आत्मा की स्वाधीन प्रभुता पसन्द नहीं आती और पर से तथा व्यवहार के आश्रय से कुछ लाभ होता है—ऐसी पराश्रय की बुद्धि नहीं हटती।

यहाँ आचार्यदेव अनीश्वरनय से आत्मा की प्रभुता समझाते हैं कि हे भाई! तू स्वतन्त्रता भोगनेवाला है; तू स्वयं ही अपना प्रभु है; तेरे आत्मा का स्वामी अन्य कोई नहीं है। तेरे आत्मा में कर्म का ईश्वरत्व तो नहीं है और तीर्थंकर भगवान की प्रभुता भी वास्तव में तेरे आत्मा में नहीं है। उनकी प्रभुता उनमें है और तेरी प्रभुता तुझमें।

आत्मा की पर्याय में परवशरूप से अर्थात् पर के आश्रय से विकार होता है, उतनी पराधीनता है; किन्तु उसी समय स्वभाव की स्वाधीन प्रभुता भी आत्मा में विद्यमान ही है। ईश्वरनय से आत्मा की परतन्त्रता को जानते समय भी स्वभाव की स्वतन्त्र प्रभुता का भान धर्मी को साथ ही है। पर्याय के ज्ञान के समय भी स्वभाव की प्रभुता की दृष्टि धर्मी के नहीं छूटती, और न पर्यायबुद्धि होती है। अज्ञानी, स्वभाव की प्रभुता को नहीं जानता; इसलिए पर्याय को जानते हुए उसे अकेली पर्यायबुद्धि हो जाती है; वह पूर्ण आत्मा को पर्याय जितना ही मानता है; इसलिए उसके नय या प्रमाण नहीं होते।

एक आत्मा में स्वाधीनतारूप धर्म और दूसरे में पराधीनतारूप धर्म—इस प्रकार यह धर्म पृथक्-पृथक् आत्माओं के नहीं हैं, किन्तु एक ही आत्मा में यह सब धर्म विद्यमान हैं। ईश्वरनय से देखो या प्रमाणज्ञान से; किन्तु अन्तरंग दृष्टि में आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही दिखायी देता है। ईश्वरनय से पराधीन पर्याय को जानते समय भी धर्मी की दृष्टि में उस पराधीनता की प्रधानता नहीं हो जाती; उसकी दृष्टि में तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप से ही आत्मा प्रकाशित होता है। आत्मा के अनन्त धर्म हैं, किन्तु आत्मा तो एक ही है। ऐसे आत्मा को प्रमाण द्वारा देखो, तथापि अन्तरंग में तो शुद्ध चैतन्यमात्र दिखायी देता है।

जिस प्रकार वन का राजा सिंह, हिरन को अपनी इच्छानुसार फाड़कर खा रहा हो तो वहाँ उसे कौन रोकनेवाला है ? उसी प्रकार चैतन्यराजा भगवान आत्मा अपनी शक्ति के पुरुषार्थ से अन्तरस्वरूप में एकाग्र होकर अपने आनन्द का उपभोग करता है, वहाँ वह स्वतन्त्ररूप से आनन्द का उपभोक्ता है, उसे कोई रोक नहीं सकता।

'कर्मों के आधीन होकर आत्मा परिभ्रमण करता है'—इस प्रकार ईश्वरनय से आत्मा को पराधीन कहा, वहाँ भी अकेली पराधीनता बतलाने का तात्पर्य नहीं है; किन्तु क्षणिक पराधीनता का ज्ञान कराकर शुद्ध चैतन्यद्रव्य की ओर ले जाने का ही तात्पर्य है। भाई ! पर से तेरा कल्याण होता है या पर से तेरा कल्याण रुकता है—यह बुद्धि छोड़ दे। कोई दूसरा तुझे डुबा दे या उबार ले—ऐसा तेरे स्वरूप में है ही नहीं। तेरे आत्मा में ऐसी स्वतन्त्र-प्रभुता है कि वह किसी दूसरे को बड़प्पन नहीं देती, कोई दूसरा उसका स्वामी नहीं है। अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्ध कार्य है, उसके कारणरूप स्वयं ही कारणपरमात्मा है; अन्य कोई उसका कारण नहीं है।—इस प्रकार अपने आत्मा के स्वतन्त्र ईश्वर को तू 'अनीश्वरनय' से जान।

वर्तमानपर्याय स्वभावोन्मुख होने पर अन्तर की आनन्दशक्ति को चीरकर आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूप से उस आनन्द का उपभोक्ता है। जिस प्रकार सिंह स्वतन्त्रतापूर्वक हिरन को फाड़ खाता है, उसी प्रकार अनन्त पराक्रम का स्वामी आत्मा स्वयं अपनी स्वतन्त्रता से आनन्द का उपभोक्ता है; उसके ऊपर अन्य कोई ईश्वर नहीं है, अर्थात् आत्मा किसी के आधीन नहीं है। आनन्द के स्वाधीन उपभोग में आत्मा को विघ्न करनेवाला ब्रह्माण्ड में कोई है नहीं।

जिस प्रकार सिंह अर्थात् वन का राजा वन में डरपोक हिरनों को मारकर स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करता है, उसी प्रकार आत्मा अर्थात् चैतन्यराजा अन्तरस्वरूप में एकाग्रता द्वारा मोह को मारकर स्वेच्छापूर्वक अपने आनन्द का उपभोक्ता है;—ऐसा उसका धर्म है। ऐसे धर्म से जो अपने आत्मा को पहिचाने, वह पर के आश्रित नहीं होता।

धर्मी जानता है कि इस जगत में किसी भी द्रव्य के गुण में या पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि मेरी स्वतन्त्रता को लूट सके। मैं अनीश्वर हूँ अर्थात् मेरे ऊपर अन्य कोई ईश्वर

नहीं है, मैं ही अपने घर का बड़ा ईश्वर हूँ। मुझसे बड़ा इस जगत में ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो मेरे स्वाधीन स्वभाव को लूटकर मुझे पराधीन कर दे। देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा को आत्मा का केवलज्ञानादि पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो गया है, इसलिए वे परमेश्वर हैं; किन्तु उनकी ईश्वरता उनके आत्मा में है, मुझमें उनकी ईश्वरता नहीं है। शक्तिरूप से तीर्थंकर भगवान और मेरा आत्मा दोनों समान हैं; मेरे द्रव्य में भी तीर्थंकर भगवान जैसा ही ईश्वरत्व स्वभावरूप से भरपूर है।

विनय से धर्मी भी ऐसा कहते हैं कि अहो! तीर्थंकर परमात्मा हमारे नाथ हैं; हमें तीर्थंकर भगवान का आश्रय है, इसलिए क्या चिन्ता ? किन्तु उसी समय अन्तर में भान वर्त रहा है कि परमार्थ से हमारा भगवान तो हमारा आत्मा ही है। वास्तव में हमारा आत्मा स्वयं ही हमारा स्वामी है;—इस प्रकार निश्चय अनुपचार स्वरूप के भानसहित, भगवान को रक्षक कहना, वह उपचार कथन है।

हे वीतराग चैतन्यमूर्ति आत्मा! मैंने अन्तरदृष्टि से तुझे देखा और अपना स्वामी स्वीकार किया; महान रक्षक ऐसे निज चैतन्य परमेश्वर को दृष्टि में धारण किया, वहाँ मेरा दुःख और दुर्भाग्य दूर हो गया और आत्मा की आनन्द सम्पदा से भेंट हुई।—ऐसी दृष्टिपूर्वक व्यवहारविनय के विकल्प के समय भगवान को रक्षक कहे तो वहाँ ईश्वरनय लागू होता है। किन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्वामी है—ऐसा यदि मानें तो द्रव्य की स्वतन्त्रता का भान नहीं रहता; वहाँ तो एकान्त हो जाता है; इसलिए वहाँ नय भी लागू नहीं होता।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा के द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों स्वतन्त्र हैं;—ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति करके शुद्ध चैतन्यद्रव्य का अनुभव करना सर्व नयों का फल है।

जिस प्रकार जंगल में हिरन को फाड़ खानेवाला सिंह किसी के आधीन नहीं है; उसी प्रकार स्वभावोन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करनेवाला आत्मा किसी के आधीन नहीं है; काल के, कर्म के और निमित्तों के आधीन नहीं है, किन्तु स्वाधीनरूप से अपना शुद्धभाव का उपभोग करनेवाला है। इस प्रकार अनीश्वरनय से आत्मा स्वयं ही अपना नाथ है; अन्य कोई उसका स्वामी नहीं है।

प्रश्नः—स्त्री का स्वामी तो उसका पति होता है, इसलिए उसे यह बात कैसे लागू हो सकती है ?

उत्तरः—अरे भाई! सभी आत्माओं को यह बात लागू होती है। स्वभाव से समस्त आत्मा स्वाधीन चैतन्यमूर्ति हैं। स्त्री और पुरुष तो मात्र शरीर हैं, किन्तु स्त्री-शरीर में विद्यमान आत्मा भी अपने स्वभाव का ऐसा ही भान कर सकता है कि अनीश्वरनय से मैं स्वाधीन हूँ, मेरा कोई स्वामी नहीं है। राग होता है, इसलिए निमित्त से दूसरे को स्वामी कहा जाता है, किन्तु उस समय भी अन्तर की दृष्टि में तो निरन्तर प्रतीति वर्तती है कि मैं स्वयं चैतन्यपरमेश्वर हूँ, मेरे आत्मा के सिवा अन्य कोई मेरा ईश्वर या स्वामी नहीं है। अरे! आठ वर्ष की राजकुमारी को सम्यग्दर्शन होने पर वह भी ऐसा जानती है कि मैं स्त्री नहीं हूँ, किन्तु शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ, मेरी प्रभुता मुझमें है; बाह्य में दूसरा कोई मेरे आत्मा का स्वामी नहीं है। उस सम्यग्दृष्टि बालिका को ऐसा भान होने पर भी वह विवाह कराती है और पति को स्वामी कहकर बुलाती है, तथापि अपने आत्मा के ईश्वरत्व का भान उसके अन्तर में से दूर नहीं होता।

पुनश्च, कोई सेठ मिथ्यादृष्टि हो और नौकर सम्यक्त्वी हो, अथवा राजा मिथ्यादृष्टि हो और मन्त्री सम्यग्दृष्टि हो; तो वहाँ सेठ या राजा से वह सम्यग्दृष्टि ऐसा भी कहता है कि—'आप हमारे स्वामी हो।' पर्याय में राग होने से इतनी पराधीनता का वर्ताव धर्मी जानता है किन्तु उसी समय अन्तरदृष्टि में आत्मा की स्वाधीन प्रभुता का भी भान वर्तता है; ईश्वरनय के समय अनीश्वरनय की अपेक्षा भी साथ ही है।

अपने द्रव्यस्वभाव की त्रैकालिक ईश्वरता को चूके बिना पर्याय की पराधीनता जितना ईश्वरत्व पर को देता है, वहाँ ईश्वरनय सच्चा है। किन्तु अपने स्वभाव के ईश्वरत्व को भूलकर जो मात्र पर को ही ईश्वरता देता है, उसके ईश्वरनय भी सच्चा नहीं है; वह तो पर्याय में ही मूढ़ होने से मिथ्यादृष्टि है। स्वभाव की ईश्वरता को चूककर जिसने पर को ईश्वरत्व दिया, उसे स्वभावोन्मुख होना तो रहा ही नहीं।

प्रारम्भ में आचार्यदेव ने कहा था कि श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मा ज्ञात होता है,—इस प्रकार जो आत्मा को जाने, उसी के सम्यक्नय होते हैं;—क्योंकि नय तो

श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है। धर्मी वस्तु के ज्ञान बिना उसके धर्म का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। अन्त में भी आचार्यदेव कहेंगे कि स्याद्वादानुसार नय से जाने या प्रमाण से, तथापि जीव अन्तर में अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखता ही है। अन्तर्मुख दृष्टि करके जिसने अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव किया, उसने ईश्वर का साक्षात्कार किया है। अपना शुद्ध आत्मा ही चैतन्यपरमेश्वर है; स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से उसका अनुभव करना ही ईश्वर का साक्षात्कार है; इसके सिवा अन्य कोई ईश्वर दर्शन देने नहीं आता।

इस समय महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं, उनके समवसरण की सभा में गणधर और सन्त-मुनि आदि विराजमान हैं। वहाँ गणधरदेव भी भक्तिपूर्वक भगवान से ऐसा कहते हैं कि—'हे नाथ! हे प्रभो! आप हमारे तीर्थपति हो; चारों तीर्थ के आप नायक हैं, आप ही हमारे ईश्वर हैं!' उस समय उनके अन्तर में शुद्धचैतन्यस्वभाव पर ही दृष्टि है। मैं तो अनन्त धर्म का पिण्ड शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ, मेरा आत्मा स्वाधीन है; उसका कोई नाथ नहीं है-ऐसा अन्तरभान ईश्वरनय के समय भी धर्मात्मा के वर्तता है।

जो प्राप्त हो चुका है, उसकी रक्षा करे और जो अप्राप्य है, उसकी प्राप्ति करा दे;— इस प्रकार जो योग्य-क्षेम का कर्ता हो, उसे 'नाथ' कहा जाता है। आत्मा अपने स्वाश्रय से प्राप्त किये हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि की स्वभावदृष्टि से स्वयं ही रक्षा करता है; और जो अप्राप्य ऐसे सम्यक्-चारित्र-वीतरागता-केवलज्ञानादि हैं, उन्हें स्वयं ही अन्तर्स्वभाव में एकाग्र होकर प्राप्त करता है।—इस प्रकार आत्मा स्वयं ही अपने योग्य क्षेत्र का कर्ता है, इसलिए वह स्वयं ही अपना नाथ है। भक्ति के कारण तीर्थंकर भगवान के आत्मा को नाथ कहना, वह विनय के निमित्त से कथन है। स्याद्वादानुसार चाहे जिस नय का कथन हो, उसमें कोई विरोध नहीं आता। चाहे जिस नय से या प्रमाण से देखने पर स्याद्वादी धर्मात्मा को अपना आत्मा शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप ही दिखायी देता है। अन्तर्दृष्टि करके जो ऐसे आत्मा को देखता है, उसी ने आत्मा को पहिचाना कहा जाएगा।

— इस प्रकार ३५ वें अनीश्वरनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(36)
गुणीनय

गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारक-वद्गुणग्राहि ३६।

आत्मद्रव्य गुणीनय से गुणग्राही है, शिक्षक के द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है, ऐसे कुमार की भाँति। ३६.

जिस प्रकार—शिक्षक जैसा सिखलाता है, वैसा कुमार सीख लेता है; उसी प्रकार निमित्तरूप ज्ञानी गुरु से आत्मा बोध ग्रहण करता है;—ऐसा उसका एक धर्म है। श्रीगुरु जैसा उपदेश दें, वैसा ग्रहण कर लेने की आत्मा में शक्ति है। सम्यग्दर्शनादि गुणों का ग्रहण करने में गुरु तो निमित्त हैं, किन्तु उन गुणों को ग्रहण करने का नैमित्तिक धर्म तो इस आत्मा का है। गुरु से गुण ग्रहण किये-अमुक गुरु से सम्यक्त्व ग्रहण किया, अमुक गुरु से चारित्र ग्रहण किया,—ऐसा कहा जाता है, किन्तु उन गुणों को ग्रहण करने की शक्ति किसकी है? वह धर्म तो जीवों का है; इसलिए गुणग्राहीनय में भी निमित्ताधीनपना नहीं है, वह नय भी आत्मा के धर्मों को देखता है। प्रत्येक धर्म अपनी स्वशक्ति से है, पर के कारण नहीं है—ऐसा जानता है।

और यहाँ जो 'गुणग्राही' कहा है, उसमें 'गुण' अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि। गुरु से ऐसे गुणों को ग्रहण करने की आत्मा में शक्ति है। तो फिर जिस गुरु के निमित्त से ऐसे गुणों को ग्रहण करता है, उस गुरु के पास भी सम्यक्त्वादि गुणों का भण्डार होना चाहिए। गुरु के पास गुण होंगे, तभी तो शिष्य ग्रहण करेगा न? इसलिए गुरु भी सम्यग्दर्शनादि गुणों सहित ज्ञानी ही होना चाहिए। अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि ऐसे कुगुरु के पास तो सम्यग्दर्शनादि कोई भी गुण नहीं होते, इसलिए उससे कैसे गुणग्रहण किये जा सकते हैं? अज्ञानी के पास से जो गुणग्रहण करना मानता है, उसने वास्तव में गुणों को पहिचाना ही नहीं;—ऐसे जीव के गुणग्राहीनय नहीं होता।

जिसने सम्यग्दर्शनादि गुणों का ग्रहण किया हो, वह निमित्त में आरोप करके ऐसा कह सकता है कि 'अहो! मैंने अपने गुरु से गुणग्रहण किया, मेरे गुरु ने मुझे सम्यग्दर्शन प्रदान किया,'—और उसके गुणग्राहीनय होता है। किन्तु जिसने अभी सच्चे गुरु को ही नहीं पहिचाना, गुणों का ग्रहण ही नहीं किया, वह तो 'गुरु ने गुण दिये'—ऐसा उपचार से भी नहीं कह सकता; उसके गुणग्राहीनय नहीं होता।

देखो, यहाँ ऐसा भी कहा है कि श्रीगुरु जो कुछ समझायें, वह सब समझकर ग्रहण करने की आत्मा में शक्ति है। 'अत्यन्त सूक्ष्म बात हो तो आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता'—ऐसा नहीं कहा है। इसलिए चाहे जैसी सूक्ष्म बात को समझने की आत्मा में शक्ति है;—सम्यग्दर्शन से लेकर ठेठ केवलज्ञान तक के गुणों को ग्रहण कर सके, ऐसा आत्मा का धर्म है।

पुनश्च, आत्मा 'गुणग्राही' है, इसलिए गुणों को ग्रहण करने का उसका स्वभाव है, किन्तु दोषों को या पर को ग्रहण करे–ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। दोष को या निमित्त को जानता अवश्य है, किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करता, सम्यग्दर्शनादि गुणों को ही ग्रहण करता है; और उन गुणों का ग्रहण तो स्वभाव के आश्रय से ही होता है, इसलिए इस गुणीनय में भी शुद्धचैतन्यस्वभाव के आश्रय का ही अभिप्राय है।

निमित्तरूप गुरु से गुणग्रहण करता है;—उसमें भी यही बात आयी कि जैसा गुरु समझाते हैं, वैसा ही स्वयं समझ जाता है; ज्ञानी गुरु के अभिप्राय से किंचित् विपरीत ग्रहण नहीं करता। गुरु कुछ कहें और शिष्य कुछ और ही ग्रहण करे—ऐसा नहीं है; किन्तु जैसा गुरु कहें, वैसा ही शिष्य ग्रहण करता है—ऐसा उसका गुणग्राही धर्म है। श्रीगुरु आत्मा के शुद्धस्वभाव पर वजन देना चाहते हैं और शिष्य भी ऐसा ही समझकर गुणग्रहण करता है। श्रीगुरु कहते हैं कि हे जीव! तूने अपनी भूल से अनन्त भव धारण किये हैं, तथापि एक अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करने की तेरे आत्मा में शक्ति है—ऐसे अपने स्वभाव का विश्वास कर तो तेरा भवभ्रमण दूर हो जाए। गुरु की ऐसी शिक्षा ग्रहण करके तदनुसार आचरण करने की शिष्य में शक्ति है। जिस प्रकार ब्लॉटिंग पेपर का स्वभाव स्याही को चूस लेने का है अथवा कोरे घड़े पर पानी गिरते ही वह घड़ा उसे सोख लेता है; उसी प्रकार

श्रीगुरु जैसा कहते हैं, वैसा ही झेलकर शिष्य चूस लेता है—आत्मसात् कर लेता है और अपने में गुण प्रगट करता है।—ऐसा गुणग्राही आत्मा है।

अपने गुणों में निमित्तरूप गुरु का ज्ञान करते समय ऐसा भी कहा जाता है कि इन गुरु ने मुझे चैतन्यविद्या प्रदान की। गुरु ने विद्या दी, किन्तु उसे ग्रहण किसने किया? गुरु ने जो सिखलाया, उसे ग्रहण करने का स्वभाव तो आत्मा का है, कहीं गुरु बलात् ग्रहण नहीं करा देते। गुणों को ग्रहण करे—ऐसा गुणग्राही धर्म आत्मा का अपना है। इस प्रकार गुणीनय का वजन परनिमित्त के ऊपर नहीं है,—जैसा निमित्त हो, वैसा ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है, किन्तु गुणग्राही धर्म का धारण करनेवाला अन्तर में शुद्धचैतन्यद्रव्य है, उसे देखना इस गुणीनय का तात्पर्य है।

नय है, वह धर्म को देखता है; धर्म अकेला नहीं रहता, किन्तु अनन्त धर्म के पिण्ड ऐसे धर्मी के आधार से रहता है; इसलिए धर्मी की (चैतन्य द्रव्य की) दृष्टि रखकर जो उसके एक-एक धर्म को जानता है, वही सच्चा नय है। गुणीनय से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा, गुरु के पास से गुण ग्रहण करे—ऐसा गुणग्राही है। किन्तु वहाँ धर्मी जानता है कि ऐसा गुणग्राही धर्म भी मेरे आत्मद्रव्य का है—मेरा धर्म कहीं गुरु के आधार से नहीं है; इसलिए मुझे अपने आत्मा की ओर ही देखना है। इस प्रकार धर्मी जीव नय के सभी पक्षों को स्वोन्मुख करके अन्तर में अपने आत्मा को शुद्धचैतन्य स्वरूप देखता है। शुद्धचैतन्य मात्र आत्मा पर दृष्टि करे, उसी को इन नयों का सच्चा ज्ञान होता है।

जिस प्रकार उष्णता अग्नि का ज्ञान कराती है, क्योंकि वह उसका स्वभाव है; उसी प्रकार यह गुणग्राही धर्म किस वस्तु का ज्ञान कराता है?—निमित्त का ज्ञान नहीं कराता, क्योंकि वह निमित्त का धर्म नहीं है; वह तो धर्मी ऐसे आत्मद्रव्य का ही ज्ञान कराता है कि 'यह धर्म इस आत्मा है।'—इस प्रकार नय का ध्येय भी शुद्ध आत्मा को लक्ष्य में लेने का है। किसी भी नय का ध्येय पराश्रय कराने का नहीं है।

आत्मा गुणग्राही है-ऐसा कहा, उसका यह अर्थ नहीं है कि जहाँ-तहाँ पर में से गुणग्रहण करना चाहिए। पर में आत्मा का कोई गुण है ही नहीं। पर में से मेरे गुण आयेंगे—ऐसा मानकर पर सन्मुख ही देखता रहे तो उसके कभी सम्यग्दर्शनादि गुण प्रगट नहीं होंगे।

और कितने ही लोग तो ऐसा कहते हैं कि—'सामनेवाला जीव भले ही मिथ्यादृष्टि या चाहे जैसा हो, लेकिन हम किसी को क्यों बुरा कहें? हमें तो सबके पास से गुणग्रहण करना चाहिए।'—तो यह कोई गुणग्राहीपना नहीं है, यह तो विनयमिथ्यादृष्टि है; सच्चे-झूठे का भी उसे विवेक नहीं है। श्रीगुरु ने जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार समझकर अपने स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि प्रगट करने का नाम गुणग्राहीपना है।

'हे प्रभो! हम कुछ नहीं जानते थे, हम तो बालक थे, आपने हमें सूक्ष्म चैतन्यतत्त्व की शिक्षा दे-देकर हमारा उद्धार किया है, आपने ही हमें आत्मविद्या सिखायी है'—इस प्रकार शिष्य गुणीनय से कहता है, किन्तु उस गुण को ग्रहण करने का स्वभाव तो मेरा है,—ऐसा यदि स्वाश्रय की दृष्टि रखकर कहे तो उसके सच्चा गुणीनय है। यहाँ तो चारों पक्ष से स्वाश्रय की पुष्टि है। अहो! यथार्थ दृष्टि रखकर किसी भी पक्ष से देखे तो आत्मा में केवलज्ञान का कन्द खड़ा होता है। आत्मा को देखनेवाला जो श्रुतज्ञान है, वह अनन्त नयोंवाला है; उसमें से किसी भी नयपूर्वक आत्मा को देखे तो आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड शुद्धचैतन्यमूर्ति ही दृष्टिगोचर होता है।

विनयी शिष्य गुणीनय से ऐसा कहता है कि हे प्रभो! हम कहाँ खड़े थे और आपने धीरे-धीरे हमें कहाँ ला दिया? हमारा सारा चक्र ही बदल दिया! आप न मिलते तो हम कैसे धर्म प्राप्त करते? दर्शनसार में श्री देवसेनाचार्य ने भी कहा है कि—'श्री सीमन्धर भगवान से प्राप्त किये हुए दिव्य ज्ञान द्वारा ही पद्मनन्दिनाथ ने अर्थात् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते?' ऐसे गुणीनय से विचार करते समय धर्मी को अन्तर में भान है कि गुणों को ग्रहण करे—ऐसा धर्म तो मेरा अपना है। धर्म को देखनेवाला नय, वह वर्तमान ज्ञान है; वर्तमान द्वारा त्रिकाली स्वभाव को देखना, धर्म द्वारा धर्मी को लक्ष्य में लेना, वह नय का फल है। मुख्य ध्येय तो अखण्डानन्द ध्रुव चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा है; उसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन, उसी के अवलम्बन से सम्यग्ज्ञान, उसी के अवलम्बन से सम्यक्चारित्र, और उसी के अवलम्बन से पूर्ण वीतरागता तथा केवलज्ञान है। चाहे जिस नय से, चाहे जिस धर्म का वर्णन हो, किन्तु इस मूल ध्येय को लक्ष्य में रखकर ही सारी बात है।

गुणीनय से ऐसा कहा है कि गुरु के पास से गुणों को ग्रहण करे—ऐसा गुणग्राही धर्म हैं;—किन्तु वह धर्म किसका ?—गुरु का या आत्मा का ?—वह धर्म आत्मा का ही है, इसलिए उसमें भी आत्मा की ओर ही देखना आया। कथन भले ही निमित्त से हो, किन्तु दृष्टि में तो धर्मी को शुद्धचैतन्यद्रव्य का ही आश्रय होता है। गुणीनय के दृष्टान्त में शिक्षक द्वारा कुमार को शिक्षा देना कहा है, किन्तु वह शिक्षा लेनेवाला तो कुमार है न ? कुमार में वह ग्रहण करने की शक्ति है; उसी प्रकार सिद्धान्त में भी समझना चाहिए कि—गुरु सिखलाते हैं और शिष्य तदनुसार गुणों को ग्रहण करता है, वहाँ गुणों को ग्रहण करने का धर्म शिष्य का है। शिष्य ही अपनी शक्ति से गुरु का उपदेश झेलकर गुणग्रहण करता है। किसी भी नय से आत्मा के धर्म को देखें तो वहाँ एक धर्म को पृथक् करके देखने का ध्येय नहीं है, किन्तु शुद्धचैतन्यस्वरूप निज आत्मा दिखायी देता है।

श्रीगुरु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जैसी शिक्षा देते हैं, वैसा ही ग्रहण करे, ऐसा आत्मा का एक धर्म है; वह धर्म देखनेवाले को भी धर्मी ऐसे आत्मद्रव्य सन्मुख देखना रहता है। निमित्त का भेदज्ञान कराया है, किन्तु वह धर्म तो आत्मा का अपना है।

विकल्प के समय गुणीनय से शिष्य ऐसा कहता है कि इन गुरु के पास से गुण ग्रहण किये। अब ऐसे विकल्प के समय भी उस विकल्प को या निमित्त को ग्रहण नहीं करता, किन्तु उस समय भी विकल्प और निमित्त दोनों के साक्षी रहने का धर्म जीव में है; उसका वर्णन अब 'अगुणीनय' से करते हैं।

— इस प्रकार यहाँ ३६वें गुणीनय से आत्मा का वर्णन हुआ। ●●

(37)

अगुणीनय

अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ३७।

आत्मद्रव्य अगुणीनय से केवल साक्षी ही है (-गुणग्राही नहीं है), जिसे शिक्षक के द्वारा शिक्षा दी जा रही है] ऐसे कुमार को देखनेवाले पुरुष (-प्रेक्षक) की भाँति। ३७.

यहाँ जो 'अगुणीनय' कहा, वह दोषसूचक नहीं है किन्तु आत्मा के साक्षीपने का सूचक है। गुरु के पास से ज्ञान प्राप्त करूँ—ऐसा निमित्त की ओर का विकल्प आये, किन्तु वह विकल्प ही करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। विकल्प और वाणी दोनों के साक्षीरूप रहने का आत्मा का धर्म है। भगवान या सन्तों की वाणी झेलकर आत्मा गुण ग्रहण करता है—ऐसा कहनेवाला गुणीनय भी आत्मा को ही बतलाता है; और आत्मा किसी अन्य के पास से नहीं सीखता, वह तो साक्षीरूप से दृष्टा ही है—ऐसा कहनेवाला, यह अगुणीनय भी आत्मा को ही बतलाता है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि को झेलकर पात्र जीव सम्यग्दर्शनादि प्राप्त कर लेते हैं, गणधरदेव बारह अंगों की रचना करते हैं; तो क्या वहाँ आत्मा ने पर से गुण ग्रहण किये ?—नहीं; उस समय भी साक्षी रहने का आत्मा का स्वभाव है। दिव्यध्वनि का भी साक्षी, गुरु के उपदेश का भी साक्षी, उस समय जो विकल्प वर्त रहा हो, उसका भी साक्षी—ऐसा आत्मा का धर्म है। कहीं पर में से गुणों की प्राप्ति होगी—ऐसा धर्मी नहीं मानता और न पर के लिये विकल्प उठता है। विकल्प के समय भी उसे अपने साक्षी स्वभाव की प्रतीति है। साक्षीपना और गुणग्राहीपना दोनों धर्म आत्मा में एक साथ हैं। सम्यक्नय की विवक्षा से देखने पर परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को साथ रहने में कोई विरोध नहीं आता, किन्तु यथार्थ वस्तुस्वरूप सिद्ध होता है। नयों की विवक्षा उलझन का कारण नहीं है, किन्तु उलझन मिटाकर ज्ञान की स्पष्टता का कारण है।

❀ अनन्त धर्मों स्वरूप आत्मद्रव्य है;

❀ अनन्त नयों स्वरूप श्रुतज्ञानप्रमाण है;

❀ उस श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मद्रव्य प्रमेय होता है।

❀ अनन्त धर्मों को जाननेवाले अनन्त नय हैं।

❀ चैतन्यमूर्ति आत्मद्रव्य की पहिचान कराने के लिये यहाँ कुछ नयों से उसके धर्मों का वर्णन किया है।

❀ उनमें इस ३७ वें 'अगुणीनय' से आत्मा के साक्षीधर्म का वर्णन चल रहा है।

जिस प्रकार शिक्षक द्वारा कुमार को शिक्षा दी जाती हो और उस समय दूसरा आदमी वहाँ खड़ा-खड़ा देख रहा हो, उसमें कुमार तो शिक्षण ग्रहण करनेवाला है और दूसरा आदमी तो उसका साक्षी ही है। कुमार को आये तो खुशी होती है और न आये तो उलझन में पड़ जाता है, ऐसा नहीं, किन्तु जो मध्यस्थरूप से देखनेवाला है, वह तो साक्षी ही है। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा साक्षीरूप से देखनेवाला है। विकल्प उठने से गुरु आदि निमित्त पर लक्ष्य जाता है, तब गुणग्राही कहा,—ऐसा एक धर्म है, और विकल्परहित मात्र—शुद्धज्ञानचेतनारूप रहे, ऐसा साक्षी स्वभाव भी आत्मा में है। 'गुणग्राही' में किंचित् विकल्प है और साक्षीपने में विकल्प नहीं है। वाणी का साक्षी, विकल्प का साक्षी, सारे जगत का साक्षी—ऐसा आत्मा का स्वभाव है।

(१) यहाँ जो साक्षीपना कहा है, वह गुणग्राहीपने के सामने कहा है।

(२) अब ३९ वें नय में साक्षीपना कहेंगे, वह राग के कर्तृत्व सामने (समक्ष) साक्षीपना कहेंगे।

(३) ४१ वें नय में हर्ष-शोक के भोक्ता सन्मुख का साक्षीपना कहेंगे।

—इस तरह तीन प्रकार से आत्मा का साक्षीपना कहेंगे।

देखो, आत्मा का साक्षी स्वभाव! निमित्त का साक्षी, कर्म के उदय का साक्षी, शरीर पर घोर उपसर्ग आ पड़े, उसका भी साक्षी, अल्प राग या द्वेष हो, उसका भी साक्षी;—इस प्रकार सारे जगत का साक्षी रहने का स्वभाव है, कहीं उथल-पुथल करने का स्वभाव नहीं

है। राग की पर्याय का क्रम बदल दूँ—यह बात भी साक्षीपने में नहीं रहती। अहो! ऐसे साक्षी स्वभाव का स्वीकार करके, साक्षीरूप से जैसा है, वैसा देख। कहीं फेरफार नहीं हो सकता; तू फेरफार करने का अभिप्राय करेगा तो तेरा ज्ञान मिथ्या होगा। पर में तो तू फेरफार नहीं कर सकता, किन्तु अपनी पर्याय में फेरफार करके उसे भी आगे-पीछे नहीं कर सकता; क्योंकि जो पर्याय हुई है, वह बदल नहीं सकती और जो नहीं हुई है, उसमें भी फेरफार नहीं हो सकता; इसलिए तू साक्षीरूप से प्रेक्षक ही रह! ऐसा साक्षीपना कहकर यहाँ आत्मा का शुद्धचेतनास्वभाव बतलाया है।

अगुणीनय से आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि दूसरे के पास से गुणग्रहण नहीं करता, किन्तु साक्षीरूप से ही रहता है। गुणीनय से गुणग्रहण का विकल्प हो, किन्तु उस विकल्प के समय भी धर्मी को ऐसे साक्षीस्वभाव का भान वर्तता है; इसलिए उसके विकल्प की मुख्यता नहीं है किन्तु साक्षी-स्वभाव की ही मुख्यता है; उसकी पर्याय में प्रतिक्षण साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है और विकल्प टूटता जाता है। साधक के 'अगुणीनय' सदैव नहीं होता, किन्तु साक्षीपने का परिणमन तो सदैव प्रवर्तमान ही है। 'नय' तो तभी होते हैं, जब उस ओर उपयोग को लगाये।

— इस प्रकार ३७ वें अगुणीनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(अब, साधक की पर्याय में कुछ रागादि होते हैं, उतना राग का कर्तृत्व है और स्वभाव की मुख्यता में उसी समय उसका साक्षीपना हैं—इन दोनों धर्मों का वर्णन ३८-३९ वें नयों में करेंगे।)

(38)
कर्तृनय

कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादि-परिणामकर्तृ ३८।

आत्मद्रव्य कर्तृनय से, रंगरेज की भाँति, रागादि परिणाम का कर्ता है (अर्थात् आत्मा कर्तानय से रागादिपरिणामों का कर्ता है, जैसे रंगरेज रंगने के कार्य का कर्ता है।) ३८.

'मैं अनन्त गुण का पिण्ड शुद्ध चिदानन्दस्वभाव हूँ, मेरे शुद्ध चैतन्य द्रव्य में राग का अंश भी नहीं है, इसलिए राग का कर्तृत्व मेरे स्वरूप में नहीं है'—ऐसी अन्तर स्वभाव की दृष्टिपूर्वक पर्याय में जो अल्प राग होता है, उसे साधक जीव अपना परिणमन जानता है, उसे कर्तृनय होता है। रागरहित चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि छोड़कर अकेले राग के कर्तृत्व में ही रुके, उसे यह कर्तृनय नहीं होता। पर का कर्ता हो, ऐसा कोई धर्म तो आत्मा में तीन काल में नहीं है और परवस्तु जीव को रागादिरूप परिणमित करे—ऐसा धर्म भी आत्मा में या परवस्तु में नहीं है।

यहाँ तो यह बात है कि जीव की पर्याय में जो राग होता है, उसका कर्ता कौन? वह जीवद्रव्य का परिणमन है; इसलिए जीव उसका कर्ता है—ऐसा कर्तृनय से जानना चाहिए। कर्म के उदय से जीव को विकार होता है—ऐसा शास्त्र में निमित्त से कथन भले हो, किन्तु वहाँ शुभाशुभ विकार होने का पर्याय-धर्म किसमें है?—विकाररूप से कौन परिणमित होता है? आत्मा स्वयं पर्याय में विकाररूप परिणमित होता है, इसलिए आत्मा का ही वह धर्म है, उसका कर्ता आत्मा है, किन्तु जड़ कर्म नहीं है। यह साधक के नय की बात है। सिद्ध भगवान को राग भी नहीं है और नय भी नहीं है। जिसे अभी पर्याय में राग होता है—ऐसा साधक जीव कर्तृनय से ऐसा जानता है कि यह जो राग होता है, उसका कर्ता मैं हूँ, कोई दूसरा उसका कर्ता, प्रेरक या करानेवाला नहीं है; और न मेरे त्रिकाली चैतन्यस्वभाव में इस राग का कर्तृत्व है।—ऐसा जानना, वह अनेकान्त है।

समयसार के परिशिष्ट में जो ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, वे तो त्रिकाली स्वभावरूप धर्म हैं; वहाँ भी ४२ वीं शक्ति में 'कर्तृत्वशक्ति' का वर्णन किया है। वह कर्तृत्वशक्ति तो सर्व जीवों में है; सिद्ध में भी वह कर्तृत्व है। और यहाँ कर्तृनय से जिस कर्तृत्व का वर्णन किया है, उसमें तो राग के कर्तृत्व की बात है; वह त्रिकाली स्वभावरूप धर्म नहीं है, किन्तु क्षणिक पर्याय का धर्म है; वह पर्याय आत्मा की है; इसलिए उसे आत्मा का धर्म कहा जाता है।

प्रश्नः—राग करना तो दोष है, तथापि यहाँ उसे आत्मा का धर्म क्यों कहा?

उत्तरः—वह आत्मा के त्रिकाली स्वभावरूप धर्म नहीं है और वह मोक्षमार्गरूप धर्म भी नहीं है, किन्तु राग, आत्मा की पर्याय में होता है, उसे जबतक अपनी पर्याय में धारण कर रखे, तब तक वह आत्मा का अपना धर्म है और उसका कर्ता आत्मा है। अपनी पर्याय में होता है, इसलिए उसे अपना धर्म कहा है; वह त्रिकाल नहीं किन्तु क्षणिकपर्याय जितना है। कर्तृनय से इस राग के कर्तृत्व को जाननेवाला वास्तव में तो उसका साक्षी ही रहता है; क्योंकि राग के क्षणिक कर्तृत्व के समय ही दूसरे अनन्त धर्मों का शुद्धचैतन्यपिण्ड आत्मा है, उसकी दृष्टि में राग की मुख्यता नहीं रहती।

शुभ या अशुभभाव उनके अपने काल में होते हैं, उनका काल बदलता नहीं है—ऐसा जानकर उनका ज्ञाता रहा अर्थात् उस राग में न अटककर शुद्धचैतन्य स्वभाव की ओर ढल गया, वहाँ वे रागादि घटते जाते हैं। यदि शुभ-अशुभ को बदलने की बुद्धि करे तो मिथ्यात्व होता है, किन्तु शुद्धचैतन्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर उसका साक्षी रहा, वहाँ वह राग टूटता ही जाता है। राग होता है, उतनी अपनी पर्याय की योग्यता है; इसलिए वह भी अपना धर्म है। यहाँ प्रमाण के विषयरूप सामान्य-विशेषतात्मक द्रव्य बतलाना है, किन्तु उन दोनों पक्षों को जानने से ज्ञान की वृत्ति त्रिकाली शुद्ध द्रव्य की ओर ढलती है और पर्याय में से राग का कर्तृत्व दूर होता है।

राग का कर्ता, वह व्यवहार है और राग का अकर्ता अर्थात् साक्षी, वह निश्चय है।

प्रश्नः—पहला व्यवहार या निश्चय?

उत्तरः—साधक को दोनों एक साथ हैं, किन्तु उनमें मुख्यता निश्चय की है और

गौणता व्यवहार की। स्वभावदृष्टि के कारण साधक को पर्याय में राग का कर्तृत्व टलता जाता है और साक्षीपना बढ़ता जाता है–ऐसा जानना।

आत्मा में अनन्त धर्म हैं, उनमें एक कर्ता नाम का धर्म है, इसलिए आत्मा रागादि के कर्तारूप से परिणमित होता है, किन्तु कोई पर उसे राग कराता है—ऐसा नहीं है। कर्म आत्मा को विकार कराते हैं—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने कर्तृत्वधर्म को नहीं जाना है; इसलिए कर्तृत्वधर्मवाले आत्मा को ही नहीं जाना।

प्रश्नः—रागादि का कर्ता होने का आत्मा का धर्म हो तो वे कैसे दूर होंगे? आत्मा सर्दव रागादि ही करता रहेगा?

उत्तरः—नहीं, ऐसा नहीं है। यह धर्म अनादि-अनन्त नहीं है, किन्तु साधकदशा जितना ही है। और, ऐसा धर्म है—यह जान ले तो आत्मद्रव्य को भी जान ले और रागादि का साक्षी हो जाए। आत्मा वर्तमान पर्याय में रागादिरूप होता है—इस प्रकार जिसने आत्मा के धर्म द्वारा उसे जाना, उसकी दृष्टि एक गुण पर न रहकर अनन्त गुण के पिण्ड शुद्धचैतन्य द्रव्य पर जाती है और राग का भी साक्षी हो जाता है। जो राग के कर्तृत्वरूप क्षणिक धर्म को जान ले, वह त्रिकाली धर्मी को भी जानता है और त्रिकाली द्रव्य में तो राग का अकर्तृत्व है, उसकी मुख्यता से अल्प काल में ही राग का कर्तृत्व दूर हो जाता है। पर्याय में राग हो, तभी तक का यह धर्म है—ऐसा समझना। उसके बाद कर्तृनय भी नहीं रहता और राग का कर्तृत्व भी नहीं रहता।

जिस प्रकार रंगरेज रंगाई-काम करनेवाला है, उसी प्रकार आत्मा स्वयं पर्याय में जब तक राग से रँगता है, तब तक वह राग का कर्ता है—ऐसा उसका कर्तृधर्म है।—किन्तु इस धर्म को माननेवाले की दृष्टि कहाँ होती है? अनन्त धर्मात्मक शुद्धचैतन्यद्रव्य पर उसकी दृष्टि होती है।

'सिद्धभगवान के कर्म नहीं है, इसलिए उन्हें विकार नहीं होता और संसारी के कर्म का उदय है; इसलिए उसे विकार होता है; इसलिए कर्म के उदयानुसार विकार होता है'—ऐसा कोई माने तो वह बात बिल्कुल झूठ है। यदि उदय अनुसार ही विकार हो तो तीव्र में से मन्द मिथ्यात्व करना भी जीव के हाथ में नहीं रहता; अशुभ को बदलकर शुभ करना

भी जीव के हाथ में नही रहता। अरे! अनादि निगोद में से निकलकर त्रसपर्याय प्राप्त करना नहीं रहता क्योंकि निगोद के जीव को तो सदैव स्थावरनामकर्म का उदय वर्तता है, इसलिए वह निगोद से निकलकर कभी त्रस हो ही नहीं सकता! इसलिए उदयानुसार जीव को विकार होता है—यह मान्यता तो महान विपरीत है। 'तीव्र मिथ्यात्व का उदय होगा तो मुझे तीव्र मिथ्यात्व करना ही पड़ेगा'—ऐसा मिथ्यात्व का जोर उसके अभिप्राय में विद्यमान है। यहाँ भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं कि कर्म के उदयानुसार विकार नहीं होता, किन्तु जीव के कर्तृधर्म अनुसार विकार होता है, अर्थात् जीव स्वयं अपने राग परिणाम का कर्ता है। कर्म विकार कराते हैं, यह बात तो है ही नहीं; और 'मैं राग का कर्ता हूँ'—इस प्रकार अकेले राग की ओर देखकर मान लेने की भी यह बात नहीं है; यहाँ तो, साधक जीव ने अनन्त धर्मवाले शुद्धचैतन्यद्रव्य को जाना है और उस द्रव्य की दृष्टिपूर्वक पर्याय के राग का ज्ञान करता है, उसकी यह बात है। शुद्धचैतन्यद्रव्य पर ही उसकी दृष्टि का जोर होने से उसके अल्प काल में विकार का परिणमन दूर होकर दिव्य महिमावान् केवलज्ञान प्रगट हो जाएगा।

यथार्थनय से धर्म को देखने पर उसके आधाररूप धर्मी भी दृष्टि में आता है, इसलिए स्वभावोन्मुखता होकर अल्प काल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहती;—इस प्रकार सम्यक्नयों का फल मोक्ष है।

'कर्तृनय से आत्मा विकार का कर्ता है'—ऐसा कहा, तथापि मात्र विकार की ओर देखकर यह धर्म नहीं माना जाता, किन्तु आत्मद्रव्य की ओर देखकर उसे जाना जाता है; क्योंकि यह धर्म आत्मा से बाहर नहीं है; इसलिए यह धर्म माननेवाले को बाह्य में देखना नहीं रहता। विकार का परिणमन पर के कारण नहीं होता किन्तु आत्मद्रव्य का वैसा कर्तृधर्म है-ऐसा नयज्ञान से देखने पर, ज्ञान आत्मोन्मुख होता है और वहाँ राग के कर्तृत्व की मुख्यता नहीं रहती, किन्तु परिपूर्ण द्रव्य की मुख्यता हो जाती है। इस प्रकार शुद्धस्वभाव की ओर दृष्टि रखकर पर्याय में राग के कर्तृत्व का ज्ञान करे, उसी को 'कर्तृनय' होता है। दूसरे को कर्तृनय नहीं होता। 'नय' है, वह सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य की किरण है; अज्ञानी के नय नहीं होते।

कर्तृनय से भी आत्मा, शरीरादि पर का कर्ता तो है ही नहीं, मात्र अपनी पर्याय में

रागादि का कर्ता है; और वह कर्तृत्व भी त्रिकाली स्वभाव नहीं है; जब तक रागरूप से परिणमित होता है, तभी तक उसमें कर्तृत्व है; और उस समय भी स्वभावदृष्टि में तो शुद्धचेतना का ही कर्तृत्व वर्तता है। कर्तृनय से आत्मा को देखे, उसे भी ऐसा नहीं लगता कि मेरा आत्मा सदैव रागादि का ही तो कर्ता रहेगा! कर्तृनयवाले को भी प्रतिक्षण पर्याय में से राग का कर्तृत्व कम होता जाता है और साक्षीपने में वृद्धि होती जाती है। इस समय राग का कर्ता है, ऐसे मेरे आत्मा का एक धर्म है;—इस प्रकार कर्तृनय से देखनेवाला भी धर्म द्वारा धर्मी ऐसी शुद्ध चैतन्यवस्तु को अंतर में देखता है; इसलिए कर्तृनय का फल राग का कर्ता रहना नहीं है, किन्तु शुद्धचैतन्यद्रव्य के अवलम्बन से राग दूर हो जाए, वह कर्तृनय का फल है।

प्रश्नः—समयसार में तो ऐसा कहा है कि आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, वह राग का कर्ता नहीं है, राग का कर्ता तो पुद्‌गल है; और यहाँ ऐसा कहा है कि राग का कर्तृत्व, वह आत्मा का धर्म है;—तो इन दो कथनों का मेल किस प्रकार है ?

उत्तरः—समयसार में द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से राग को पुद्‌गल का कार्य कहा, और यहाँ प्रमाण के विषय में पर्याय का ज्ञान कराने के लिये उसे आत्मा का कार्य कहा है, तथापि उसमें परस्पर विपरीतता नहीं है, दोनों का तात्पर्य एक ही है। 'राग का कर्ता आत्मा नहीं है'—ऐसा कहकर समयसार में शुद्धद्रव्यदृष्टि कराने का तात्पर्य है; और यहाँ भी, 'कर्तृनय से राग का कर्ता आत्मा है'—ऐसा कहकर उस धर्म द्वारा भी धर्मी ऐसे शुद्ध चैतन्यद्रव्य का ही लक्ष्य कराने का तात्पर्य है। शास्त्रों की कथनशैली में अन्तर भले हो, किन्तु उनके फल में अन्तर नहीं है; फल तो यही है कि अन्तर में शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की प्राप्ति हो। यहाँ कर्तृनय से आत्मा को राग का कर्ता कहा, उसमें भी राग के कर्तृत्व में रोक रखने का आशय नहीं है, किन्तु उस धर्म के धारक ऐसे त्रिकाली आत्मद्रव्य की पहिचान कराके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कराने का ही प्रयोजन है।

'कर्तृनय से रागादि का कर्ता है।'

— कौन ?

— आत्मद्रव्य !

— इसलिए कर्तृनय से देखनेवाले की दृष्टि किस ओर गयी ?

— अनन्त धर्मोंवाले आत्मद्रव्य की ओर उसकी दृष्टि गयी।

— यह बात तो पहले से ही वजनपूर्वक कहते आये हैं कि अनन्त धर्मों के पिण्ड ऐसे शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को देखना ही इन सब नयों का परमार्थ तात्पर्य है। जहाँ शुद्ध आत्मद्रव्य को दृष्टि में लिया, वहाँ राग के कर्तृत्व में वृद्धि हो—ऐसा नहीं होता; अल्प काल में ही राग का परिणमन छूट जाता है।

कर्तृनय से आत्मा को राग का कर्ता माना, इसलिए अब वह आत्मा अनादि-अनन्त राग का कर्ता ही रहेगा—ऐसा नहीं है क्योंकि इस धर्म को देखनेवाला भी अकेले धर्म को ही नहीं देखता, किन्तु धर्मी ऐसे शुद्ध आत्मा को देखता है और शुद्ध आत्मा को देखनेवाला राग में नहीं अटकता, अर्थात् 'मैं रागरूप ही रहूँगा'—ऐसी प्रतीति वह नहीं करता, उसे तो निःशंकता है कि मैं अपने शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप से परिणमित होकर अल्प काल में ही इस राग का अभाव कर दूँगा। इस समय रागरूप से जितना परिणमन है, उतना मेरा धर्म है (—राग से जीव को धर्म होता है—ऐसा यहाँ नहीं समझना चाहिए, किन्तु राग, वह जीव का भाव है, आत्मा स्वयं ही रागरूप परिणमित हुआ हैं, इसलिए उसे आत्मा का धर्म कहा है—) ऐसा धर्मी जानता है, किन्तु मैं सदैव रागरूप ही परिणमित होता रहूँगा—ऐसा वह नहीं देखता; वह तो अन्तर में निज आत्मद्रव्य को शुद्ध चैतन्यमात्र देखता है, उसके निकट उसे राग की अत्यन्त तुच्छता भासित होती है, इसलिए राग दूर हो ही जाता है।

'आत्मा को राग का कर्तृत्व स्वीकार करने से तो वह अनादि-अनन्त हो जाएगा!— इसलिए कर्म को ही राग का कर्ता कहो'—ऐसा किसी को विचार आये तो वह मिथ्या है, कर्तृनय के अभिप्राय को वह समझा ही नहीं है। हे भाई! कर्तृधर्म किसका है?— आत्मद्रव्य का है। वह आत्मद्रव्य कैसा है?—अनन्त धर्म के पिण्डरूप शुद्धचैतन्यमात्र है। ऐसे आत्मद्रव्य की दृष्टिपूर्वक जिसने कर्तृनय से राग का कर्तृत्व जाना, उसके राग की वृद्धि नहीं होती, किन्तु स्वभावदृष्टि के बल से वह कम ही होता जाता है।

अब कोई ऐसा कहे कि—'कर्म आत्मा को विकार नहीं कराते, किन्तु कर्तृनय से आत्मा विकार करता है—ऐसा हमने मान लिया!'—तो उससे पूछते हैं कि हे भाई! तेरी

दृष्टि कहाँ है ? किसके सामने दृष्टि स्थिर करके तू कर्तृधर्म को स्वीकार करता है ? विकार पर तेरी दृष्टि है या आत्मद्रव्य पर ? विकार पर दृष्टि रखने से आत्मा के धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं होता—आत्मद्रव्य पर दृष्टि रखने से ही उसके धर्म का यथार्थ ज्ञान होता है, इसलिए कर्तृनय से राग का कर्तृत्व जाननेवाले की दृष्टि भी शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही होती है और शुद्ध आत्मा पर दृष्टि हो, उसके विकार का कर्तृत्व दूर होकर अल्प काल में वीतरागता हुए बिना नहीं रहती। इस प्रकार अनन्त धर्म के पिण्डरूप शुद्ध आत्मद्रव्य को दृष्टि में रखकर समझे, तभी सर्व कथनों का यथार्थ तात्पर्य समझ में आता है।

— इस प्रकार यहाँ ३८ वें कर्तृनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(39)

अकर्तृनय

अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ३९।

आत्मद्रव्य अकर्तृनय से केवल साक्षी ही है (-कर्ता नहीं), अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज को देखनेवाले पुरुष (प्रेक्षक) की भाँति। ३९.

आत्मद्रव्य अकर्तृनय से मात्र साक्षी ही है; जिस प्रकार रंगरेज अपनी रँगाई में प्रवृत्त हो और उसे कोई दूसरा पुरुष देख रहा हो; वहाँ वह देखनेवाला पुरुष यह जानता है कि रँगाई कैसे हो रही है, किन्तु वह उसका कर्ता नहीं है—साक्षी ही है। उसी प्रकार अकर्तृनय से आत्मा रागादि का कर्ता नहीं है, किन्तु साक्षी है।

यहाँ पर की बात नहीं है; पर का तो आत्मा अकर्ता ही है और अपनी पर्याय में राग होता है, उसका भी अकर्ता-साक्षी ही है—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। राग के समय भी उसके अकर्तारूप स्वभाव आत्मा में विद्यमान है। पहले राग के कर्तारूप धर्म कहा और यहाँ राग के अकर्तारूप धर्म कहा है; वे दोनों धर्म कहीं पृथक्-पृथक् आत्माओं के नहीं है; एक आत्मा में वे दोनों धर्म एक साथ वर्तते हैं। जिस समय पर्याय में राग है, उसी समय द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखें तो ज्ञायकस्वभावरूप आत्मा, रागादिरूप से परिणमित ही नहीं हुआ है।

यह आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है। आत्मा अनन्त धर्म के स्वभाववाला शुद्धचैतन्यस्वरूप है; उसकी दृष्टिपूर्वक इन धर्मों का ज्ञान करना, वह नय है।

समयसार में ऐसा कहा है कि अज्ञानदशा में मिथ्यादृष्टि जीव, राग का कर्ता होता है और भेदज्ञान होने पर सम्यग्दृष्टि जीव, रागादि का अकर्ता है;—यहाँ ऐसी शैली नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव भी पर्याय में जो राग होते हैं, उसका कर्ता है और उसी समय उसका अकर्ता भी है—ऐसे दोनों धर्म उसमें एक साथ हैं।

जिस समय कर्तृनय से ज्ञानी, पर्याय के राग का कर्तृत्व जानता है, उस समय भी उसकी दृष्टि में आत्मा का शुद्धचैतन्यस्वभाव विद्यमान है, इसलिए राग का अकर्तृत्व भी उसके वर्तता है। विकार मेरा अंश है। वह अंश है, किन्तु पूर्ण अंशी नहीं है; पूर्ण अंशी तो अनन्त धर्मी का चैतन्यपिण्ड है—ऐसा जिसने जाना, वह शुद्धचैतन्यस्वभाव की प्रधानता में राग का साक्षी ही रहता है, उसे अकर्तृनय होता है। समस्त धर्मों के आधाररूप ऐसे निज आत्मद्रव्य पर दृष्टि रखकर धर्मी जीव उसके धर्मों को जानता है;—अकर्तृनय से आत्मा को राग का अकर्ता-साक्षी स्वरूप भी जानता है और कर्तृनय से राग परिणामों का कर्ता भी जानता है;—किन्तु दृष्टि में तो शुद्धचैतन्य द्रव्य की ही प्रधानता होने से पर्याय में से राग का कर्तृत्व छूटता जाता है और साक्षीपने में वृद्धि होती जाती है।

रँगाई का काम करनेवाले रंगरेज को अच्छा काम होने से राग और बुरा काम होने से द्वेष होता है, किन्तु जो मध्यस्थरूप से देखनेवाला है, उसे कुछ नहीं होता; वह तो मात्र साक्षीरूप से देखता ही है। उसी प्रकार आत्मा में एक ऐसा अकर्ता स्वभाव है कि वह राग का कर्ता नहीं होता, किन्तु साक्षी ही रहता है। जिस समय जैसा राग हो, उस समय उसका वैसा ही ज्ञान करता है; किन्तु इस समय अमुक ही प्रकार का राग उत्पन्न करूँ—ऐसा अभिप्राय नहीं करता; इसलिए साक्षी ही रहता है। कर्तृनय से राग का कर्ता और उसी समय अकर्तृनय से उसका साक्षी—इस प्रकार दोनों धर्मों को एक साथ धारण करनेवाला आत्मा अनेकान्तस्वभावी है। ऐसे धर्मों द्वारा आत्मा को जानने से वीतरागी दृष्टि होने का प्रसंग आता है—मात्र राग के कर्तृत्व में अटकने का प्रसंग नहीं रहता।

एक आत्मा में एक साथ अनन्त धर्म विद्यमान हैं। जिस क्षण वह पर्याय में रागरूप परिणमित होता है, उसी क्षण द्रव्यस्वभाव से रागरूप परिणमित नहीं होता। आत्मा रागरूप परिणमित होता ही नहीं—इस प्रकार सर्वथा एकान्त शुद्ध माने तो अज्ञानी है; और सर्वथा रागरूप परिणमित होनेवाला ही माने, किन्तु राग के अकर्तारूप रहने का जो साक्षी स्वभाव है, उसे न जाने तो वह भी अज्ञानी ही है। धर्मी साधक जानता है कि पर्याय में राग का परिणमन है और उसी क्षण स्वभावदृष्टि से मैं रागरूप परिणमित नहीं होता, इसलिए उस क्षण भी वीतरागी साधकदशा के परिणमन में वृद्धि होती जाती है। जिस क्षण रागपरिणाम का कर्तृत्व जानता है, उसी क्षण स्वभाव के आधार से राग के अकर्तारूप वीतरागी साक्षीपना

भी बढ़ता ही जाता है; यदि राग के कर्तृत्व के समय ही उसके अकर्तारूप वीतरागी परिणमन न वर्तता हो तो साधकपना ही नहीं रहेगा।

प्रश्न:—सैंतीसवें नय से भी साक्षीधर्म का वर्णन किया और इस उन्तालीसवें नय से भी;—तो उनमें अन्तर क्या?

उत्तर:—सैंतीसवें नय में गुणग्राहीपने का जो विकल्प है, उसके समक्ष साक्षीपना कहा है; यहाँ उन्तालीसवें नय में राग के कर्तृत्व के समक्ष साक्षीपना कहा; और अभी इकतालीसवें नय में भी साक्षीपना कहेंगे; वहाँ हर्ष-शोक के भोक्तृत्व के समक्ष साक्षीपना कहा है। इस प्रकार ३७, ३९ और ४१ वें नय में कहे हुए तीनों साक्षी धर्मों में विवक्षाभेद है, किन्तु तात्पर्य तो तीनों का एक ही है।

(१) गुणग्राहीपने के विकल्प के समय भी शुद्धस्वभाव की दृष्टि से साधक जीव को साक्षीपने में वृद्धि होती जाती है, इसलिए विकल्प की मुख्यता नहीं होती।

(२) उसी प्रकार राग का कर्तृत्व जानते समय भी शुद्धस्वभाव की दृष्टि के कारण साधक जीव को साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है, इसलिए राग की मुख्यता नहीं होती।

(३) चालीसवें नय में हर्ष-शोक का भोक्तृत्व कहेंगे; उसे जानते समय भी साधन को स्वभावदृष्टि के कारण साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है, इसलिए उसे हर्ष-शोक के भोक्तृत्व की मुख्यता नहीं होती।

नयों में मुख्य-गौण होता है, किन्तु परिणमन में मुख्यता-गौणता नहीं है; अर्थात् कर्तानय और अकर्तानय—ऐसे दो नय एक साथ उपयोगरूप नहीं होते, किन्तु उन दोनों के विषयरूप धर्म एक साथ वर्तते हैं। साधक जब कर्तृनय से राग के कर्तृत्व को देखता है, उस समय भी अकर्ता साक्षीभावरूप वीतरागी अंश का परिणमन तो वर्त ही रहा है; उस समय भले ही अकर्तानय उपयोगरूप न हो किन्तु साक्षीधर्म तो है ही। सम्यग्दृष्टि को शुभाशुभराग के समय भी उसके अकर्तृत्व का परिणमन तो हो ही रहा है। ऐसा परिणमन कब होता है? त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी द्रव्य, राग का अकर्ता और पर्याय में क्षणिक राग का कर्तृत्व-दोनों का यथार्थ ज्ञान करके, पर्याय ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुई, वहाँ उसके आश्रय से अकर्तारूप परिणमन प्रारम्भ हुआ और राग का कर्तृत्व छूटने लगा। दृष्टि में से

तो राग का कर्तृत्व सर्वथा छूट गया है, किन्तु परिणमन में राग का कर्तृत्व क्रमशः छूटता है; वहाँ साधक के नय होते हैं। किन्तु सर्वथा राग के कर्तृत्व में ही रहे और अकर्तृत्व—साक्षीपना किंचित् न रखे, तो वह जीव एकान्तदृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि है; उसे एक भी नय सच्चा नहीं होता। 'कर्तृनय से राग का कर्ता है'—ऐसा नय भी उसके सच्चा नहीं है क्योंकि एक नय के समय दूसरे नय की विवक्षा का ज्ञान भी साथ हो, तभी वह नय सम्यक् है।

आत्मा रागरूप से परिणमित होता है, वह पृथक् धर्म है और रागरूप परिणमित नहीं होता —ऐसा दूसरा धर्म है; उसमें से राग के कारण नहीं, किन्तु राग के अकर्ता धर्म के कारण आत्मा निश्चयरत्नत्रयरूप से परिणमित होता है, इसलिए व्यवहाररत्नत्रय के राग द्वारा निश्चयरत्नत्रय प्राप्त हो, यह बात नहीं रहती, क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय का राग तो कर्ताधर्म में जाता है और निश्चयरत्नत्रय तो राग के अकर्ता धर्मरूप है; इसलिए वे दोनों पृथक् हैं। आत्मा के अनन्त धर्म हैं, वे पर के कारण से तो नहीं है और स्वयं में भी एक धर्म के कारण से दूसरा धर्म नहीं है।

कर्तृनय से आत्मा को राग का कर्ता कहा था, वहाँ जितना राग है, उतना बाधकपना है किन्तु साथ ही साथ साधकत्व—राग का अकर्तृत्व बना ही है। राग का कर्तृत्व बाधकपने में जाता है और उसी समय चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से राग के साक्षीपनेरूप साधकत्व है, और वहीं ऐसे नय होते हैं। अकेले बाधकपने में नय नहीं होते और साध्य पूर्ण सिद्ध हो जाए, वहाँ भी नय नहीं होते। साधकत्व में नय होते हैं, उन नयों द्वारा साधक जीव वस्तु की साधना करता है।

वस्तु अनन्त धर्मवाली है, वे उस वस्तु की अपेक्षा से समस्त धर्म सापेक्ष हैं और धर्म की अपेक्षा से प्रत्येक धर्म निरपेक्ष है, अर्थात् एक धर्म दूसरे धर्म के कारण नहीं है। यदि धर्मों में परस्पर ऐसी निरपेक्षता न हो तो अनन्त धर्म सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिए वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी। राग के कर्तृत्वरूप जो धर्म है, उसके कारण कहीं अकर्तृत्वरूप धर्म नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र हैं। आत्मा रागरूप परिणमित होता है, वह कर्ता धर्म और उसी समय जितना रागरहित ज्ञायक साक्षीरूप परिणमित होता है, वह अकर्ता धर्म है। एक साथ ही दोनों का स्वतन्त्र परिणमन हो रहा है।

वस्तु के परिणाम उससे पृथक् नहीं होते। जिस क्षण रागपरिणाम होते हैं, उस क्षण आत्मा उनका कर्ता है; देव-गुरु के कारण या कर्मोदय आदि निमित्तों के कारण वह राग नहीं हुआ है, और उस राग के कर्तृत्व के कारण अकर्ता धर्म (सम्यग्दर्शनादि) नहीं होता। केवली-श्रुतकेवली के निकट क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है, वह कहीं निमित्त के धर्म के कारण या राग के कारण नहीं होता, किन्तु अपने राग के अकर्तारूप स्वभाव से होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने से पूर्व जितनी मलिनता थी, उतना कर्ताधर्म था और क्षायिक सम्यक्त्व की निर्मलता होने से वह मलिनता दूर होकर अकर्तारूप साक्षीपने का परिणमन हुआ। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होने से शुद्धता हुई और कुछ अंशों में मलिनता भी रही—वे दोनों जीव के धर्म हैं; किन्तु उनमें शुद्धता के कारण मलिनता या मलिनता के कारण शुद्धता नहीं है। राग के परिणमन के समय ही साधक को ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से राग के अकर्तारूप परिणमन भी साथ ही है। यदि राग के समय उसके अकर्तारूप साक्षीधर्म का परिणमन न हो तो उस जीव को शुद्धद्रव्यस्वभाव का ज्ञान नहीं है; और वह साधक नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है—ऐसा जानना।

आत्मा, पर की क्रिया का तो साक्षी है और शुभाशुभराग होता है, उसका भी साक्षी है। राग के समय मेरा ज्ञायकस्वभाव इस राग से भिन्न है—ऐसा जिसे ज्ञान हो, वही ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से राग का साक्षी रह सकता है। मिथ्याज्ञानी तो एकान्त पर की ओर तथा राग की ओर ही देखनेवाला है; उसे साक्षीपने का भान नहीं है; इसलिए उसके नय नहीं होता। साधक अपने आत्मा की ओर दृष्टि रखकर राग का साक्षी रहता है, उसके यह नय होता है। राग होता है, वह पर्याय का स्वभाव है; जिस पर्याय में राग होता है, उसी पर्याय का वह स्वभाव है; दूसरी पर्याय में उसका अभाव है; वह आत्मा का स्थायी स्वभाव हो तो कभी दूर नहीं हो सकता, किन्तु क्षणिक पर्याय का धर्म होने से वह दूर हो सकता है। राग को क्षणिक पर्याय का धर्म कहने से उसमें यह बात आ गयी कि पर के या कर्मोदय के कारण राग नहीं हुआ है,—जो जिसका धर्म हो, वह दूसरी वस्तु के कारण नहीं हो सकता। पर्याय में राग और उसी समय उसका साक्षीपना—यह दोनों धर्म साधक को एक साथ वर्तते हैं, तथापि एक के कारण दूसरा धर्म नहीं है।

'राग है, इसलिए उसे जानता है?'—नहीं; राग के कारण साक्षीपना नहीं है,

साक्षीपना तो एक स्वतन्त्र स्वभाव है।

जो जीव मोक्षमार्ग की साधना करता है, उसकी यह बात है। यदि मात्र परोन्मुखता ही हो तो राग के साथ एकमेकपने का मिथ्यात्व है; वहाँ साक्षीपना नहीं है; इसलिए उसके नय नहीं हैं। जिस समय राग हो, उसी समय राग से पृथक् रहकर उसके साक्षीपनेरूप परिणमित होता है—ऐसा साधक का धर्म है। उसमें राग के कारण साक्षीपना नहीं है। यदि एक धर्म दूसरे धर्म के कारण हो तो उस धर्म की हीनता होती है अर्थात् वह धर्म स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होता। वस्तु की अपेक्षा से देखने पर सभी धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, किन्तु प्रत्येक धर्म स्वयं अपने से है।

जिस प्रकार—एक आत्मा अपनेरूप है और पररूप नहीं है—ऐसा अन्तर कब ज्ञात होता है ?—कि मेरे धर्म मुझमें और पर के धर्म पर में,—इस प्रकार दोनों के धर्मों की पृथक्ता निश्चित् करे तो दोनों के बीच अन्तर पड़े; वस्तु के धर्म उसे पर से भिन्न बतलाते हैं, किन्तु मेरे धर्म पर के कारण और पर के धर्म मेरे कारण—ऐसा जो मानता है, उसे दो वस्तुओं के बीच अन्तर नहीं पड़ता।

उसी प्रकार—एक वस्तु के दो धर्मों के बीच अन्तर कब पड़ता है ?—कि दोनों को एक दूसरे से स्वतन्त्र जाने तो; वस्तु में एक साथ अनेक धर्म हैं किन्तु उनमें एक धर्म के कारण दूसरा धर्म नहीं है। आत्मा एक साथ अनन्त धर्मोंवाला है; उसके बदले अकेले राग के कर्तृत्व को ही देखे और साक्षीरूप अकर्ता स्वभाव को न देखे तो उसने आत्मा की ओर देखा ही नहीं—एकान्त राग की ओर देखा है; इसलिए उसे चैतन्यस्वरूप आत्मा की सिद्धि नहीं होती।

नय सम्यग्ज्ञान का अंश है। राग के कर्तृत्व को जाननेवाला जो ज्ञान का अंश है, वह भी राग का साक्षी ही रहता है। वह ज्ञान, राग के साथ एकमेक नहीं हो जाता, किन्तु उससे भिन्न ही रहता है; और उसी समय राग के अकर्तारूप निश्चयस्वभाव का भान भी साथ ही वर्तता है। इस प्रकार साधक को निश्चय-व्यवहार दोनों एक साथ होते हैं। पहले व्यवहार और फिर निश्चय-ऐसा नहीं है। क्षणिक पर्याय में राग का कर्ता है, वह व्यवहार और त्रिकाली स्वभाव से राग का अकर्ता है, वह निश्चय;—वे दोनों अपने-अपने कारण एक

समय में ही हैं। कोई ऐसा कहे कि—पहले व्यवहार परिणमित होता है और फिर व्यवहार, निश्चय का कारण होता है, तो वह बात बिल्कुल मिथ्या है। राग के कर्तारूप व्यवहार के समय ही यदि अकर्तास्वभाव का भान न वर्तता हो तो उसे राग के साथ एकत्वबुद्धि होने से मिथ्यात्व है, उसकी दृष्टि एकान्त राग पर पड़ी है, इसलिए उसका भी नय सच्चा नहीं है। मात्र राग का कर्ता होकर कर्ताधर्म और अकर्ताधर्म (साक्षीधर्म) को नहीं जाना जा सकता; किन्तु स्वयं शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करके राग का अंशत: अकर्ता हुआ है और अभी अंशत: राग का कर्तृत्व भी है—ऐसे साधक को दोनों धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है।

यह बात किसे समझाते हैं ? जिस शिष्य ने जिज्ञासापूर्वक पूछा कि प्रभो ! आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?—उसे यह समझाया जा रहा है। जिसे आत्मा को समझने की जिज्ञासा नहीं है—रुचि नहीं है, वह तो यह बात सुनने के लिये खड़ा भी नहीं रहेगा। 'प्रभो ! आत्मा का स्वरूप क्या है ? उसका अनुभव कैसे होता है ?'—ऐसे विनयपूर्वक पूछनेवाले शिष्य को आत्मा समझने की जिज्ञासा है, सच्चे गुरु की श्रद्धा है, कुदेवादि की मान्यता छूट गयी है, स्वर्गादि की प्राप्ति कैसे हो—उसकी भावना नहीं है, किन्तु आत्मा के आनन्द का अनुभव कैसे हो, वही भावना है। ऐसे सुपात्र जीव को आचार्यदेव यहाँ आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। इस उपदेशानुसार आत्मा का स्वभाव समझकर वह जीव साधक हुए बिना नहीं रहेगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि देख भाई ! पर्याय में जिस क्षण राग होता है, उसी क्षण उससे अधिक रहकर साक्षीरूप रहने का तेरा स्वभाव है। राग का कर्तृत्व तो क्षणपर्यन्त है, वह तेरा स्थायी स्वभाव नहीं है। तू तो अनन्त धर्म के पिण्डरूप शुद्धचैतन्यद्रव्य है। 'कर्तृनय से राग के कर्तृत्व का धर्म कहा, इसलिए जैसा राग होना होगा, वैसा होता रहेगा'—इस प्रकार एकान्त राग को ही देखे और उसी समय अनन्त धर्मों का पिण्ड आत्मा है, उसे न देखे तो वह एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि है। उसे कर्तृनय की भी खबर नहीं है। जो अनन्त धर्मों के चैतन्यपिण्डरूप आत्मस्वभाव को देखता है, वह जीव मात्र राग में नहीं अटकता। कर्तृनय से राग के कर्तृत्व को जानता अवश्य है किन्तु उसी में अटक नहीं जाता। जिस क्षण राग होता है, उसी क्षण स्वद्रव्योन्मुखता से वह राग से अधिक होकर साक्षीरूप से परिणमित होता है;—इस प्रकार साधक को दोनों धर्म एक साथ परिणमित होते हैं, किन्तु

उसमें साक्षीपने की वृद्धि तो होती ही जाती है और राग कम होता रहता है। अल्प काल में ही उसके कर्तृधर्म दूर हो जाता है और साक्षात् अकर्ता साक्षीस्वरूप हो जाता है। समयसार के परिशिष्ट में जो ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, उनमें अकर्तृत्वशक्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि आत्मा ज्ञातृत्व के सिवा रागादि परिणामों का कर्ता नहीं होता—ऐसी उसकी अकर्तृत्वशक्ति है।

यहाँ ३८ वें तथा ३९ वें नय से कर्ताधर्म और उसके समक्ष अकर्तारूप साक्षीधर्म का वर्णन किया; उसी प्रकार अब ४०-४१ वें नय से भोक्ताधर्म तथा उसके समक्ष अभोक्तारूप साक्षीधर्म का वर्णन करेंगे।

— इस प्रकार ३९ वें अकर्तृनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(40)

भोक्तृनय

भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत् सुखदुःखादिभोक्तृ ४०।

आत्मद्रव्य भोक्तृनय से सुखदुःखादि का भोक्ता है, हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति। [आत्मा भोक्तानय से सुखदुःखादि को भोगता है, जैसे हितकारक या अहितकारक अन्न को खानेवाला रोगी सुख या दुःख को भोगता है।] ४०.

जिनके भावलिंगी मुनिदशा वर्तती थी और अन्तर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करते थे, प्रतिक्षण और प्रतिपल निर्विकल्प होकर आत्मा के आनन्दस्वरूप में झूलते थे—ऐसे दिगम्बर सन्तों का यह कथन है। जो जिज्ञासु शिष्य पात्र होकर समझना चाहता है, उसके लिये यह कथन है। यहाँ ४७ नयों से आत्मा के धर्मों का वर्णन हो रहा है। जिसे अन्तर्मुख आत्मस्वभाव के अवलम्बन से सम्यक्भावश्रुतज्ञान हुआ हो, उसी को सच्चे नय होते हैं।

भोक्तृनय से आत्मा सुख-दुःख का उपभोग करता है। हर्ष, वह सुख और शोक, वह दुःख—इस प्रकार यहाँ सुख और दुःख दोनों विकार हैं। जिस प्रकार रोगी हितकारी-अहितकारी अन्न खाता है और उसके फलरूप साता-असाता भोगता है, उसी प्रकार आत्मा हर्ष-शोक के विकारी परिणाम करता है और उनके फलरूप सुख-दुःख का उपभोग करता है। कर्म के उदय के कारण हर्ष-शोक का उपभोग होता है—ऐसा नहीं है, किन्तु जीव की पर्याय में वैसा भोक्ता धर्म है। जड़कर्म का कोई धर्म आत्मा में नहीं है और आत्मा का कोई धर्म जड़धर्म के कारण नहीं है। जो कर्म के उदय के कारण हर्ष-शोक होना मानता है, उसने आत्मा का धर्म पर के कारण माना है, इसलिए वास्तव में उसने आत्मा को नहीं जाना है; और आत्मा की पर्याय में हर्ष-शोक का भोक्तृत्व सर्वथा है ही नहीं—ऐसा माने तो उसने भी आत्मा के भोक्ताधर्म को नहीं माना है; वह भी मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा का भोक्ता धर्म पर के कारण नहीं है और न आत्मा पर का उपभोग करता है, किन्तु अपनी अवस्था में होनेवाले हर्ष-शोक को भोगे—ऐसा उसका एक धर्म है।

कोई कहता है कि आत्मा की पर्याय में हर्ष-शोक का उपभोग क्यों होता है?—क्या कर्मोदय के कारण होता है? तो यहाँ उसका उत्तर कहते हैं कि—आत्मा में वर्तमान में वैसा ही भोक्ताधर्म है, वह किसी अन्य के कारण नहीं है। और पूछे कि ऐसा धर्म क्यों हुआ? तो कहते हैं कि—जिस प्रकार आत्मा सत् है, उसी प्रकार उसके धर्म भी सत् हैं। पर्याय में भी प्रत्येक समय का सत्पना है। सत् के सम्बन्ध में 'ऐसा क्यों?'—ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता।

यहाँ प्रमाण के विषयरूप वस्तु का वर्णन है, इसलिए द्रव्य तथा पर्याय दोनों के धर्मों का वर्णन लिया है। इन धर्मों में कुछ धर्म तो त्रिकाल हैं और कुछ धर्म त्रिकाल नहीं हैं; किन्तु अमुक पर्यायपर्यन्त ही हैं। किन्तु त्रिकाली धर्म हो या पर्यायपर्यन्त धर्म हो—वह प्रत्येक धर्म आत्मा का ही है, कोई भी धर्म पर के कारण नहीं है।

जब द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से आत्मा का वर्णन चलता हो, तब ऐसा कहा जाता है कि आत्मा अपने शान्त-अनाकुल अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव का ही भोक्ता है, विकार का भोक्ता नहीं है। सम्यग्दर्शन में तो शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति है, उसके ध्येय में विकार नहीं है; त्रिकाल एकरूप चैतन्यस्वभाव को ही वह स्वीकार करता है, किन्तु उस सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान-प्रमाण है, वह सामान्य-विशेषरूप वस्तु को जानता है, पर्याय की अशुद्धता को भी वह आत्मा की जानता है; पर्याय में जो हर्ष-शोकरूप विकार होता है, उसका भोक्ता भी आत्मा है—ऐसा सम्यग्ज्ञानी भोक्तृनय से जानता है। सामान्य ध्रुवचैतन्य स्वभाव शुद्ध है, उसके निर्णयपूर्वक का सम्यग्ज्ञान हर्षादि भावों के वेदन को भी अपनी पर्याय के धर्मरूप जानता है। स्वभावदृष्टि की प्रधानता में तो विकार, वह कर्म का ही कार्य है; आत्मा का कार्य नहीं है—ऐसा भी कहा जाता है, किन्तु प्रमाणज्ञान उस पर्याय को अपनी जानता है। भोक्तृनय से आत्मा ही विकार का भोक्ता है—ऐसा सम्यग्ज्ञान जानता है।—इस प्रकार जहाँ पर जो बात जिस रूप से कही हो, वहाँ वैसा समझना चाहिए। विकार जड़ का है—ऐसा कहनेवाले की दृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वभाव पर होना चाहिए। मात्र जड़ पर या विकार पर ही दृष्टि रखकर विकार को जड़ कहे और अपनी पर्याय का

विवेक भी न करे तो उसका ज्ञान ही मिथ्या है। शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्याय गौण हो जाती है, किन्तु ज्ञान तो द्रव्य और पर्याय दोनों को विषय करके यथावत् जानता है; पर्याय में जो विकार है, उसे भी जानता है और अविकारी स्वभाव को भी जानता है।—इस प्रकार दोनों को जानकर शुद्धनय के अवलम्बन के बल से वह स्वभाव को साधता जाता है और विकार को टालता जाता है।

द्रव्यकर्म तो जड़ है, आत्मा से पृथक् है; आत्मा उसका उपभोग नहीं करता, किन्तु अपनी पर्याय में हर्ष-शोक का उपभोग करे—ऐसा आत्मा का भोक्ताधर्म है। उस भोक्ताधर्म को जाननेवाला ज्ञानी ऐसा जानता है कि—इस हर्ष-शोक को भोगने का मेरा त्रिकाली धर्म नहीं है, किन्तु क्षणिकपर्याय का धर्म है; मेरा त्रिकाली स्वभाव तो चैतन्य ज्ञाता है—ऐसे भान में अल्प भोक्तापने के साथ उसका साक्षीपना भी साथ ही वर्तता है। ज्ञानी को भी हर्ष-शोक होता है, किन्तु वह हर्ष-शोक के उपभोग के समय ही ज्ञातास्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का अनुभव वर्तता है; इसलिए उस हर्ष-शोक के साक्षीपनेरूप अभोक्ताधर्म का परिणमन भी वर्त रहा है।

आत्मा ही अपने धर्मों का स्वामी है और पर अपने धर्मों का स्वामी है। आत्मा के धर्मों का स्वामी कोई पर नहीं है और पर के धर्मों का स्वामी आत्मा नहीं है। आत्मा को अपने धर्मों के साथ ही 'स्व-स्वामी सम्बन्ध' है, पर के साथ उसे स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के धर्मों का स्वामी वह स्वयं है और जड़ कर्म के धर्मों का स्वामी जड़ है, कोई एक-दूसरे का स्वामी नहीं है।

भोगावली कर्म के तीव्र उदय के कारण जीव को चारित्र से भ्रष्ट होकर भोगों में रुक जाना पड़ता है—ऐसा अज्ञानी जीव मानते हैं। भाई! भोगवली कर्म तो जड़ है, वह आत्मा से पृथक् है, उसका स्वामी जड़ है, आत्मा उसका भोक्ता नहीं है।

भोक्तृनय से आत्मा हर्ष-शोकरूप अपने परिणामों का कर्ता है;—इस प्रकार जो आत्मा के भोक्ताधर्म को जाने, उसकी दृष्टि कर्म के सन्मुख नहीं होती, किन्तु अपने आत्मा के सन्मुख होती है। स्वभाव से च्युत होकर वह पर-सन्मुख नहीं देखता, इसलिए भोग की तीव्र आसक्ति के परिणाम तो उसके होते ही नहीं; द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता से उसे भोगों की रुचि छूट गयी है। अस्थिरता के कारण जो हर्ष-शोक के परिणाम होते हैं, वे अत्यन्त

अल्प हैं और चैतन्यस्वभाव की ही अधिकता है। आत्मा के धर्मों की सच्ची पहिचान होने के पश्चात् भी ज्यों के त्यों तीव्र विषय-भोग के परिणाम बने रहे—ऐसा कदापि नहीं होता। आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद जाना, वहाँ इन्द्रिय विषयों की अत्यन्त तुच्छता भासित हुए बिना नहीं रहती। इस प्रकार साधक को पर्याय में से हर्ष-शोक का भोक्तृत्व क्रमश: दूर होता जाता है और अनाकुल शान्ति का वेदन बढ़ता जाता है—ऐसा भोक्तृनय का फल है।

सर्वज्ञ की श्रद्धा कहो, क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो, आत्मा के धर्मों की पहिचान कहो, या कोई भी न्याय लो—उन सबमें वस्तु की एक ही अखण्ड शृंखला है अर्थात् सब का सार तो चैतन्यद्रव्य की सन्मुखता में ही आकर खड़ा हो जाता है। चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता के बिना सर्वज्ञ की श्रद्धा सच्ची नहीं होती, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा भी सच्ची नहीं होती और कोई भी नय अथवा न्याय सच्चा नहीं होता। सम्यक्त्वी भले ही अपनी पर्याय में हर्ष-शोक के भोक्ताधर्म को देखे, तथापि वह अपने शुद्ध-चैतन्य के सन्मुख दृष्टि रखकर उस धर्म को जानता है; इसलिए उसके भोक्तृनय की प्रधानता नहीं रहती, किन्तु शुद्धचैतन्यस्वभाव की ही प्रधानता रहती है। पर के भोक्तृनय की तो मान्यता ही उसके नहीं है। जिसे पर के भोक्तृनय की मान्यता है, उसका आत्मा के धर्मसन्मुख लक्ष्य ही नहीं है। पर से भिन्न आत्मा के धर्मों का उसे भान नहीं है।

आत्मा क्या वस्तु है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है; इसलिए उसे एकान्त मिथ्याज्ञान है। वह दूर होकर अनेकान्तस्वरूप प्रमाणज्ञान कैसे हो, उसकी यह बात है। प्रमाणज्ञान अर्थात् जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ज्ञान करना। मिथ्याज्ञान का विषय झूठा है अर्थात् उसका विषय ही जगत में नहीं है। अज्ञानी जैसा मानता है, वैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, और वस्तु का स्वरूप जाने बिना नयज्ञान भी सच्चा नहीं होता। जैसा पदार्थ का स्वरूप हो, वैसा ही जाने, वह सम्यग्ज्ञान है; इसलिए सम्यग्ज्ञान का विषय सच्चा है। जहाँ वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान हो, वहीं सच्चे नय होते हैं।

यहाँ भोक्तृनय से आत्मा को हर्ष-शोक का भोक्ता कहा है; वहाँ उतना ही आत्मा मान ले और अनन्त धर्म के पिण्डस्वरूप चैतन्यवस्तु है, उसे न पहिचाने तो उसने आत्मा का स्वरूप नहीं जाना है और न उसके धर्म को भी जाना है। साधक सम्यग्ज्ञानी तो पूर्ण चैतन्यवस्तु के ज्ञानपूर्वक भोक्ताधर्म को उसके एक क्षणिक अंशरूप जानता है, इसलिए

हर्ष–शोक के भोक्तृत्व के समय अभोक्तारूप साक्षीधर्म भी उसके साथ ही है। यदि भोक्ता के समय ही अभोक्ताधर्म न वर्तता हो और मात्र हर्ष–शोक का भोक्तृत्व ही एकान्त वर्त रहा हो, तो वहाँ अनन्त धर्मस्वरूप आत्मवस्तु दृष्टि में नहीं आयी, इसलिए एकान्त मिथ्यात्व हो गया; वहाँ भोक्तानय भी नहीं होता। हर्ष–शोक के क्षणिक उपभोग को जानते हुए, जिसके अभोक्तारूप साक्षी–स्वभाव का भान भी वर्तता है—ऐसे ज्ञानी के ही भोक्तानय होता है। भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व दोनों धर्म आत्मा में एक साथ हैं, उन्हें जाने तो अनेकान्त हो और उस अनेकान्तपूर्वक ही नय होते हैं।

भोक्तृनय से भी आत्मा संयोग का भोक्ता नहीं है, किन्तु अपने में जो हर्ष–शोक हो, उसका भोक्ता है। धर्मी जानता है कि मेरी पर्याय में यह जो क्षणिक हर्ष–शोक का वेदन होता है, वह दु:खदायक है, उतना ही मैं नहीं हो सकता। मैं तो नित्य अनन्त गुणों का चैतन्य पिण्ड हूँ। सिद्धभगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का सागर हूँ। बाह्य में सुन्दर आहारादि अनुकूल सामग्री हो, उसका वेदन आत्मा को नहीं है और शरीर में तीव्र रोग आदि प्रतिकूलता हो, उसका वेदन भी उसे नहीं है; संयोगों के कारण आत्मा को सुख–दु:ख का वेदन नहीं है। स्वर्ग की इन्द्राणी आये, उसके कारण आत्मा को हर्ष या सुख नहीं है और व्याघ्री आकर शरीर को फाड़ खाये तो उसके कारण उसे शोक या दु:ख नहीं है।

आत्मा किन्हीं संयोगों के कारण सुख–दु:ख का उपभोग नहीं करता, किन्तु अपने भोक्तृधर्म से सुख–दु:ख को भोगता है; अपनी पर्याय का ऐसा धर्म है कि हर्ष–शोकरूप सुख–दु:ख का उपभोग करता है। साधक धर्मात्मा को भी यह धर्म लागू होता है, क्योंकि उसके भी अभी पर्याय में हर्ष–शोक के भावों का अल्प वेदन होता है। किन्तु जो ऐसे भोक्ताधर्म को यथार्थस्वरूप से जानता है, उसे अनन्त धर्मों के आधाररूप शुद्धचैतन्यद्रव्य का सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए क्षणिक विकार का वेदन और त्रिकाली शुद्धचैतन्यस्वभाव—दोनों का भेदज्ञान उसे वर्तता है। पर्याय में हर्ष–शोक होते हैं, वहाँ वह जानता है कि मेरा परिपूर्ण चैतन्य तत्त्व इस हर्ष–शोक के वेदन जितना नहीं है और किसी निमित्त या संयोग के कारण भी मुझे हर्ष–शोक नहीं हुआ है, किन्तु मेरी अपनी पर्याय के भोक्ताधर्म के कारण हर्ष–शोक का वेदन होता है; वह भोक्ता–धर्म भी मेरा है।

'सुख–दु:ख का उपभोग करना, वह शरीरधर्म है'—ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं,

किन्तु शरीर तो जड़ है, उसके कहीं सुख-दु:ख का उपभोग नहीं होता; सुख-दु:ख का उपभोग करे, ऐसा आत्मा का एक धर्म है।

प्रश्न—भोक्तृनय से आत्मा सुख-दु:ख का उपभोग करे, ऐसा उसका भोक्ताधर्म है, तब फिर वह सुख-दु:ख के (हर्ष-शोक के) उपभोग रहित कैसे हो सकता है?

उत्तर—यह बात कर्ताधर्म के वर्णन में विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है, तदनुसार इस भोक्ताधर्म में भी समझना चाहिए। विकार का कर्ता-भोक्तारूप धर्म अनादि-अनन्त नहीं है, किन्तु अमुक अवस्थापर्यन्त ही है। पुनश्च, आत्मा का ऐसा धर्म है—इस प्रकार जाने तो आत्मद्रव्य को भी जाने और सुख-दु:ख का साक्षी हो जाए तथा हर्ष-शोक का भोक्तृत्व उसके क्रमशः दूर होता जाए। भोक्तृनय से हर्ष-शोक का भोक्तृत्व कहा, वह तो एक धर्म है, उस धर्म को देखनेवाले की दृष्टि अकेले धर्म पर नहीं होती, किन्तु धर्मी ऐसे चैतन्यद्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है, इसलिए शुद्धद्रव्य पर दृष्टि के बल से अल्प काल में वह हर्ष-शोक के भोक्तृत्व से रहित हो जाता है; फिर उसके ऐसा भोक्ताधर्म नहीं रहता, किन्तु अतीन्द्रिय आत्मिक सुख का ही उपभोग रहता है।

परवस्तु का उपभोग तो अज्ञानी भी नहीं करता, किन्तु पर में सुख-दु:ख की कल्पना करके, मात्र हर्ष-शोक का ही वह उपभोग करता है; और ज्ञानी तो अनन्त धर्मात्मक आत्मद्रव्य को देखता हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द के उपभोगसहित 'पर्याय में हर्ष-शोकरूप सुख-दु:ख का मैं भोक्ता हूँ'—इस प्रकार भोक्ताधर्म को जानता है; इसलिए उसके हर्ष-शोक के उपभोग का साक्षीपना साथ ही रहता है।

अज्ञानी पर्यायदृष्टि से मात्र हर्ष-शोक के उपभोग को ही देखता है; इसलिए उसके साक्षीपना नहीं रहता। ज्ञानी पर्याय पर दृष्टि रखकर भोक्ताधर्म को नहीं देखते, किन्तु शुद्धद्रव्य पर दृष्टि रखकर उसे जानते हैं; इसलिए उनकी दृष्टि में भोक्तापने की मुख्यता नहीं हुई, किन्तु शुद्ध आत्मद्रव्य की ही मुख्यता हुई; शुद्ध आत्मा की मुख्यता में हर्ष-शोक का भोक्तापना दूर होता जाता है।

भोगावली कर्म के उदय से आत्मा गिरता है—यह बात तो कहीं दूर रही, किन्तु अपने में मात्र हर्ष-शोक के वेदन को ही देखे तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है। आत्मा का

भोक्ताधर्म पर के कारण नहीं है। भोक्ताधर्म को देखे, उसे आत्मा दृष्टिगोचर होता है और वहाँ भोक्तृत्व अधिक काल तक बना रहता है—ऐसा नहीं होता। परिपूर्ण आत्मा को न देखकर जो मात्र भोक्तृत्व को ही देखता है, वह तो हर्ष-शोक का भोक्ता ही होकर संसार की चार गतियों में परिभ्रमण करता है, उसके भोक्तानय नहीं होता।

'जितने प्रमाण में कर्म का उदय आये, उतने प्रमाण में एकबार तो उसमें युक्त होना ही पड़ता है'—ऐसा जो मानता है, वह तो तीव्र मूढ़ता का सेवन करता है; परसन्मुखता से किंचित्मात्र हटकर आत्मा की ओर देखने का उसे अवकाश नहीं है। जीव ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर निचले गुणस्थान में आता है, वह अपनी ही पर्याय के वैसे धर्म के कारण आता है, जड़कर्म के कारण नहीं। कर्मादि पर की ओट लेकर जो भोक्तृत्व मानता है, वह तो अज्ञानी है। मैं शुद्धचिदानन्दमूर्ति अनन्त धर्मों का पिण्ड हूँ—इस प्रकार स्वद्रव्य-सन्मुख देखकर उसकी ओट में ज्ञानी अपने भोक्ताधर्म को भी जानता है और ऐसे ज्ञानी को भोक्तृत्व (हर्ष-शोक का वेदन) अति अल्प होता है। धर्मी जानता है कि मेरी पर्याय में ही हर्ष-शोक का भोक्तृत्व है, वह पर के कारण नहीं, किन्तु मेरी पर्याय में वैसा भोक्ताधर्म है। मैं उस भोक्ताधर्म जितना ही नहीं हूँ, किन्तु अनन्त धर्म का पिण्ड हूँ—इस प्रकार द्रव्य को देखनेवाला धर्मात्मा साक्षी रहकर अल्पकाल में भोक्तृत्व टालकर वीतरागी हो जाएगा।

किसी भी नय से आत्मा को जाननेवाला स्वसन्मुख देखता है और तभी उसका नय सच्चा है। नय तो सम्यक् श्रुतज्ञान का पक्ष है, वह साधक के ही होता है। नय ज्ञान से आत्मा के धर्म को जाननेवाला किसके सन्मुख देखेगा? कर्म के सन्मुख या आत्मा के? सर्व नय आत्मसन्मुख देखकर ही उस धर्म को स्वीकार करते हैं; परसन्मुख देखकर आत्मा के धर्म का यथार्थ स्वीकार नहीं हो सकता। भोक्तानय आत्मा के भोक्ताधर्म को स्वीकार करता है, वह किसके समक्ष देखकर करता है? आत्मा की ओर देखकर उसके भोक्ताधर्म को जाननेवाला साधक जीव, स्वभाव के अवलम्बन से वह भोक्तृत्व दूर करके अल्प काल में परमानन्द का उपभोग प्रगट करके सिद्धपरमात्मा हो जाएगा।—ऐसा इस भोक्तृनय का परमार्थ फल है।

— इस प्रकार यहाँ ४० वें भोक्तृनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(41)
अभोक्तृनय

अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ४१।

आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है, हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य की भाँति।[आत्मा अभोक्तानय से केवल साक्षी ही है-भोक्ता नहीं; जैसे सुख-दु:ख को भोगनेवाले रोगी को देखनेवाला वैद्य, वह तो केवल साक्षी ही है।] ४१.

आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से सुख-दु:खादि का उपभोक्ता नहीं है, किन्तु मात्र साक्षी ही है। हितकारी-अहितकारी अन्न खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य की भाँति। जिस प्रकार रोगी सुख-दु:ख का उपभोग करता है, किन्तु वैद्य तो उसका साक्षी ही है; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में हर्ष-शोकरूपी जो रोग है, उसका ज्ञानी भोक्ता नहीं है, किन्तु साक्षी ही है। ऐसे साक्षीधर्म से आत्मा को लक्ष्य में लेने का नाम अभोक्तृनय है।

भोक्तृनय और अभोक्तृत्व, दोनों धर्म आत्मा में एक साथ ही हैं। शुद्धचैतन्यमूर्ति आत्मा अनन्त धर्मों को धारण करनेवाला है, वह भोक्तानय से हर्ष-शोक का भोक्ता भी है और उसी समय अभोक्तानय से उसका साक्षी भी है। शरीरादिक परवस्तु का भोक्ता तो भोक्तानय से भी नहीं है; भोक्तानय से हर्ष-शोक का भोक्तृत्व है और अभोक्तानय से तो उस हर्ष-शोक का भोक्तृत्व भी आत्मा के नहीं है; आत्मा तो साक्षीस्वरूप है। ज्ञाताभाव से पृथक् जो रागादि विकारी परिणाम हैं, आत्मा उनके उपभोग से रहित है—ऐसी अभोक्तृत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है; उसका वर्णन समयसार के परिशिष्ट में वर्णित ४७ शक्तियों में किया है। आत्मा के ऐसे अभोक्तास्वभाव की प्रतीति करने से, साधक को पर्याय में शोक का अल्प उपभोग होने पर भी उसके साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है। एक आत्मा

भोक्ताधर्मवाला और दूसरा अभोक्ताधर्मवाला—ऐसा नहीं है; उसी प्रकार एक आत्मा में कभी भोक्ताधर्म और कभी अभोक्ताधर्म, ऐसी भिन्नता भी नहीं है; एक आत्मा में दोनों धर्म एक साथ ही हैं। (यह साधक की बात है, इसलिए साधक को भोक्तृत्व के साथ अभोक्तृत्व वर्तता है—ऐसा समझना)। पर्याय में हर्ष-शोक का भोक्तृत्व और उसी समय उसका अभोक्तृत्व;—इस प्रकार दोनों धर्मों से आत्मद्रव्य को पहिचाने तो मात्र हर्ष-शोक के वेदन में न रुककर ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर हर्ष-शोक का साक्षी हो जाए, और हर्ष-शोक से पार ऐसे चैतन्यस्वभाव के आनन्द का वेदन प्रगट हो—उसका नाम धर्म है।

भोक्तृनय से आत्मा को हर्ष-शोक का भोक्ता कहा, उसका तात्पर्य भी द्रव्यस्वभावोन्मुख होकर ज्ञाता-दृष्टा रहना है; भोक्तानय का प्रयोजन कहीं हर्ष-शोक के उपभोग में ही अटक जाना नहीं है क्योंकि भोक्तृनय के समय भी आत्मा में कहीं मात्र भोक्ताधर्म ही नहीं है, उसी समय अभोक्ताधर्म भी आत्मा में है। आत्मा के अभोक्ताधर्म को जाननेवाला अल्प हर्ष-शोकादि का भी ज्ञाता रहकर अभोक्ता रहता है; हर्ष-शोक के उपभोग में वह एकाकार नहीं होता। हे भाई! ऐसे धर्मों से तू अपने आत्मद्रव्य को देख! आत्मा की ओर लक्ष्य करने से तेरा स्वभाव जो ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वरूप शुद्धचैतन्य मात्र है, वह तुझे भासित होगा और उसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म होगा।

जिसने शरीर को धर्म का साधन माना है, उसे शरीर पुष्ट होने पर हर्ष और शरीर में रोगादि होने पर शोक होता है; तथा वह हर्ष-शोक के वेदन में ही लीन होकर आत्मा को चूक जाता है। शरीर से धर्म माना, इसलिए शरीर के ही अस्तित्व में अपना अस्तित्व मान लेता है और उसी के लक्ष्य से मात्र हर्ष-शोक के उपभोग में ही वह लीन हो जाता है, किन्तु साक्षीरूप से नहीं रहता। हर्ष-शोक के वेदन के समय भी आत्मा में उसके साक्षीपनेरूप अभोक्ताधर्म है; भोक्तृत्व के क्षण ही अभोक्तास्वभाव विद्यमान है—ऐसा जो जानता है, उसे साधकत्व हुए बिना नहीं रहता; उसे पर्याय में भी अंशतः साक्षीपना-अभोक्तृत्व वर्तता है।

हर्ष-शोक के वेदन के समय ही मुझमें साक्षीपना है—ऐसा जाने, तभी अनेकान्तस्वरूप वस्तु को पहिचाना है; हर्ष-शोक के समय उतना ही आत्मा को मान ले, किन्तु उसी समय आत्मा में दूसरा अभोक्तास्वभाव है, उसे न पहिचाने तो उसने अनेकान्तरूप वस्तु को नहीं

जाना है; किन्तु उसे एकान्तरूप माना है; वह मिथ्यात्व है और जो पर के कारण आत्मा में हर्ष-शोक होना मानता है, अथवा आत्मा, पर का उपभोग करता है—ऐसा मानता है, वह तो महान मिथ्यात्व है।

(१) शरीर के रोगादि के कारण आत्मा हर्ष-शोक का उपभोग करता है—ऐसा हो तो भोक्ताधर्म आत्मा का नहीं रहा किन्तु पर का हो गया। और (२) हर्ष-शोक के समय यदि आत्मा उतना ही हो तो वह अनेकान्तरूप न रहा किन्तु एकान्त हर्ष-शोकरूप ही हो गया। इसलिए, (१) पर के कारण आत्मा को हर्ष-शोक का उपभोग नहीं है और (२) हर्ष-शोक के उपभोग के समय उतना ही आत्मा नहीं है। आत्मा एक समय में अनन्त धर्म का पिण्ड है; उसके आश्रय से साधक को हर्ष-शोक के समय भी उस हर्ष-शोक से रहित साक्षीपना वर्तता है।

देखो, यह आत्मा की प्राप्ति का पन्थ! आत्मा क्या वस्तु है, उसे पहिचाने बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिए आत्मा की पहिचान के लिये उसका यह वर्णन चल रहा है।

भवभ्रमण से थका हुआ जिज्ञासु शिष्य आत्मा को समझने के लिये श्रीगुरु के पास आकर पूछता है कि—हे प्रभो! आत्मा के भान बिना अनन्त अवतारों में भटक-भटककर मैं थक गया हूँ; हे नाथ! अब ऐसा उपाय बतलाइये कि जिससे आत्मा को समझ लूँ और भवभ्रमण से मेरा छुटकारा हो... आत्मा का यथार्थ स्वरूप मुझे समझाइये!

श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई! तू आत्मा का अर्थी होकर पूछने आया है तो हम तुझे आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। हम जो कुछ कहें, वह शान्तचित्त से धीर होकर सुन। इस बात को स्वीकार करके रुचि करने से उसमें सच्चा परिणमन हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मा के धर्मों द्वारा उसे पहिचानने की यह बात है। आत्मा के धर्मों से उसे पहिचानकर उसकी रुचि और एकाग्रता करना, वह आत्मा की आराधना का मार्ग है और वही अनादिकालीन विराधकपने के नाश का उपाय है।

जो जीव अभी साधक है, प्रमाण-नय द्वारा आत्मा की साधना करता है—ऐसे साधक को पर्याय में भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व इत्यादि अनन्त धर्मों के आधाररूप चैतन्यवस्तु को पहिचानकर जिसे प्रमाणज्ञान हुआ है, उसी को भोक्तानय तथा अभोक्तानय होते हैं।

अज्ञानी को नय नहीं होते; और जो आत्मा की साधना करके केवलज्ञान-परमात्मदशा को प्राप्त हो गये हैं, उनके भी नय नहीं होते; उन्हें अब कुछ भी साधना शेष नहीं रहा; वे तो हर्ष-शोक का भोक्तृत्व दूर करके सर्वथा अभोक्ता —साक्षीस्वरूप ही हो गये हैं और अज्ञानी एकान्त भोक्तापने में ही अटका है। साधक को अंशत: अभोक्तापना तथा भोक्तापना बना हुआ है, इसलिए वह प्रमाणपूर्वक के नयों द्वारा उसका ज्ञान करता है और शुद्ध आत्मा को साधता है। वह मात्र हर्ष-शोक के वेदन की मुख्यता नहीं होने देता, किन्तु परिपूर्ण चैतन्यवस्तु के सन्मुख होकर उसका साक्षी रहता है और उस हर्ष-शोक के वेदन को टालकर अभोक्तृत्व की वृद्धि करता जाता है।

श्रेणिक राजा क्षायिकसम्यग्दृष्टि हैं, वे इस समय नरक में हैं, वहाँ उन्हें शोक का वेदन भी होता है, तथापि उसी समय अन्तर में भान है कि—मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव है, वह हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं है। ऐसा भान होने से शोक के समय भी आत्मा की अतीन्द्रिय शान्ति के अंश का वेदन भी साथ ही वर्तता है।—ऐसी साधक की दशा है। भोक्तापना और उसी समय उसका साक्षीपना, यह दोनों यदि साथ न हों तो, या तो केवली होगा अथवा अज्ञानी होगा। केवली भगवान को हर्ष-शोक का भोक्तृत्व सर्वथा दूर होकर मात्र साक्षीपना ही रहा है। अज्ञानी को मात्र हर्ष-शोक का भोक्तृत्व वर्तता है, उसके साक्षीपना नहीं है। अज्ञानी के आत्मा में भी अभोक्तारूप साक्षीस्वभाव तो है, किन्तु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है; इसलिए उसे पर्याय में साक्षीपने का परिणमन नहीं होता। साधक जीव अभोक्ता स्वभाव को जानता हुआ हर्ष-शोक के समय भी उसके साक्षीरूप से परिणमित होता है।

— इस प्रकार यहाँ ४१ वें अभोक्तृनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

✦✦✦

आग 'क्रियानय' और 'ज्ञाननय' के प्रवचन हैं। क्रियानय और ज्ञाननय सम्बन्धी पूज्य गुरुदेव के वे प्रवचन जिज्ञासुओं को अत्यन्त उपयोगी हैं; उनके साथ-साथ पंचास्तिकाय गाथा १७२ में कहे हुए निश्चय-व्यवहार का भी मुख्य स्पष्टीकरण किया गया है।

(42)
क्रियानय

क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमुर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्य-साध्यसिद्धिः ४२।

आत्मद्रव्य क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है, खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाये, ऐसे अन्ध की भाँति।[क्रियानय से आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हो, ऐसा है; जैसे किसी अन्ध पुरुष को पत्थर के खम्भे के साथ सिर फोड़ने से सिर से रक्त का विकार दूर होने से आँखें खुल जायें और निधान प्राप्त हो, उस प्रकार।] ४२.

'आत्मद्रव्य-क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से जिसकी सिद्धि सधे-ऐसा है।' जिस प्रकार पत्थर के खम्भे पर सिर मारने से खून का विकार दूर होने के कारण किसी अन्ध पुरुष के नेत्र खुल जायें और निधानों की प्राप्ति हो, उसी प्रकार क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हो—ऐसा यह आत्मा है।

यहाँ क्रियानय में अनुष्ठान की प्रधानता कही है और अब ४३ वें ज्ञाननय में विवेक की प्रधानता रहेगी; आचार्यदेव ने इन ४२ और ४३ वें नयों में 'प्रधानता' शब्द का उपयोग किया है, वह ऐसा प्रगट करता है कि गौणरूप से दूसरा भी वर्तता है। यहाँ ४२ वें क्रियानय में अनुष्ठान की अर्थात् शुभ की प्रधानता कही है, वह ऐसा प्रगट करती है कि उसी समय सम्यग्ज्ञान का विवेक भी वर्तता है। शुभराग की प्रधानता से सिद्धि की साधना होती है—ऐसा क्रियानय से कहा; उस समय गौणरूप से शुद्धता है, उसका ज्ञान साथ ही हो, तभी क्रियानय सच्चा कहलाता है। शास्त्र में कहीं व्यवहार की प्रधानता का कथन आये, वहाँ अज्ञानी जीव उसका ऐसा विपरीत अर्थ करते हैं कि व्यवहार (शुभराग) करते-करते उसके आश्रय से परमार्थ की प्राप्ति हो जायेगी। किन्तु शास्त्र का ऐसा आशय नहीं है।

आशंका:—पंचास्तिकाय की १७२ वीं गाथा में तो ऐसा कहा है कि भिन्न साध्य-साधनरूप व्यवहार को न माने तो मिथ्यादृष्टि है—उसका क्या अर्थ?

समाधान:—साधकदशा में शुद्धता के अंश के साथ भूमिकानुसार शुभराग भी आता है, उसका वहाँ ज्ञान कराया है और उपचार से उस राग को व्यवहारसाधन कहा है। उस व्यवहार के आश्रय से निश्चय की प्राप्ति होती है—ऐसा उसका आशय नहीं है, किन्तु साधक को वे दोनों साधन एकसाथ वर्तते हैं, उसका ज्ञान कराने के लिये वह कथन है। साधक को वे दोनों वर्तते हैं—ऐसा न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है—ऐसा समझना, किन्तु रागादि व्यवहारसाधन के अवलम्बन से निश्चयसाधन की प्राप्ति हो जाएगी—ऐसा नहीं समझना चाहिए। जिसे निश्चय का भान नहीं है और भिन्न साध्य-साधन को भी स्वीकार नहीं करता, स्वच्छन्दपूर्वक पाप में वर्तता है—ऐसे जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है; और साथ ही साथ वहाँ ऐसा भी कहा है कि जो निश्चय को तो नहीं जानते, तथा मात्र व्यवहारावलम्बी हैं, वे अकेले भिन्न साध्य-साधनभाव का ही अवलोकन करनेवाले सदैव खेदखिन्न वर्तते हैं और शुभरागरूप व्यवहार साधन में ही प्रवर्तमान रहते हैं; वे जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता-परिणतिरूप ज्ञानचेतना को कभी प्राप्त नहीं कर पाते, किन्तु क्लेश की परम्परा को प्राप्त करके संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।

पंचास्तिकाय की १७२ वीं गाथा इसप्रकार है:—

तह्मा णिब्बुदिकामो, रागं सवत्य कुणदि मा किंचि।
सो तेण वीदरागो, भवियो भवसायरं तरदि।

—अर्थात् राग साक्षात् मोक्ष के अन्तरायरूप है, इसलिए जो मोक्ष के कामी हैं, वे सर्वत्र किंचित् भी राग न करें, जिससे वे भव्य वीतराग होकर भवसागर से पार हो जायें।—ऐसा कहकर वहाँ वीतरागता का ही तात्पर्य बतलाया है। मूलसूत्र में एकदम वीतरागता की बात कही है, किन्तु अभी साधक को तो राग होता है इसलिए, टीका में आचार्यदेव ने भिन्न साध्य-साधन की बात कहकर उस राग का ज्ञान कराया है। 'कहीं किंचित् भी राग न कर'—ऐसा कहा, किन्तु साधक को राग तो होता है, उसका क्या? तो कहते हैं कि उस राग को भिन्न साधन मान, अर्थात् आत्मा के वीतरागी रत्नत्रयरूप जो परमार्थ साधन है, उससे उस राग को भिन्न जान।

पहले तो, वीतरागता ही तात्पर्य है—इस बात की स्थापना करके, फिर राग का ज्ञान कराने के लिये उसे भिन्न साधन कहा है; 'भिन्न साधन' कहते ही उसमें ऐसा आ जाता है कि वह सच्चा साधन नहीं है। साक्षात् कारण तो वीतरागभाव ही है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप जो वीतरागभाव है, वही मोक्ष का कारण है; राग तो अन्तर में दाह उत्पन्न करनेवाला है। जिस प्रकार चन्दन का स्वभाव तो शीतल और सुगन्धमय है, किन्तु उसी चन्दन के वन में अग्नि का प्रवेश होने पर दाह उत्पन्न होती है; उसी प्रकार वीतरागभावरूपी जो चन्दन वन है, उसमें रागरूपी अग्नि जलन उत्पन्न करती है, इसलिए 'उत्तम पुरुषों' को चाहिए कि उस राग को तात्पर्य न मानें, किन्तु उसे हेय जानें और वीतरागभाव को ही तात्पर्य मानें। तथा वह वीतरागभाव शुद्ध आत्मद्रव्य के अवलम्बन से होता है; इसलिए शुद्ध आत्मा ही उपादेय है—ऐसा जानना। साधक को बीच में राग आये बिना नहीं रहता, किन्तु उसे भिन्न साधन कहकर स्वभाव से पृथक् बतलाया है। जो राग को तात्पर्य मानता है, वह 'उत्तम पुरुष' नहीं है अर्थात् सम्यग्दृष्टि नहीं है, किन्तु पामर—मिथ्यादृष्टि है।

चैतन्यस्वभाव की जो शान्त-अनाकुल अमृतधारा बहती है, उसमें राग का होना तो विपरीत दशा है—आकुलता है—अशान्ति है। अहो! अन्तर में वीतरागी आनन्द से परिपूर्ण चैतन्य प्रवाह बह रहा है, उसमें राग के अंश से लाभ होता है—ऐसा मानना, वह विपरीतता है। जिसने पूर्ण चैतन्य प्रवाह का अनादर करके राग का सत्कार किया, वह क्लेश प्राप्त करके संसार में ही परिभ्रमण करेगा। आत्मा के अरागी स्वभाव में जिसने राग से लाभ माना है, उसने चन्दन के वन में आग लगाने जैसा किया है। राग को व्यवहारसाधन कहा है, किन्तु कब? तो कहते हैं कि अन्तर में निश्चयसाधन वर्त रहा हो तब। राग आया, उसे व्यवहार कहनेवाला कौन है?—आरोप करनेवाला कौन है? जब त्रिकाली चैतन्य प्रवाह की दृष्टि से वीतरागी परमार्थ साधन प्रगट हुआ, तब साथ में प्रवर्तमान राग में उपचार करके उसे व्यवहारसाधन कहा है। जहाँ त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की दृष्टि नहीं है, वहाँ राग को व्यवहारसाधन भी नहीं कहते। इस प्रकार राग को व्यवहारसाधनपने का आरोप भी निश्चय दृष्टिवान सम्यक्त्वी को ही लागू होता है, मिथ्यादृष्टि को नहीं। जहाँ राग को व्यवहारसाधन कहा, वहाँ भी शुद्ध द्रव्य के आश्रय से जो वीतरागभाव हो, वही तात्पर्य है; जो राग रहा है, वह तात्पर्य नहीं है। इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि मोक्षमार्ग का सार और शास्त्रों

के तात्पर्यभूत ऐसा वीतरागभाव जयवन्त प्रवर्तमान हो! यह वीतरागभाव ही साक्षात् साधन है और वह वीतरागभाव वस्तुस्वभाव की दृष्टि बिना नहीं होता। वस्तुस्वभाव की दृष्टि रखकर ही सारी बात है। वस्तुस्वभाव की दृष्टि न हो तो कुछ भी हाथ नहीं आ सकता।

यहाँ ४२ वें क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होना कहा है, उसके साथ सन्धि रखनेवाली यह बात है, इसलिए यहाँ उसका विवेचन किया है। शुभरागरूप अनुष्ठान की प्रधानता से आत्मा की सिद्धि सधती है—इस प्रकार क्रियानय में व्यवहार की बात कही है—किन्तु उपरोक्तानुसार वीतरागी तात्पर्य लक्ष्य में रखकर अर्थात् वस्तुस्वभाव पर दृष्टि रखकर उसका तात्पर्य समझे, तभी क्रियानय सच्चा कहलाता है। यदि राग के ही आश्रय से लाभ मान ले तो उसका क्रियानय भी सच्चा नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का वर्णन चल रहा हो, वहाँ पूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष साध्य है और अपूर्ण शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग उसका साधन है। उस अपूर्ण दशा के साथ राग भी वर्तता है, इसलिए उस अपूर्ण पर्याय को जानते हुए राग को भी जानना चाहिए। द्रव्यदृष्टि के विषय में तो शुद्ध एकाकार आत्मद्रव्य ही साध्य है और ज्ञानप्रधान अधिकार में पूर्ण शुद्धपर्याय को भी साध्य कहा जाता है; अपूर्ण शुद्धपर्याय उसका साधन है और वहाँ व्यवहाररत्नत्रय का जो शुभराग वर्तता है, उसे भी उपचार से साधन कहा जाता है क्योंकि साधक को निश्चय-व्यवहार दोनों साथ होते हैं, वह बतलाना है। साधक को राग का परिणमन भी है, यदि न हो तो साधक भी न रहे; और उसी समय अविकारी ज्ञानचेतना का अविकारी परिणमन न हो तो भी साधकपना नहीं रह सकता। पूर्ण शुद्धता नहीं हुई, किन्तु कुछ अंश में शुद्धता का विकास हुआ है और उसी के साथ कुछ रागादि अशुद्ध अंश भी वर्तता है; यदि उस राग को न जाने और शुद्धता के अंश को पूर्ण शुद्धता मान ले तो उसे मोक्ष की, साधक भाव की अथवा बाधक की पहिचान नहीं है। साधक को जितनी शुद्धता प्रगट हुई, वह निश्चय साधन है और वह निर्जरा का कारण है; तथा जो राग रहा है, उसे व्यवहार साधन कहा है; वह वास्तव में मोक्ष का नहीं, किन्तु बन्ध का कारण है। अंशतः शुद्धता और अंशतः राग, इस प्रकार साधक को दोनों भाव एक साथ होते हैं। निश्चयसाधन प्रगट न करे और एकान्त राग को ही साधन मानकर उससे लाभ माने तो वह अकेले बन्ध भाव में ही पड़ा हुआ मिथ्यादृष्टि है।

परम शुद्ध निश्चयनय से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से तो शुद्ध द्रव्य जो कारणपरमात्मा है, वही मोक्ष का कारण है और वही साध्य है। ज्ञानप्रधान कथन में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध पर्याय हुई, वह निश्चय कारण है और जो शुभराग रहा, वह उपचार से व्यवहार कारण है। इस तरह तीन प्रकार के कारण हुए—

(१) शुद्ध द्रव्य कारणपरमात्मा

(२) सम्यग्दर्शनादि शुद्ध पर्याय

(३) साधकदशा में प्रवर्तमान शुभराग।

निश्चयस्वभाव एक समय में परिपूर्ण है, उसे साधन बनाकर, अर्थात् उसका आश्रय करके जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, वह मोक्ष का निश्चय साधन है और उसके साथ के राग में उपचार करके उसे व्यवहारसाधन कहा जाता है। सम्यग्दर्शन में ध्येयरूप तो शुद्ध द्रव्य ही है, इसलिए वही साध्य है। पर्याय अपेक्षा से मोक्ष साध्य है, किन्तु उस मोक्ष का साधन भी द्रव्य के ही आश्रय से होता है। द्रव्य का अवलम्बन करने से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह पर्याय, द्रव्य में ही एकाग्र हो गयी; इसलिए द्रव्य की दृष्टि में साधन और साध्य का भेद नहीं रहता; द्रव्य ही साधन है और वही साध्य है; साध्य-साधन के भेद का विकल्प भी दृष्टि में नहीं है। आत्मा में एक करणशक्ति त्रिकाल है, इसलिए आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शन से लेकर मोक्षदशा का साधन होता है—ऐसा उसका स्वतन्त्र स्वभाव है। अभेद की अपेक्षा से आत्मा स्वयं ही साध्य-साधन है। पर्याय अपेक्षा से मोक्ष, साध्य और निर्विकल्प रत्नत्रय, वह साधन है, तथा व्यवहाररत्नत्रय, वह उपचार से साधन है। पर को साधन कहना, वह निमित्त की अपेक्षा से कथन है; पर का तो आत्मा में अभाव है। शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से तो निश्चयरत्नत्रय भी व्यवहारसाधन है। निश्चयरत्नत्रय भी द्रव्य के ही आश्रय से प्रगट होता है, इसलिए द्रव्य ही निश्चय कारण है। 'साधन' के नाम से लोग बहुत घोटाला करते हैं; कहते हैं कि जड़ की क्रिया अथवा शुभराग साधन तो है न ?—किन्तु भाई! जिसे परमार्थ साधन की खबर नहीं है, उसके रागादि को तो उपचार से भी साधन नहीं कहा जाता, उसके शुभराग को तो आचार्यों ने क्लेश की प्राप्ति और संसार परिभ्रमण का कारण कहा है। इसे समझ ले तो शास्त्रों का मर्म समझ में आ सकता है।

शास्त्रों का तात्पर्य क्या है ?

— वीतरागता।

वह वीतरागता कैसे प्रगट होती है ?

— शुद्ध द्रव्य के आश्रय से ही वीतरागता प्रगट होती है।

इसलिए शुद्ध द्रव्य का आश्रय करना ही शास्त्रों का सार हुआ। शास्त्र पढ़-पढ़कर यदि शुद्ध द्रव्योन्मुख न हो तो उसने शास्त्रों का तात्पर्य नहीं जाना। भले ही कहीं-कहीं व्यवहार से राग को साधन कहा है, किन्तु वहाँ तात्पर्य क्या है ?—राग का तात्पर्य है या वीतरागता का ? राग को तो 'भिन्नसाधन' कहा है, तो फिर उस समय 'अभिन्न साधन' क्या है ? शुद्धद्रव्यस्वभाव का आश्रय करके जो निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, वह अभिन्न साधन है, वही परमार्थ साधन है, किन्तु अभी साधक को उसके साथ विकल्प भी वर्त रहा है, उसका ज्ञान करने के लिये उसे व्यवहार साधन अथवा भिन्न साधन कहा है। किंतु वह शुभराग है, आस्रव है; इसलिए अरागी सम्यक्त्वादि हैं—ऐसा नहीं है। राग कारण और वीतरागता उसका कार्य - ऐसा नहीं है। यदि राग के कारण मोक्षमार्ग हो तो राग और मोक्षमार्ग दोनों एक हो जाते हैं, रागरहित निश्चयमोक्षमार्ग पृथक् नहीं रहता, उसका तो अभाव हो जाता है।—इस प्रकार राग से मोक्षमार्ग माने तो उसकी पर्याय में राग रहित ऐसे रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का अभाव हो जाता है। निश्चयरत्नत्रयरूप वीतरागी मोक्षमार्ग है, उसके साथ के राग को उपचार से ही साधन कहा है, वास्तव में तो राग, वह बन्धमार्ग ही है।

पुनश्च—निश्चयरत्नत्रयरूप जो मोक्षमार्ग है, वह भी पर्याय के आश्रय से प्रगट नहीं होता, किन्तु त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है; इसलिए मोक्षमार्ग का मूलकारण तो द्रव्य है; उसी के आश्रय से अभिन्न साधन-साध्य प्रगट हो जाते हैं—ऐसा निर्णय करके, द्रव्य के अवलम्बन से जिसके निश्चयसाधन का प्रारम्भ हुआ है, किन्तु अभी द्रव्य का पूर्ण अवलम्बन नहीं है, इसलिए राग भी वर्तता है, वहाँ उसे उपचार से साधन कहा जाता है। गुरुगम से इस मूलवस्तु को लक्ष्य में लिये बिना शास्त्रों का तात्पर्य समझ में नहीं आता। यहाँ ४२ वें क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होना कहा

है, उसका कोई विपरीत अर्थ न करे, इसलिए यह स्पष्टीकरण किया जाता है।

पंचास्तिकाय की १७२ वीं गाथा में भी व्यवहारनय की बात कही है, उसका कुछ लोग विपरीत अर्थ करते हैं, इसलिए उसका स्पष्टीकरण भी यहाँ आ जाता है।

(१) वहाँ तो, जो अज्ञानी वस्तुस्वभाव की दृष्टि नहीं करता और पर्याय के राग को नहीं जानता तथा स्वच्छन्दपूर्वक पाप में प्रवृत्ति करता है—ऐसे एकान्त निश्चयाभासी जीव को दोनों पक्ष समझाने के लिये व्यवहार साधन की बात की है।

(२) किन्तु जो मात्र व्यवहारसाधन को ही (शुभ-अनुष्ठान को ही) साधन मानता है और द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से निश्चयसाधन प्रगट नहीं करता, वह जीव एकान्त व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

(३) साधक धर्मात्मा को अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि निश्चयसाधन तो प्रगट हुआ है, किन्तु अभी द्रव्यस्वभाव का परिपूर्ण आश्रय लेकर वीतरागता नहीं हुई; इसलिए राग होता है; वहाँ शुभराग, अशुभ से बचाता है; इसलिए उसे व्यवहारसाधन कहा है। साथ में रागरहित दृष्टि का जोर वर्तता है, इसलिए उस शुभ में व्यवहार का आरोप आया है।

(४) अशुभ से बचने के लिये शुभराग होता है—ऐसा कहना भी व्यवहार है, वास्तव में तो उस समय उस शुभ का ही काल है,—अशुभराग होना था और उससे शुभराग ने बचा लिया-ऐसा नहीं है। तथा उस शुभ को साधन कहा, इसलिए उसके द्वारा निश्चय प्रगट हो जाएगा—ऐसा भी नहीं है। यदि राग को वास्तव में निश्चय का साधन माने तो वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यादृष्टि के राग को तो व्यवहारसाधन भी नहीं कहा जाता।

यहाँ तो साधक की बात है; साधक को स्वभाव की दृष्टि है और द्रव्य का आश्रय पूर्ण नहीं हुआ है, वहाँ देव-गुरु-शास्त्र के प्रति बहुमान का उल्लास और व्रतादि का भाव आता है, किन्तु अन्तर की दृष्टि में वास्तव में ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त किसी का बहुमान नहीं है। स्वभाव में बिल्कुल अभेदता हो जाए तो द्रव्य और मोक्षपर्याय के बीच भेद न रहे और राग भी न रहे। किन्तु अभी स्वभाव में बिल्कुल अभेदता नहीं हुई है, इसलिए निचलीदशा में राग होता है, उसे ज्ञानी जानते हैं और क्रियानय से उस राग में मोक्ष साधन

का आरोप भी करते हैं, किन्तु उस क्रियानय के समय ही साथ में ज्ञाननय का ज्ञान वर्तता है, इसलिए चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन रखकर व्यवहार के अवलम्बन को (शुभ अनुष्ठान को) उपचार से साधन कहा है; चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन बिना मात्र व्यवहार का अवलम्बन तो व्यवहार से भी साधन नहीं है। राग के समय धर्मात्मा को मात्र राग ही नहीं वर्तता, किन्तु उस समय भी दृष्टि में तो शुद्ध चैतन्य द्रव्य का ही आश्रय बना है; इसलिए रागरहित रमणता भी वर्तती है; यदि वैसी दशा न हो तो साधकपना भी नहीं रहता।

जिस प्रकार अंक के बिना रखे गये शून्यों का मूल्य शून्य ही होता है, उसी प्रकार ज्ञायक द्रव्य एक समय में परिपूर्ण प्रभुता से भरपूर है, उसके आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान के अंक रखे बिना व्यवहार के समस्त राग शून्यवत् हैं—उसमें किंचित् भी उपचार करने योग्य मोक्ष साधन नहीं है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में मोक्ष साधन का प्रारम्भ होने पर किस भूमिका में कैसा व्यवहार होता है, उसे ज्ञानी जानता है। ज्ञानी जानता है कि मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव एक समय में परिपूर्ण है, उसी के आश्रय से ही मेरा मोक्ष साधन है; राग के आश्रय से मेरा मोक्ष साधन नहीं है। शुद्ध चैतन्य द्रव्य में एकाग्रता से ही निर्विकल्प शान्तदशा प्रगट होती है; पर के, राग के अथवा पर्याय के आश्रय से निर्मल दशा प्रगट नहीं होती; इसलिए ज्ञायकद्रव्य को दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्र होना चाहिए:—यही धर्म की मुख्य चाबी (Master Key) है; इसके अतिरिक्त जो भी धर्म का साधन कहलाता हो, वह सब उपचार से है—ऐसा समझना।

✦✦✦

यहाँ प्रमाणपूर्वक के नयों से आत्मा का वर्णन चल रहा है, उसमें इस समय क्रियानय से वर्णन हो रहा है। यह नय भी आत्मोन्मुख होकर आत्मा के धर्म को जानता है। क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि कही, उसका अर्थ ऐसा है कि अन्तरस्वभाव के आश्रय से साधक के अंशतः शुद्धता विकसित हुई है और उसके साथ शुभरागरूप अनुष्ठान भी वर्त रहा है, उस राग को जानते समय जो अरागपरिणमन है, उसे गौण रखकर, अनुष्ठान की प्रधानता से कथन किया है और उसमें साधन का उपचार किया है। उस समय साधक को भान है कि—द्रव्य की प्रधानता से ही मुक्ति है। साधक की दृष्टि में निरन्तर शुद्ध द्रव्य की ही प्रधानता वर्तती है। दृष्टि में से किसी भी समय यदि द्रव्य की प्रधानता छूटकर

पर्याय की या राग की मुख्यता हो जाये तो वहाँ सम्यग्दर्शन भी नहीं रहता। इसलिए शुद्ध स्वभाव की एक-सी अखण्ड दृष्टि रखकर यह सब बात है। क्रियानय में अनुष्ठान की प्रधानता के समय शुद्धता की गौणता है, किन्तु दृष्टि में तो उस समय शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ही मुख्यता है।

जिस प्रकार–बारह भावनाओं को संवर कहा है; वहाँ 'शरीरादि अनित्य है, सारा संसार अशरण है'—इत्यादि प्रकार से बारह भेदों के अवलम्बन में तो परलक्ष्य और राग होता है, वह कहीं संवर नहीं है, किन्तु उस समय अन्तर में चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि वर्तती है और उस दृष्टि के बल से राग टूटकर वीतरागता बढ़ती जाती है, वह संवर है। वहाँ निमित्त से बारह भावनाओं को संवर कहा है; उसी प्रकार यहाँ भी विकल्प तोड़कर स्वभाव का आश्रय करना ही सच्चा मोक्ष साधन है। स्वभावोन्मुख होने से पहले शुभ अनुष्ठान का विकल्प था, उसे भी आरोप से साधन कह दिया है, किन्तु ऐसा आरोप किसे लागू होता है?—तो कहते हैं कि जो उस राग का निषेध करके अभेद स्वभावोन्मुख हो, उसी को वह आरोप लागू होता है। राग के अवलम्बन से ही लाभ मानकर जो वहाँ रुक जाए, उसे तो राग में साधन का आरोप भी लागू नहीं होता। यथार्थ वस्तु प्रगट हुए बिना आरोप किसका?

क्रियानय के दृष्टान्त में ऐसा कहा था कि अन्ध का सिर पत्थर से टकराने पर उसका 'खून का विकार' दूर हुआ और उसके नेत्र खुल गये, तथा उसे 'निधान प्राप्त हुआ'—इससे एकान्त पकड़ कर कोई अन्धा खम्भे से सिर टकराये तो वह कहीं निधान प्राप्ति का उपाय नहीं है, उसका तो सिर फटने से खून निकलेगा। भाई! जब भीतर से खून का विकार दूर हुआ, तब आँखें खुलीं और निधान प्राप्त हुआ है; उसी प्रकार यहाँ अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होना कहा, इसलिए कोई अज्ञानी जीव एकान्त ग्रहण करके शुभराग के अवलम्बन से ही नेत्र खुल जाना और चैतन्यनिधान का प्राप्त होना माने तो उसे मोक्ष का साधन नहीं होता, किन्तु मिथ्यात्व का सेवन होकर संसार भ्रमण ही होता है। अन्धे के खून का विकार दूर हुआ, तब नेत्र खुले और निधान प्राप्त हुए; उसी प्रकार हे भाई! तू रागादि विकार की रुचि छोड़ और शुद्ध चैतन्य द्रव्य का आश्रय कर, तो उसके आश्रय से तेरी दृष्टि खुल जाए और तुझे अपने चैतन्य निधान दिखायी दें। वास्तव में अन्धे के खून का विकार दूर होने से नेत्र खुले और निधान प्राप्त हुए, तब खम्भे से सिर टकराने को भी निमित्तरूप से उसका

कारण कहा है; उसी प्रकार स्वभाव के आश्रय से राग की रुचिरूपी विकार दूर होकर 'अरागी दृष्टि खुलने से' 'चैतन्य के निधान दृष्टिगोचर हुए'—वहाँ शुभ अनुष्ठान को भी उपचार से निमित्तरूप साधन कहा—ऐसा जानना, वह क्रियानय है। वास्तव में द्रव्य के आश्रय से ही दृष्टि खुलती है, राग के अवलम्बन से नहीं खुलती—ऐसे ज्ञान के बिना क्रियानय भी सच्चा नहीं होता।

नय के समय प्रमाण साथ ही होता है; यदि प्रमाण न हो तो नय सच्चा नहीं है। क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता करके उसे साधन कहा, उसी समय अभेद स्वभाव के आश्रय से रागरहित शुद्धता का अंश प्रगट हुआ है—वह निश्चय साधन है, उसका ज्ञान भी साथ ही वर्तता है। यदि ऐसा न हो तो प्रमाण नहीं होता। व्यवहारसाधन के समय द्रव्य के आश्रयवाला निश्चयसाधन भी है; यदि निश्चयसाधन को न जाने और मात्र राग से-व्यवहारसाधन से ही कल्याण माने तो एकान्त मिथ्यात्व हो जाता है।

प्रवचनसार के इस परिशिष्ट में प्रारम्भ की भूमिका में ही कहा है कि—आत्मा प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा ज्ञात होता है और अन्त में भी कहेंगे कि—स्याद्वाद अनुसार नय द्वारा देखो अथवा प्रमाण द्वारा, तथापि स्पष्ट अनन्त धर्मात्मक निज आत्मद्रव्य अन्तर में शुद्ध चैतन्यमात्र दृष्टिगोचर होता है। किसी भी नय से देखने का तात्पर्य शुद्ध चैतन्यद्रव्य को जानना ही है। क्रियानय का फल भी यही है कि अन्तर में राग से पार शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करना। मात्र शुभराग को ही देखे और शुद्ध चैतन्यस्वभाव को उसी समय दृष्टि में न ले तो उसका क्रियानय भी मिथ्या है।

वस्तु स्वरूप स्वयं ही ऐसी पुकार करता है कि हम एक समय में अनन्त धर्मों से परिपूर्ण हैं, क्षणिक राग जितने हम नहीं हैं; हमारी चैतन्य प्रभुता अनन्त धर्मों से भरपूर है।—ऐसी चैतन्यवस्तु को जानकर उसका स्वानुभव करे तो 'आत्मा कौन है'—वह ज्ञात हो और उसकी प्राप्ति का उपाय हाथ आये। यहाँ एक-एक धर्म की मुख्यता से वर्णन किया है, किन्तु एक धर्म की मुख्यता के समय अनन्त धर्मात्मक चैतन्यवस्तु को लक्ष्य में रखकर यह वस्तु समझना है।

भगवान आत्मा, जड़ से भिन्न चैतन्यमूर्ति है, उसमें एक साथ अनन्त धर्मों को धारण

करने की शक्ति है और ज्ञान में एक साथ अनन्त धर्मों को जानने की शक्ति है, किन्तु छद्मस्थ की वाणी में एक साथ अनन्त धर्मों का कथन नहीं हो सकता। केवली भगवान का वाणी के साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि वाणी में भी एक साथ परिपूर्ण आता है, किन्तु छद्मस्थ का ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि वाणी में भी एक साथ परिपूर्ण नहीं आता। साधक की प्रतीति में तो परिपूर्ण आया है, किन्तु अभी पूर्ण ज्ञान विकसित नहीं हुआ है; इसलिए वाणी में भी पूर्ण नहीं आता;—भले ही अल्प आये किन्तु उसमें विपरीतता नहीं आती। ज्ञानी होने पर भी वाणी का योग न हो—ऐसा हो सकता है, किन्तु यदि वाणी हो तो उसमें यथार्थ प्ररूपणा ही आये; प्रयोजनभूत तत्त्वों की विपरीत प्ररूपणा आ ही नहीं सकती—ऐसा नियम है। जिसकी वाणी में प्रगटरूप से मूलतत्त्वों की विपरीत प्ररूपणा आती है, वह तो मिथ्यादृष्टि है—ऐसा जानना। अज्ञानी को चाहे जितना ज्ञान का विकास हो, तथापि उसका सारा ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि उसने मूलवस्तु को नहीं जाना है; ज्ञानी को ज्ञान का विकास कदाचित् अल्प हो, तथापि उसका सारा ज्ञान सम्यक् है, क्योंकि उसने मूलभूत चैतन्यवस्तु को यथार्थतया स्वानुभव से जाना है। इसलिए जिज्ञासु को प्रारम्भ से ही अन्तर में आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण चैतन्यवस्तु को ज्ञान में लेने का मूलभूत प्रयत्न करना ही कर्तव्य है।

यहाँ आचार्यदेव, जिज्ञासु जीव को आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। जिसे आत्मस्वरूप समझने की सच्ची जिज्ञासा जागृत हुई है, ऐसे आत्मार्थी को समझ में यह बात न आये—ऐसा नहीं हो सकता। आत्मा में अनन्त धर्म हैं, वे सब चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त हैं, इसलिए उसके किसी भी धर्म को जानते समय चैतन्य सामान्य का भान रहना ही चाहिए। आत्मा एक समय में अनन्त धर्मोंवाला है, वह चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है, इसलिए जागृत स्वभाववाला है। नय हो या प्रमाण हो, उन दोनों में ऐसी जागृत चैतन्यसत्ता देखना ही प्रयोजन है। स्वानुभव प्रमाण द्वारा अनन्त धर्मात्मक आत्मा को जानने के पश्चात् एक-एक धर्म का ज्ञान करना, वह नय है। नय द्वारा एक-एक धर्म का ज्ञान करके, फिर उन सब नयों का ज्ञान एकत्रित करके प्रमाण होता है—ऐसा नहीं है, किन्तु अनन्त धर्मों से अभेदरूप ऐसी चैतन्यवस्तु को जानने से जो प्रमाणज्ञान हुआ, उस प्रमाणपूर्वक वस्तु को एक धर्म को प्रधान करके जाने, वह नय है। क्षणिक पर्याय का विकार और उसी समय अनन्त धर्म

स्वरूप ऐसा शुद्ध चैतन्य द्रव्य—इस प्रकार दोनों का अस्तित्व जानने से प्रमाणज्ञान होकर आत्मा का स्वानुभव होता है। जिस ज्ञान ने क्षणिक राग और त्रिकाली शुद्ध द्रव्य—दोनों को जाना, वह ज्ञान त्रिकाली शुद्धद्रव्य की ही महिमा करके उस ओर एकाग्र हो जाता है; इसलिए शुद्ध आत्मा का स्वानुभव होता है। प्रमाणज्ञानपूर्वक ऐसा स्वानुभव हो, तभी सचमुच आत्मा को जाना कहलाता है और तत्पश्चात् ही सच्चे नय होते हैं। प्रमाण से आत्मा को जाने बिना मात्र राग को जानने का प्रयत्न करे तो उस राग के साथ एकत्वबुद्धि होकर एकान्त हो जाता है, वह मिथ्यात्व है। धर्मी को पूर्ण आत्मवस्तु का ज्ञान होने से राग को जानते समय राग के साथ एकत्वबुद्धि नहीं होती, किन्तु अनन्त धर्म के पिण्डरूप शुद्ध चैतन्य के साथ ही एकत्वबुद्धि रहती है।

धर्मी जानता है कि क्रियानय से देखने पर अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि की साधना हो—ऐसा आत्मा है। अभी अपनी पर्याय में व्यवहाररत्नत्रय आदि का शुभराग वर्तता है—शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि हुई है, वह तो साथ है ही; उस दृष्टिपूर्वक अधिकांश राग तो दूर हो गया है और शेष राग भी क्रमश: दूर होकर शुद्धता हो जाएगी। इसलिए धर्मी के उस शुभ अनुष्ठान को निमित्त मानकर कथनपद्धति में उसकी प्रधानता से सिद्ध होना कहा है। ऐसा भी आत्मा का एक धर्म है—इसलिए शुद्ध उपादान पर दृष्टि रखकर धर्मी जीव जानता है। सामान्य चैतन्यस्वभाव की दृष्टि स्थायी रखकर धर्मी जीव नय में धर्मों को मुख्य-गौण करके जानता है और उसे जानकर भी वस्तु की शुद्धता की ही साधना करता है।

साधक को शुभराग है, वह भी आत्मा की पर्याय का अंश है, अशुद्ध निश्चय से वह राग आत्मा का है। शुद्ध निश्चयरूप द्रव्य के आश्रय से साधक अपने कल्याण की साधना कर रहा है, वहाँ अशुद्ध निश्चयरूप शुभराग को जानने पर उसकी प्रधानता से सिद्धि होना उपचार से कहा जाता है, क्योंकि वीतरागी दृष्टिपूर्वक उस शुभ के समय भी अशुभराग दूर हुआ, उस अपेक्षा से शुभ को ही साधन कह दिया।—ऐसा नयविवक्षा का कथन है। किन्तु अन्तर के शुद्ध स्वभाव की दृष्टि बिना मात्र शुभराग से सिद्धि हो जाए—ऐसा कदापि नहीं होता; यह मुख्य बात भूलना नहीं चाहिए।

आत्मा के परमार्थ स्वभाव का आश्रय लेना ही सिद्धि का साधन है, किन्तु साधक

को राग के समय अशुभ से बचने के लिये (अशुभवंचनार्थ) व्यवहाररत्नत्रयादि का शुभराग आता है, इसलिए क्रियानय में व्यवहार प्रधानता से ऐसा भी कहा जाता है कि— व्यवहाररत्नत्रय, साधन और निश्चयरत्नत्रय, वह साध्य; क्रियानय से ऐसे धर्म को जानते समय शुद्ध चैतन्यद्रव्य के अवलम्बन से निश्चय साधन का परिणाम भी साथ ही वर्त रहा है।—इस प्रकार साधकदशा में निश्चयसहित जो व्यवहाररत्नत्रय वर्तता है, उसका क्रियानय ज्ञान करता है। अब अगले बोल में ज्ञाननय से वर्णन करेंगे।

✦✦✦

शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में अनन्त धर्म हैं। नय भले ही उन धर्मों को मुख्य-गौण करके जाने, किन्तु कहीं वस्तु में वे धर्म मुख्य-गौण रूप से विद्यमान नहीं हैं; वस्तु में तो सर्व धर्म एक साथ ही विद्यमान हैं। शुद्धस्वभाव का अवलम्बन लेने से जहाँ साधकदशा प्रगट हुई, वहाँ शुभराग होता है और राग घटते-घटते शुद्ध आत्मारूप निधान की प्राप्ति हो जाती है, वहाँ शुभ की प्रधानता से सिद्ध होना कहा जाता है—ऐसा भी आत्मा का एक धर्म है और क्रियानय उसे जानता है। क्रियानय में शुभ की प्रधानता कही, वहाँ उसके साथ गौणरूप से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप शुद्धता भी विद्यमान ही है; यदि वह शुद्धता न हो और मात्र शुभराग ही हो तो उस शुभ की 'प्रधानता' नहीं कही जा सकती। 'प्रधानता' शब्द ही दूसरे का अस्तित्व प्रगट करता है। क्रियानय से शुभ अनुष्ठान की प्रधानता की, उसी समय दूसरे अनन्त धर्म आत्मा में विद्यमान हैं।

'किसी आत्मा को शुभराग की प्रधानता से सिद्ध होती है और किसी को ज्ञान की प्रधानता से' इस प्रकार भिन्न-भिन्न आत्माओं का एक-एक धर्म नहीं है, किन्तु एक ही आत्मा में यह सब धर्म एक साथ विद्यमान हैं। क्रियानय से देखने पर आत्मा को शुभ अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हुई—ऐसा उपचार की योग्यता लक्ष्य में आती है; यहाँ मात्र एक-एक धर्म को जानने का तात्पर्य नहीं है, किन्तु अनन्त धर्मों के पिण्डरूप चैतन्यवस्तु का यथार्थ निर्णय करके उसका स्वानुभव करने का तात्पर्य है। एक-एक धर्म की प्रधानता से कहना, वह वचन विलास है और उसमें राग का विकल्प है। एक धर्म को लक्ष्य में लेने से मुक्ति नहीं होती, मुक्ति तो अनन्त धर्मों के पिण्डरूप आत्मद्रव्य की ओर देखकर उसमें एकाग्र होने से ही होती है। आत्मा कहीं एक ही नय के विषय जितना नहीं है, आत्मा में

तो अनन्त धर्म होने से वह अनन्त नयों का विषय होता है, इसलिए अनन्त नयस्वरूप जो श्रुतज्ञान प्रमाण है, उसके द्वारा आत्मा का स्वानुभव होता है। इस प्रकार आत्मा को जाने बिना मात्र उसे क्रियानय के विषय जितना ही मान ले तो वह एकान्त है। प्रमाण सम्पूर्ण आत्मा को देखता है और नय उसके एक धर्म को प्रधान करके देखता है। प्रमाणपूर्वक ही नय होते हैं; साथ में विद्यमान अन्य अनन्त धर्मों को माने बिना एकान्त एक धर्म को ही माने तो वह नय मिथ्या है। इस सम्बन्ध में आचार्यदेव कहेंगे कि—'पर समयों का अर्थात् मिथ्यामतियों का वचन सर्वथा (एकान्त) कहा जाता है, इसलिए वास्तव में वह मिथ्या है; और जैनों का अर्थात् सम्यग्दृष्टि —ज्ञानियों का वचन कथंचित् (अपेक्षासहित) कहा जाता है; इसलिए वास्तव में सम्यक् है।

प्रश्नः—आत्मा के अनन्त धर्मों में से एक धर्म को लक्ष्य में लेकर पुरुषार्थ करे तो?

उत्तरः—अनन्त धर्मों के पिण्डरूप धर्मी को लक्ष्य में लिये बिना उसके एक धर्मी का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता और एक धर्म के लक्ष्य से मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं होता। एक धर्म को यथार्थतया लक्ष्य में लेने जाए, वहाँ धर्मी ऐसा आत्मद्रव्य लक्ष्य में आ जाता है और उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ हो जाता है। एक-एक धर्म के भेद को देखने से धर्म का विकास नहीं होता, किन्तु अनन्त धर्मों से अभेद ऐसा आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसके सन्मुख देखने से समस्त धर्म निर्मलतारूप से विकसित हो जाते हैं। अनन्त धर्मात्मक पूर्ण द्रव्य लक्ष्य में लेकर अनेकान्तप्रमाण हुए बिना द्रव्य के एक अंश का (एक धर्म का) ज्ञान भी सच्चा नहीं होता। यदि प्रमाण के विषयरूप सम्पूर्ण वस्तु को पहिचाने, तभी उसके अंश के ज्ञान को सच्चा नय कहा जाता है; प्रमाण के बिना नय सम्यक् नहीं होता। जो स्वयं मोक्षमार्ग नहीं है, साधन नहीं है परन्तु उपचारनय से कहा जाता है कि अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है, उस अपेक्षा का ज्ञान कराते समय उस नय के साथ का प्रमाणज्ञान अनन्त धर्मोंवाले शुद्ध आत्मद्रव्य को भी देखता है। नय के साथ जो प्रमाणज्ञान है, वह एक धर्म को ही नहीं देखता किन्तु अनन्त धर्मों के पिण्डरूप शुद्धचैतन्य द्रव्य को देखता है। यदि शुद्ध आत्मद्रव्य को न देखे और मात्र राग को ही देखे तो वहाँ प्रमाणज्ञान नहीं है, किन्तु मिथ्याज्ञान है और उसका नय भी मिथ्या है।

यह जो धर्म कहे हैं, वे सब अंश हैं और उन सब धर्मों को धारण करनेवाला भगवान आत्मा है; भावश्रुतप्रमाण से उस आत्मा के ज्ञानपूर्वक उसके एक धर्म का ज्ञान, वह नय है। जिस प्रकार सुवर्ण की पहिचानपूर्वक उसके पीलेपन का ज्ञान करे तो वह सच्चा है; किन्तु सुवर्ण के ज्ञान बिना मात्र पीलेपन का ज्ञान करने जावे तो पीतल आदि भी पीले हैं; इसलिए सुवर्ण को जाने बिना उसके पीलेपन का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता। सुवर्ण वस्तु है और पीलापन उसका एक धर्म है। उसी प्रकार आत्मवस्तु में अनन्त धर्म हैं; उसके ज्ञानपूर्वक एक धर्म का ज्ञान होता है, किन्तु पूर्ण आत्मा के लक्ष्य बिना एक ही धर्म पर वजन देने जावे तो वहाँ मिथ्यानय हो जाता है।

देखो, 'ज्ञान, वह आत्मा'—इस प्रकार ज्ञान का भेद करके लक्ष्य में ले, किन्तु ज्ञान तो दूसरे आत्माओं में भी है, इसलिए उसमें दूसरे आत्माओं से अपना भिन्नत्व तो लक्ष्य में नहीं आया; किन्तु 'ज्ञान किसका ?'—तो कहते हैं कि मेरा ज्ञान है, वह मेरे आत्मा के साथ अभेदत्व रखता है;—इस प्रकार ज्ञान को आत्मा के साथ अभेद करके आत्मा का स्वसंवेदन करने से आत्मा यथार्थतया ज्ञात होता है और इस प्रकार आत्मा को जान लेने के पश्चात् उसके धर्मों का सच्चा ज्ञान होता है। पूर्ण वस्तु के ज्ञान बिना 'यह अंश इसका है'—ऐसा ज्ञान नहीं होता। अंश किसका ?—भाग किसका ? तो कहते हैं कि सम्पूर्ण वस्तु का। उसी प्रकार यह धर्म किसका ?—तो कहते हैं कि पूर्ण आत्मा का। इस प्रकार प्रमाण से आत्मा को जाने बिना नय नहीं होता; धर्मी अखण्ड वस्तु के ज्ञान बिना उसके धर्म की सच्ची पहिचान नहीं होती। धर्मी को पहिचाने बिना 'यह धर्म किसका है ?' उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिए वहाँ एकान्त मिथ्यानय होता है। धर्मी के लक्ष्यपूर्वक (वस्तु की दृष्टिपूर्वक) उसके किसी एक धर्म को प्रधान करके जाने तो वह सम्यक्नय है।

एक आत्मा को विवेक की प्रधानता से सिद्धि हो और दूसरे आत्मा को विवेक के बिना शुभ अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हो—ऐसा नहीं है, किन्तु एक ही आत्मा में समस्त धर्म एक साथ विद्यमान हैं। उनमें नय एक धर्म को मुख्य करके देखे, उस समय प्रमाणरूप वस्तु का ज्ञान भी गौणरूप से विद्यमान है। एक धर्म अकेला नहीं रहता, किन्तु दूसरे अनन्त धर्मों के साथ विद्यमान है, उसका भान हुए बिना एक धर्म का ज्ञान सच्चा नहीं होता।

'क्रियानय द्वारा अनुष्ठान की प्रधानता से जिसकी सिद्धि सधती है... ऐसा है।'— ऐसा कौन है ?—ऐसा एक धर्म नहीं है, किन्तु आत्मद्रव्य है; उस आत्मद्रव्य का यह तो एक धर्म है। दूसरे अनन्त धर्म उसके साथ ही गौणरूप से विद्यमान हैं। यदि वे गौणरूप से न हों तो 'अनुष्ठान की प्रधानता'—ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक को प्रधान कहने से दूसरा गौणरूप से विद्यमान ही है—ऐसी नय के वर्णन की शैली है। इसलिए वस्तु के ज्ञान बिना एक ही धर्म को लक्ष्य में लेकर विकास करना चाहे तो वहाँ मिथ्यानय है; उसके धर्म का विकास नहीं होता। शुद्ध चैतन्यवस्तु आत्मा अनन्त धर्मों का पिण्ड है; उस वस्तु का आश्रय करने से समस्त धर्म निर्मलरूप से विकसित हो जाते हैं।

समस्त जीवों के लिये यह सामान्य अबाधित नियम है कि शुद्ध चैतन्य वस्तु के आश्रय से ही धर्म का विकास होता है; सम्यग्दर्शन के प्रारम्भ से लेकर केवलज्ञान तक का पूर्ण विकास चैतन्यस्वभावरूप शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से होता है।

एक जीव को क्रिया की प्रधानता से मुक्ति हो और दूसरे जीव को ज्ञान की प्रधानता से मुक्ति हो—इस प्रकार यदि भिन्न-भिन्न आत्माओं के भिन्न-भिन्न धर्म हों तो दो आत्मा एक ही जाति के न रहे, किन्तु भिन्न जाति के हो गये; उसी प्रकार एक ही आत्मा के समस्त धर्म न रहे, किन्तु भिन्न-भिन्न धर्मानुसार भिन्न-भिन्न आत्मा हो गये।—किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जगत के जीवों में जिस प्रकार 'भव्य स्वभाव' और 'अभव्य स्वभाव'—ऐसे दो प्रकार के जीव हैं; उसी प्रकार कहीं अमुक जीव शुभक्रिया की प्रधानता से मुक्ति प्राप्त करनेवाला, और अमुक जीव ज्ञान की प्रधानता से मुक्ति प्राप्त करनेवाला—ऐसे भिन्न-भिन्न स्वभाववाले जीव नहीं हैं। अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है—इस प्रकार जिस आत्मा को क्रियानय से लक्ष्य में लिया, उसी आत्मा को ज्ञाननय से देखें तो ज्ञान की प्रधानता से सिद्धि हो, ऐसा उसका धर्म है। इस प्रकार क्रियानय और ज्ञाननय—इन दोनों नयों के विषयरूप दोनों धर्म एक साथ एक आत्मा में विद्यमान हैं। भिन्न-भिन्न नय भिन्न-भिन्न धर्मों द्वारा एक शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य को ही देखते हैं। प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से आत्मद्रव्य प्रमेय होता है और उसके अनन्त धर्मों को जाननेवाले अनन्त नय हैं। एक-एक धर्म के क्रम से अनन्त धर्मों को जानने जाए तो अनन्त काल लगेगा, अर्थात् मात्र भेद के लक्ष्य से कभी वस्तुस्वरूप नहीं जाना जा सकता, किन्तु धर्म और धर्मी के अभेदरूप

वस्तु का अनुभव करने से प्रमाणज्ञान विकसित हो जाता है और अनन्त धर्म प्रतीति में आ जाते हैं। फिर साधकदशा में अपना विशेष प्रयोजन सिद्ध करने के लिये साधक जीव नय द्वारा धर्मों को मुख्य-गौण करके वस्तु की साधना करता है। एक धर्म को मुख्य करके जानते हुए साथ ही पूर्ण वस्तु को भी लक्ष में रखता है। अज्ञानी तो एक धर्म को जानते हुए पूर्ण वस्तु को लक्ष्य से निकाल देता है, इसलिए उसे एकान्त मिथ्यानय हो जाता है।

✦✦✦

यहाँ, आत्मा किस प्रकार प्रमेय हो अर्थात् ज्ञात हो—उसकी बात चल रही है। आत्मा एक अनन्त धर्मोंवाला द्रव्य है। धर्म अनन्त हैं, किन्तु प्रमेयरूप आत्मा एक है; समस्त धर्मों द्वारा प्रमेय होने योग्य आत्मा तो एक ही है। धर्म अनन्त भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु उन सब धर्मों को धारण करनेवाला धर्मी आत्मा एक है; उस एक के लक्ष्य से प्रमाणज्ञान होकर आत्मा प्रमेय होता है।

चैतन्यमूर्ति आत्मा अनन्त शक्तिसम्पन्न है; उसमें सर्वथा भेद करके एक-एक शक्ति को देखने से तो आत्मा खण्ड-खण्डरूप हो जाता है, किन्तु वास्तविक रूप से ज्ञात नहीं होता। अनन्त शक्तियों के एक पिण्डरूप शुद्धचैतन्य द्रव्य आत्मा को प्रतीति में लेने से उसकी अनन्त शक्तियोंसहित वह यथार्थरूप से ज्ञात होता है। समयसार के २७० वें कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि—'अनेक प्रकार की निजशक्तियों के समुदायमय यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है, इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि—जिसमें से खण्डों को निराकृत (दूर) नहीं किया गया है, तथापि जो अखण्ड है, एक है, एकान्त शान्त है और अचल है—ऐसा चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ।'—ऐसे अनुभवपूर्वक नय हों तो वे सच्चे हैं। वे नय भले ही एक धर्म को मुख्य करके जानें, किन्तु वहाँ प्रमाण नहीं हटता, इसलिए नयों के समय भी धर्मी को शुद्ध चैतन्य द्रव्य की दृष्टि नहीं छूटती। यदि अखण्ड आत्मद्रव्य की दृष्टि छोड़कर मात्र नयों से एक-एक धर्म को देखने जाए तो वहाँ अकेली भेददृष्टि से आत्मा छिन्न-भिन्न हो जाता है अर्थात् वहाँ सम्यक् आत्मा का अनुभव नहीं होता, किन्तु अकेले विकल्प ही होते हैं।

आगे (प्रवचनसार में) आचार्यदेव कहेंगे कि वस्तु के अनन्त धर्मों को 'अतद्भावपना

मात्र' द्वारा पृथक् करना अशक्य है, अर्थात् एक वस्तु में विद्यमान अनन्त धर्मों में 'जो एक धर्म है, वह दूसरे धर्मरूप नहीं है'—ऐसा परस्पर अतद्भावपना है, किन्तु इतने मात्र से कहीं धर्म पृथक् नहीं हो जाते—बिखर नहीं जाते, क्योंकि वस्तुरूप से तो एकता है। भिन्न-भिन्न अनन्त धर्म होने पर भी अनन्त धर्मस्वरूप वस्तु तो एक ही है। नयों की पद्धति में एक धर्म को मुख्य और दूसरे को गौण किया जाए तो उससे कहीं वह धर्म वस्तु से पृथक् नहीं हो जाता। वस्तु में से एक धर्म को पृथक् करके विकास करना चाहे तो वहाँ मिथ्यात्व हो जाता है। धर्म अनन्त हैं किन्तु धर्मी एक है, उस धर्मी के साथ समस्त धर्म अभिन्न हैं; उस धर्मी की दृष्टि करने से उसके सर्व धर्मों का विकास हो जाता है। एक धर्म को मुख्य करके लक्ष्य में लेनेवाला नय भी उस धर्मस्वरूप शुद्ध चैतन्य द्रव्य को देखता है। यदि शुद्ध चैतन्य द्रव्य की दृष्टि न हो तो नय भी मिथ्या है और वचन भी मिथ्या है।

आत्मा में समस्त धर्म एक साथ आत्मा के आश्रय से ही विद्यमान हैं और वे सब एक साथ अपना-अपना कार्य करते हैं। आत्मद्रव्य परिणमित होने से उसके समस्त धर्म भी प्रतिक्षण परिणमित हो रहे हैं। एक क्षण एक धर्म और दूसरे क्षण दूसरा—इस प्रकार क्रमानुसार यह धर्म नहीं हैं।

* एक जीव गर्भ काल से लेकर आठ वर्ष की उम्र में आत्मज्ञानपूर्वक मुनि होकर, अन्तर्मुहूर्त में ही शुक्लध्यान से केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्धि साधता है।

* दूसरा जीव आत्मज्ञानपूर्वक मुनि होने के पश्चात् करोड़ों-अरबों वर्ष तक चारित्र का पालन करता है और फिर शुक्लध्यान से केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्धि साधता है।

— तो वहाँ आठ वर्ष में मुक्ति प्राप्त करनेवाले जीव में ज्ञान की प्रधानता से सिद्ध होने का धर्म और करोड़ों वर्ष तक चारित्र का पालन करके फिर मुक्ति प्राप्त करनेवाले जीव में क्रिया की प्रधानता से सिद्धि होने का धर्म—ऐसा नहीं है। दोनों जीवों में वे दोनों धर्म विद्यमान हैं, किन्तु नय उन्हें मुख्य-गौण करके जानते हैं। यहाँ तो वास्तव में नयों द्वारा स्वयं अपने आत्मा को ही देखने की बात है। प्रमाणज्ञान अथवा नय द्वारा स्वयं अपने आत्मा को अन्तर में शुद्ध चैतन्यस्वरूप देखना ही सच्चा तात्पर्य है।

आत्मा के शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप का भान रखकर भूमिकानुसार नैमित्तिक शुभराग

का ज्ञान कराने के लिये अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि है; किन्तु यदि साक्षीपना आदि धर्मों को तोड़कर मात्र अनुष्ठान से-शुभराग से-ही सिद्धि होना माने तो वह क्रियानय भी मिथ्या है, क्योंकि अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है—ऐसे एक ही धर्म को लक्ष्य में लिया तो उस समय राग का अकर्ता-साक्षी रहे—ऐसा कर्तृधर्म (साक्षीस्वरूप धर्म) कहाँ गया? विकार का अभोक्ता रहे—ऐसा अभोक्ता धर्म कहाँ गया? स्वभाव की महत्ता में जो राग को महत्ता नहीं देता—ऐसा अनीश्वरधर्म अथवा प्रभुत्व धर्म कहाँ गया? राग के कारण बिना स्वयं स्वतन्त्ररूप से मोक्ष करे—ऐसा कर्ताधर्म कहाँ गया? अन्य साधन के बिना स्वयं स्वभाव से ही मोक्ष का साधन हो—ऐसा करणधर्म कहाँ गया? इसलिए अनन्त धर्मोंवाले शुद्ध चिन्मात्र आत्मद्रव्य को प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से न जाने तो उसके एक भी धर्म का सच्चा ज्ञान नहीं होता।

साधकदशा में शुभरागरूप अनुष्ठान भी होता है, करना नहीं पड़ता-आ जाता है और क्रियानय से उस निमित्त का ज्ञान कराने के लिये अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होना कहा जाता है—ऐसा एक धर्म है। किन्तु वह क्रियानय किसे देखता है? क्या मात्र शुभराग को ही देखता है अथवा आत्मद्रव्य को भी? वह धर्म आत्मा का है, इसलिए क्रियानय मात्र राग को ही नहीं देखता, किन्तु शुद्ध चिन्मात्र आत्मद्रव्य के ज्ञानसहित राग को भी जानता है।—इस प्रकार आत्मद्रव्य को देखने से उसके अवलम्बन द्वारा साधक को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि धर्म विकसित होते जाते हैं और मुक्तदशा प्रगट हो जाती है।—यह सम्यक् नयों से आत्मा को देखने का फल है।

— इस प्रकार ४२ वें क्रियानय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(43)

ज्ञाननय

ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्य-साध्यसिद्धिः ४३।

आत्मद्रव्य ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि साधे ऐसा है; मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि-रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति। [ज्ञाननय से आत्मा को विवेक की प्रधानता से सिद्धि होती है, जैसे घर के कोने में बैठा हुआ व्यापारी मुट्ठीभर चना देकर चिन्तामणि-रत्न खरीद लेता है, उसी प्रकार।] ४३.

ज्ञाननय से देखने पर, विवेक की प्रधानता से सिद्धि सधती है—ऐसा आत्मद्रव्य है। जिस प्रकार कोई रत्नों की परख करनेवाला जौहरी घर के कोने में बैठा हो और मुट्ठी भर चने देकर किसी गड़रिये से चिन्तामणि रत्न खरीद ले; उसी प्रकार आत्मा विवेक द्वारा अर्थात् सम्यग्ज्ञान द्वारा चैतन्य चिन्तामणि भगवान आत्मा को पहिचानकर, उसमें अन्तर एकाग्रता द्वारा क्षणमात्र में सिद्धि प्राप्त करता है। वहाँ विवेक की प्रधानता से अर्थात् सम्यग्ज्ञान की प्रधानता से आत्मा की सिद्धि हुई—ऐसा ज्ञाननय जानता है। ज्ञान की प्रधानता से मुक्ति हुई—ऐसा देखनेवाला ज्ञाननय, अथवा क्रिया की प्रधानता से मुक्ति हुई—ऐसा देखनेवाला क्रियानय—वे दोनों नय शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही देखते हैं और ज्ञान को आत्मोन्मुख करके एकाग्र करते हैं।

मात्र ज्ञानधर्म को मानने से मुक्ति नहीं हो जाती, किन्तु ज्ञान के साथ ही दूसरे आनन्दादि अनन्त धर्म आत्मा में हैं;—ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि करके उसके अवलम्बन से ही मुक्ति होती है। वहाँ ज्ञाननय के समय ऐसा कहा जाता है, कि विवेक की प्रधानता से सिद्धि होती है। किन्तु वह ज्ञाननय कब होता है?—तो कहते हैं कि पूर्ण आत्मा की दृष्टि

हुई हो तब। पूर्ण आत्मस्वभाव के ज्ञानपूर्वक ही 'ज्ञाननय' सिद्ध होता है; इसके अतिरिक्त ज्ञाननय सिद्ध नहीं होता। अज्ञानी को एक भी नय नहीं होता, क्योंकि यह सर्व नय तो प्रमाणज्ञान के अंश हैं; प्रमाण के बिना नय सच्चे नहीं होते। जिसे अनन्त धर्मोंवाली शुद्ध चैतन्य वस्तु का प्रमाणज्ञान नहीं हुआ है, उसे उसके एक-एक धर्म का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

यह कौन सा विषय चल रहा है? ....जिसे स्वर्गादि संयोगों को प्राप्त करने की भावना नहीं है, किन्तु आत्मा का स्वरूप जानकर उसी को प्राप्त करने की भावना है—ऐसे जिज्ञासु शिष्य ने पूछा कि—हे भगवान! यह आत्मा कौन है... और कैसे प्राप्त होता है? वह समझाइये। प्रभो! अनादि से जिसे नहीं जाना है—ऐसे आत्मा का स्वरूप जानकर, मैं उसकी प्राप्ति करूँ और संसार परिभ्रमण का अन्त आकर मुक्ति प्राप्त हो—ऐसा स्वरूप मुझे बतलाइये। ऐसी जिज्ञासावाले शिष्य को आचार्यदेव, आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं; उसका यह वर्णन चल रहा है। यदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचाने तो उसमें एकाग्र होने से उसकी प्राप्ति करे अर्थात् मुक्ति हो जावे। आत्मा का स्वरूप न जाने तो उसकी प्राप्ति कहाँ से होगी? इसलिए जिसे संसार परिभ्रमण से छूटना हो और आत्मा की मोक्षदशा प्राप्त करना हो, उसे आत्मस्वरूप को पहिचानना चाहिए।

आत्मा में एक साथ अनन्त धर्म हैं; अनन्त धर्म होने पर भी वे सब चैतन्य सामान्य से व्याप्त हैं, इसलिए शुद्ध चैतन्यस्वरूप से आत्मा का अनुभव करने से वह यथार्थतया ज्ञात होता है; शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा अनन्त धर्मों को धारण करनेवाला है, उसी के अवलम्बन से मोक्षमार्गरूप धर्म होता है, इसके अलावा अन्य किसी के अवलम्बन से धर्म नहीं होता। आत्मा के स्वरूप का सभी पक्षों से अविरुद्ध निर्णय करके, श्रुतज्ञान को अन्तरोन्मुख करके स्वानुभव द्वारा आत्मा को जानने पर उसमें एकाग्रता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होकर मुक्ति होती है; उसका नाम शुद्धात्मा की प्राप्ति है। श्रद्धा अपेक्षा से तो चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को भी शुद्धात्मा की प्राप्ति हो गयी है—उसकी प्रतीति में शुद्ध आत्मा आ गया है, किन्तु सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्राप्ति तो मुक्तदशा में है। उसकी प्राप्ति के लिये साधक जीव बारम्बार शुद्ध चैतन्यद्रव्य की ओर एकाग्र होकर उद्यम करता है। वह साधक जीव

कैसे-कैसे नयों से आत्मा को कैसा जानता है—उसका यह वर्णन है। वह प्रमाण से देखे अथवा नय से देखे, किन्तु अन्तर में अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप देखता है और उसी के आश्रय से शुद्धता को साधता है—यह बात अनेक बार स्पष्टरूप से कही जा चुकी है।

साधक को क्रियानय का उपयोग हो, उस समय भी 'ज्ञान की प्रधानता से सिद्धि होती है'—ऐसे इस धर्म का ज्ञान भी साथ ही वर्तता है और शुद्ध चैतन्य द्रव्य पर ही दृष्टि वर्तती है—यह बात ४२ वें नय के वर्णन में विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है, तदनुसार सर्वत्र समझना चाहिए।

— इस प्रकार यहाँ ४३ वें ज्ञाननय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(44)
व्यवहारनय

व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति **४४**।

आत्मद्रव्य व्यवहारनय से बन्ध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है, बन्धक (बन्ध करनेवाले) और मोचक (मुक्त करनेवाले) ऐसे अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणु की भाँति। [व्यवहारनय से आत्मा, बन्ध और मोक्ष में (पुद्गल के साथ) द्वैत को प्राप्त होता है, जैसे परमाणु के बन्ध में वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ संयोग को पानेरूप द्वैत को प्राप्त होता है और परमाणु के मोक्ष में वह परमाणु अन्य परमाणु से पृथक् होनेरूप द्वैत को पाता है, उस प्रकार।] ४४.

यहाँ ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है; उनमें से ४३ नयों का कथन हो चुका है, अब ४ नय शेष हैं। पहले व्यवहार और निश्चय, यह दो नय हैं और फिर अन्त में अशुद्ध और शुद्धनय से वर्णन है।

व्यवहार से देखने पर आत्मद्रव्य बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है। जिस प्रकार परमाणु के बन्ध में वह परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ संयोग पानेरूप द्वैत को प्राप्त होता है और परमाणु के मोक्ष में-अर्थात् एक परमाणु पृथक् हो, उसमें वह परमाणु अन्य परमाणुओं से पृथक् होनेरूप द्वैत को प्राप्त होता है; उसी प्रकार व्यवहारनय से आत्मा के बन्ध में कर्म के साथ संयोग की अपेक्षा आती है, इसलिए द्वैत है और आत्मा के मोक्ष में कर्म के वियोग की अपेक्षा आती है, इसलिए वहाँ भी द्वैत है।

देखो, कर्म से निरपेक्ष मात्र परम चैतन्यस्वभाव को ही लक्ष्य में लेकर देखें तो भगवान आत्मा त्रिकाल एकरूप बन्ध-मोक्ष रहित है, किन्तु पर्याय में बन्ध और मोक्ष हैं।

वहाँ बन्ध में कर्म के सद्भाव का निमित्त है, तथा मोक्ष में कर्म के अभाव का निमित्त है।— इस प्रकार व्यवहार से बन्ध और मोक्ष दोनों में आत्मा को पुद्गलकर्म की अपेक्षा आती है, इसलिए वह द्वैत का अनुसरण करनेवाला है-ऐसा कहा है। किन्तु वह द्वैत का अनुसरण करना आत्मा का अपना धर्म है, कहीं कर्म के कारण वह धर्म नहीं है। अपनी पर्याय में बन्ध की योग्यता के समय आत्मा स्वयं कर्म के सद्भाव का अनुसरण करता है और अपनी पर्याय में मोक्ष की योग्यता के समय वह कर्म के अभाव का अनुसरण करता है, किन्तु कर्म में ऐसा धर्म नहीं है कि वह आत्मा को जबरन अनुसरण कराये। जितना कर्म का उदय आता है, उतने प्रमाण में आत्मा को उसका अनुसरण करना ही पड़ता है—ऐसा नहीं है। कर्म के उदय का अनुसरण न करके अपने स्वभाव का अनुसरण करे तो मोक्ष का साधन हो और मोक्षदशा प्रगट हो; उस मोक्ष में आत्मा, कर्म के अभाव का अनुसरण करता है।

स्वभाव का अनुसरण न करके कर्म का अनुसरण करे तो बन्धन होता है और कर्म का अनुसरण न करके स्वभाव का अनुसरण करे-अर्थात् कर्म के अभाव का अनुसरण करे तो मोक्ष होता है। इस प्रकार बन्ध में कर्म के सद्भाव का निमित्त है और मोक्ष में कर्म के अभाव का-ऐसा जानना चाहिए। बन्ध या मोक्ष की अवस्थारूप परिणमन तो आत्मा स्वयं अकेला ही करता है, मात्र उसमें कर्म के सद्भाव या अभावरूप निमित्त की अपेक्षा आती है; इसलिए व्यवहारनय से आत्मा द्वैत का अनुसरण करनेवाला है-ऐसा कहा है, किन्तु कर्म आत्मा को बन्ध-मोक्ष कराते हैं—ऐसा उसका तात्पर्य नहीं है। निश्चय से तो आत्मा, राग करे और व्यवहार से कर्म करायें—ऐसा भी नहीं है। आत्मा स्वयं राग करे, तब कर्म का अनुसरण करता है; अर्थात् रागादिभाव, कर्म का अनुसरण है; स्वभाव का अनुसरण करने से राग नहीं होता, इसलिए राग में कर्म के निमित्त की अपेक्षा है, उसका ज्ञान करना, वह व्यवहारनय है, किन्तु कर्म राग कराते हैं—ऐसा मानना तो भ्रम है। प्रवचनसार की १२६ वीं गाथा में आचार्यदेव ने यह बात स्पष्ट की है कि अज्ञानदशा में या ज्ञानदशा में संसार में या मोक्ष में आत्मा स्वयं अकेला ही कर्ता है।

प्रश्न— किसी जीव को क्षायिक सम्यक्त्व हुआ; राग-द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा राग-द्वेषरहित ज्ञायकस्वभावी है—ऐसा भान हुआ, तथापि उसे भी राग-द्वेष क्यों होते हैं? कर्म ही उसे राग-द्वेष कराते हैं, क्योंकि राग-द्वेष करने की उसकी भावना तो नहीं है?

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व होने पर भी, और राग-द्वेषरहित चिदानन्दस्वभाव का भान होने पर भी, उस जीव को जो राग-द्वेष होते हैं, वे कर्म नहीं कराते, किन्तु वह आत्मा स्वयं ही कर्मों का अनुसरण करता है, इसलिए राग-द्वेष होते हैं; कर्मों का उदय उसे जबरन राग-द्वेष कराता है-ऐसा नहीं है। राग-द्वेष करने की धर्मी की भावना नहीं है; भावना तो स्वभाव का अनुसरण करने की है, किन्तु अभी अस्थिरता से राग-द्वेष होते हैं, वे कर्म का अनुसरण करने से होते हैं—ऐसा वह जानता है और स्वभावदृष्टि के बल से उसके प्रतिक्षण कर्मों का अवलम्बन टूटता जाता है तथा स्वभाव का अवलम्बन बढ़ता जाता है—इस प्रकार स्वभाव का पूर्ण अवलम्बन होने से जब मोक्ष होगा, उस समय आत्मा, कर्म के अभाव का अनुसरण करेगा। इस प्रकार व्यवहार से बन्ध और मोक्ष में आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है।

यहाँ साधक के नय हैं; साधक की बात है; मात्र भटकनेवाले की यह बात नहीं है। जिसकी दृष्टि में मात्र कर्मों का ही अवलम्बन है, स्वभाव का किंचित् भी अवलम्बन नहीं है, उसके तो यह व्यवहारनय भी नहीं होता। ज्ञानी को दृष्टि में तो निरपेक्ष ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन वर्तता है और अभी साधकदशा में कुछ राग-द्वेष होते हैं, उतना कर्मों का अवलम्बन है। जितना राग है, उतना कर्म का निमित्त है—ऐसा वह जानता है और स्वभाव के अवलम्बन से कर्म के निमित्तों का भी अभाव होता जाता है, उसे भी वह जानता है। यहाँ बन्ध और मोक्ष में आत्मा के अतिरिक्त अन्य की अपेक्षा आयी, इसलिए उसमें व्यवहार से द्वैत कहा है।

समयसार में दृष्टिप्रधान कथन में सम्यक्त्वी सन्त को चौथे गुणस्थान में भी अबन्ध कहा है; उसे बन्धन होता ही नहीं—ऐसा दृष्टि के बल से कहा है, किन्तु चौथे-पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में अभी चारित्र की अस्थिरता से जितने राग-द्वेष होते हैं, उतना बन्धन है और उस बन्धन में कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है, उसे साधक व्यवहारनय से जानता है; वह अबन्धस्वभाव की दृष्टि रखकर बन्धन को और उसके निमित्त को जानता है। अबन्धस्वभाव की दृष्टि बिना अज्ञानी को तो बन्धन का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता।

जैसे-एक परमाणु 'बँधा या पृथक् हुआ'—ऐसा लक्ष्य में लेने से उसमें दूसरे परमाणु की अपेक्षा आती है—'इसके साथ यह बँधा अथवा इससे यह पृथक् हुआ'—इस प्रकार दूसरे परमाणु की अपेक्षा आती है, इसलिए वह परमाणु बन्ध में और मोक्ष में द्वैत का

अनुसरण करनेवाला है; दूसरे परमाणु की अपेक्षा बिना उसे बन्ध-मोक्ष नहीं कहे जा सकते। उसी प्रकार आत्मा के बन्ध या मोक्ष को लक्ष्य में लेने से उसमें कर्म की अपेक्षा आती है; बन्ध और मोक्ष तो आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूप से करता है, किन्तु उसमें कर्म के सद्भाव की या अभाव की अपेक्षा आती है; इसलिए व्यवहारनय से आत्मा बन्ध में कर्म का अनुसरण करे अथवा मोक्ष के समय कर्म के अभाव का अनुसरण करे, वे दोनों प्रकार इसमें आ जाते हैं। साधक की पर्याय अंशत: कर्म का अनुसरण करती है और अंशत: कर्म के अभाव का भी अनुसरण करती है; सर्वथा कर्म के सद्भाव का ही अनुसरण करती है—ऐसा नहीं है, किन्तु उसी समय अंशत: स्वभाव का भी अनुसरण करती है, इसलिए कर्म के अभाव का भी अनुसरण करती है।—इस प्रकार साधक की बात है। परमपारिणामिक-भावरूप निरपेक्ष स्वभाव की दृष्टि रखकर पर्याय के बन्ध-मोक्ष में कर्म के सद्भाव की या अभाव की जितनी अपेक्षा आती है, उसे भी साधक जीव जानता है। बन्ध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करती है, वह मेरी पर्याय का धर्म है; इसलिए बन्ध-मोक्ष में कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है, तथापि उन बन्ध और मोक्ष दोनों में मेरे आत्मा की स्वतन्त्रता है—ऐसा धर्मी जानता है।

यदि कर्म आत्मा को विकार करा देता हो तो वह निमित्तरूप नहीं रहा, किन्तु निमित्त स्वयं उपादान के धर्म में आ गया, इसलिए उपादान का धर्म भी स्वतन्त्र नहीं रहा। किन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ तो आत्मा स्वयं से ही बन्ध-मोक्षरूप परिणमित होता है, किन्तु उसमें कर्म की अपेक्षा आती है, इतनी बात है। जीव स्वयं विकार करके कर्म के उदय का अनुसरण करता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। निमित्त विकार कराता है, यह मान्यता तो स्थूल विपरीत है। यदि पर विकार नहीं कराता किन्तु अपने दोष से ही विकार होता है—ऐसा मानकर भी वह विकार की ओर दृष्टि लगाये रहे—विकार जितना ही आत्मा का अनुभवन करता रहे, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ आत्मा की बन्ध-मोक्ष पर्याय में कर्म की अपेक्षा आती है, उतने द्वैत को व्यवहार कहा है और बन्ध-मोक्ष पर्याय को निरपेक्ष कहकर उसे निश्चय कहा है। और समयसार में अध्यात्मदृष्टि की प्रधानता से बन्ध-मोक्ष पर्यायों को भी व्यवहार माना है; भेद मात्र को वहाँ व्यवहार माना है और शुद्ध-अभेद आत्मा को ही निश्चय माना है। सम्यग्दृष्टि को

व्यवहार का-भेद का आश्रय नहीं है; सम्यक्त्वी की दृष्टि में तो एकरूप अभेद शुद्धात्मा ही साध्य और ध्येय है; उस ध्येय में एकाग्रता करने से पर्याय की निर्मलता बढ़ती जाती है, बन्ध टलता जाता है और मोक्ष-पर्याय होती जाती है किन्तु सम्यग्दर्शन के विषय में वह पर्याय का भेद अभूतार्थ है।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन में स्व की पर्याय को भी निश्चय कहा, और उसमें पर की अपेक्षा लागू हुई, उसे व्यवहार कहा। बन्ध-मोक्ष पर्यायरूप से आत्मा अकेला ही परिणमित होता है—ऐसा जानना, वह निश्चयनय है और उस बन्ध-मोक्षपर्याय में कर्म की अपेक्षा लेकर आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा जानना, वह व्यवहारनय है। यदि आत्मा सर्वथा कर्म के अभाव का अनुसरण करे तो मोक्षदशा होती है; सर्वथा कर्म के उदय का ही अनुसरण करे तो मिथ्यादृष्टि होता है, साधक को दोनों धाराएँ एक साथ हैं—अर्थात् स्वभाव के अवलम्बन से अंशत: कर्म के अभाव का भी अनुसरण करता है और अभी अल्प विकार है, उतने अंश में कर्म का भी अनुसरण करता है।

एक पृथक् परमाणु में योग्यता होने से वह दूसरे परमाणु के साथ बँधता है, वहाँ दूसरे परमाणु के साथ बँधने का धर्म उसका अपना है, दूसरे परमाणु के कारण उसमें बँधने का धर्म हुआ है-ऐसा नहीं है। परमाणु को बन्धन होने में 'दो गुण अधिक' साथ में बँधे—ऐसा नियम है, किन्तु छूटने में कोई नियम नहीं है। दो परमाणुओं का संयोग हुआ, वह बन्धन और दो परमाणु पृथक् हुए, वह मोक्ष—इस प्रकार बन्ध-मोक्ष में परमाणुओं का द्वैतपना है। स्पर्शगुण की चार अंश रुक्षता या चिकनाईवाले परमाणु के साथ दो अंशवाला परमाणु बँधे, तो वहाँ उस चार अंशवाले परमाणु को 'बन्धक' (बन्धनकर्ता) कहा जाता है, और अन्य परमाणु से जब वह पृथक् हो, तब अन्य परमाणु को 'मोचक' (मुक्तिकर्ता) कहा जाता है। इस प्रकार परमाणु को बन्ध-मोक्ष में अन्य परमाणु की अपेक्षा आती है, इसलिए व्यवहारनय से द्वैतपना है। उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में अपनी योग्यतानुसार बन्ध-मोक्ष होता है, वहाँ 'आत्मा बँधा और मुक्त हुआ'—ऐसा कहने में कर्म से बँधा और कर्म से छूटा—ऐसी कर्म की अपेक्षा लेने से द्वैतपना आता है; इसलिए आत्मा व्यवहारनय से द्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा आत्मा का एक धर्म है।

कार्तिकेयस्वामी कृत 'द्वादशानुप्रेक्षा' की २११ वीं गाथा में पुद्गल की बड़ी शक्ति

का वर्णन किया है। आत्मा का जो केवलज्ञानरूप महान स्वभाव, उसे आवृत करने में निमित्त हो, ऐसी पुद्गल की महान शक्ति है—ऐसा कहकर वहाँ तो निमित्तरूप से यह बतलाया है कि पुद्गल की पर्याय में कैसा उत्कृष्ट धर्म है। किन्तु इस ओर जीव का उत्कृष्टस्वभाव केवलज्ञान सामर्थ्य से परिपूर्ण है—उसकी प्रतीति करे, तभी पुद्गल के स्वभाव का यथार्थ ज्ञान होता है। अकेले पुद्गल की ही सामर्थ्य है और पुद्गल ही जीव की शक्ति को रोकता है—ऐसा जो माने, उसकी तो दृष्टि ही विपरीत है, उसने तो जीव-पुद्गल की भिन्नता भी नहीं मानी है; तो फिर जीव की और पुद्गल की शक्ति क्या है, उसकी उसे खबर नहीं पड़ सकती। पुद्गल की शक्ति पुद्गल में है और जीव का धर्म जीव में स्वतन्त्र है; पुद्गल का अथवा अपने चिदानन्दस्वभाव का अनुसरण करने में जीव स्वयं स्वतन्त्र है। व्यवहारनय से जीव के धर्म का वर्णन हो या निश्चयनय से हो; वहाँ सर्वत्र जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता रखकर वह वर्णन है—ऐसा समझना चाहिए और ऐसा समझना ही सर्वज्ञ भगवान के अनेकान्त शासन का रहस्य है। जीव स्वयं केवलज्ञानरूप परिणमित न होकर अल्पज्ञरूप परिणमित होता है, तब वह केवलज्ञानावरणीय कर्म का अनुसरण करता है। वहाँ केवलज्ञानावरणीय कर्म ने जीव की केवलज्ञान शक्ति को रोका—ऐसा कहना, वह तो मात्र निमित्त के उपचार का कथन है। भगवान! 'केवलज्ञानावरणीय कर्म है, इसलिए आत्मा को उसका अनुसरण करना पड़ता है'—ऐसा विपरीत न ले, किन्तु बन्धभाव के समय कर्म का अनुसरण करे—ऐसा तेरा अपना धर्म है—इस प्रकार आत्मा की ओर से यथार्थ ले, तो तुझे आत्मा के धर्म द्वारा आत्मद्रव्य की पहिचान हो और तेरा व्यवहारनय सच्चा हो।

त्रिकाली स्वभाव को लक्ष्य में लेकर देखें तो आत्मा शुद्ध एकरूप है; उसकी पर्याय विकारी भाव में अटके, वह भावबन्ध है और उस भावबन्ध में कर्म संयोगरूप निमित्त दूसरा है—इस प्रकार बन्ध में द्वैत है और स्वभाव में लीन होकर मोक्षपर्याय प्रगट करे, उसमें भी कर्म के नाश की अपेक्षा होने से द्वैत है। इस प्रकार पर की अपेक्षा सहित बन्ध-मोक्ष पर्याय का कथन करना, वह व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय से आत्मा बन्ध और मोक्ष दोनों में द्वैत की अपेक्षा रखनेवाला है। यहाँ, एकरूप आत्मा में बन्ध और मोक्ष—ऐसे दो प्रकार पड़े, इसलिए व्यवहार कहा हो—ऐसा नहीं है; किन्तु बन्ध और मोक्ष इन दोनों पर्यायों में पर की अपेक्षारूप द्वैत होने से उसे व्यवहार कहा है और कर्म की अपेक्षा

न लेकर आत्मा अकेला ही बन्ध-मोक्षदशारूप होता है—ऐसा लक्ष्य में लेने को निश्चय कहेंगे। इस प्रकार यहाँ बन्ध-मोक्ष पर्याय का कथन निमित्त की अपेक्षासहित करना, वह व्यवहार है और मात्र स्वयं से बन्ध-मोक्ष पर्याय का वर्णन करना, वह निश्चय है। जहाँ जिस अपेक्षा से निश्चय-व्यवहार कहे गये हों, वहाँ उस प्रकार समझ लेना चाहिए।

पुद्गल कर्म, जीव को भावबन्ध कराता है—ऐसा नहीं है, किन्तु जीव का एक ऐसा धर्म है कि अपने भावबन्ध में वह पुद्गलकर्म का अनुसरण करता है। आत्मा स्वयं निमित्त का अनुसरण करता है, किन्तु निमित्त में ऐसा धर्म नहीं है कि वह आत्मा को जबरन अनुसरण कराये! इस धर्म को समझे तो उसमें भी आत्मा की स्वतन्त्रता समझ में आ जाती है। यह जो धर्म कहे जा रहे हैं, उन धर्मोंवाला तो आत्मद्रव्य है; इसलिए अनन्त धर्मस्वरूप आत्मद्रव्य के लक्ष्यपूर्वक ज्ञानी अपने धर्म को जानता है। पर्याय में अभी बन्धभाव है, उतना आत्मा कर्म का अनुसरण करता है; क्षणिक पर्याय में ही वैसा धर्म है। आत्मा का त्रिकालीस्वभाव कर्मों का अनुसरण नहीं करता, किन्तु कर्म के अभाव का अनुसरण करता है।—ऐसे स्वभाव की प्रतीति में धर्मी को पर्याय में से कर्म का अनुसरण छूटता जाता है और कर्म के अभाव का अनुसरण होता जाता है। इस प्रकार व्यवहारनय से आत्मा, बन्ध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

पुद्गल कर्म में कहीं ऐसा धर्म नहीं है कि वह आत्मा के बन्ध-मोक्ष को करे; आत्मा स्वयं ही अपना बन्ध-मोक्ष करता है और स्वयं द्वैत का अनुसरण करता है। बन्ध और मोक्ष तो क्रमशः हैं; बन्धदशा के समय मोक्षदशा नहीं होती और मोक्षदशा के समय बन्धदशा नहीं होती, किन्तु उन बन्ध और मोक्ष दोनों दशाओं में द्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म आत्मा में है। बन्ध के समय द्वैत का अनुसरण करनेरूप दूसरा धर्म और मोक्ष के समय द्वैत का अनुसरण करनेरूप दूसरा धर्म—इस प्रकार भिन्न-भिन्न दो धर्म नहीं लिये हैं, किन्तु द्वैत का अनुसरण करनेरूप एक धर्म है, उस धर्म से आत्मा बन्ध के और मोक्ष के समय द्वैत का अनुसरण करता है, अर्थात् उसकी बन्ध-मोक्ष पर्याय में दूसरे निमित्त की अपेक्षा भी आती है।

मोक्ष पर्याय में भी आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा व्यवहार से कहा है, इसलिए उसमें कहीं पर का अवलम्बन नहीं है। अपनी मोक्ष पर्याय की योग्यता के समय

आत्मा स्वयं कर्म के अभाव का अनुसरण करता है, अर्थात् एक स्वयं और दूसरा कर्म के अभावरूप निमित्त;—इस प्रकार वह द्वैत का अनुसरण करता है। यह द्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म भी कहीं पर के आश्रय से नहीं है, वह धर्म भी आत्माश्रित है।

देखो, यह चैतन्य वस्तु की महिमा! उसमें अनन्त धर्मों का वास है। चैतन्यवस्तु में अनन्त धर्मों की बस्तियाँ बसी हैं; अनन्त धर्मों का उसमें मुहूर्त है। जिस प्रकार बड़े-बड़े मकानों का मुहूर्त करके लोग उनमें रहते हैं, किन्तु यदि आदमी न रहते हों तो खाली मकान का मुहूर्त कैसा? उसी प्रकार इस आत्मा में मुहूर्त होता है। आत्मवस्तु में कौन वास करता है?—उसमें अपने अनन्त धर्म वास करते हैं, उन अनन्त धर्मों का मुहूर्त आत्मा में है। भगवान्! अपनी ऐसी वस्तु की महिमा को लक्ष्य में लेकर उसमें तू वास कर, तो तेरा भववास मिट जाए और मोक्षदशा प्रगट हो।

आत्मा के अनन्त धर्मों में एक ऐसा धर्म है कि वह बन्ध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है। बन्ध के समय कर्म का उदय है, इसलिए उस कर्म के कारण आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है-ऐसा नहीं है, क्योंकि मोक्ष के समय तो कर्म का अभाव होने पर भी वहाँ भी आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है-ऐसा कहा है। व्यवहारनय से मोक्ष में भी पर की (कर्म के अभाव की) अपेक्षा लागू होती है, इसलिए वहाँ भी आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है-ऐसा कहा है। इस प्रकार द्वैत का अनुसरण करने में भी आत्मा की स्वतन्त्रता है, किन्तु ऐसा नहीं है कि कर्म के उदय का जोर है; इसलिए आत्मा को उसका अनुसरण करके बन्धभाव करना पड़ता है और कर्म छोड़ेगा, तब आत्मा की मुक्ति होगी। आत्मा बन्धन के समय स्वयं कर्म का अनुसरण करता है और मोक्ष के समय स्वयं कर्म के अभाव का अनुसरण करता है:—ऐसा द्वैत का अनुसरण करने का धर्म अपना है। परोन्मुखदृष्टि से उसके इस धर्म का स्वीकार यथार्थतया नहीं हो सकता, किन्तु आत्मद्रव्योन्मुख दृष्टि रखकर ही उस धर्म का यथार्थतया स्वीकार होता है।

आत्मा के एक धर्म का यथार्थ स्वीकार करने जाए तो उसमें भी सारा रहस्य आ जाता है। आत्मा एक वस्तु, उसमें अनन्त धर्म, उन अनन्त धर्मोंरूप वस्तु को जाननेवाला प्रमाणज्ञान, प्रत्येक धर्म को जाननेवाला एक-एक नय, ऐसे अनन्त नयों स्वरूप श्रुतज्ञान प्रमाण, अवस्था में विकार और उसका निमित्त—यह सब रहस्य इसमें समा जाता है। ऐसी बात सर्वज्ञकथित जैनदर्शन के अतिरिक्त कहीं नहीं आती।

यहाँ आत्मद्रव्य समझाने के लिये उसके भिन्न-भिन्न धर्मों द्वारा उसका वर्णन किया है; उसमें जोर कहाँ देना है ? एक-एक धर्म का भेद करके उस पर जोर नहीं देना है, किन्तु आत्मा के इन धर्मों द्वारा धर्मी ऐसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मद्रव्य का निर्णय करके उस पर दृष्टि का जोर देना है। अन्तर में अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखना ही इन सब नयों का तात्पर्य है। इसके अतिरिक्त निमित्त पर, विकार पर या भेद पर जोर देना किसी भी नय का तात्पर्य नहीं है। शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मद्रव्य अनन्त धर्मों के पिण्डरूप है, उसी के यह सब धर्म हैं—ऐसा जानकर, उस शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा का ही अवलम्बन करने से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है अर्थात् आत्मा की पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

देखो, यहाँ व्यवहारनय में भी ऐसा नहीं है कि कर्म का उदय आत्मा को बन्धन कराये। व्यवहारनय से कर्म की इतनी अपेक्षा है कि आत्मा स्वयं बन्ध के समय उसका अनुसरण करता है। कर्म का ऐसा धर्म नहीं है कि आत्मा को बन्ध-मोक्ष कराये। बन्ध-मोक्ष के समय कर्म के सद्भाव या अभाव का अनुसरण करे, ऐसा आत्मा का धर्म है। व्यवहारनय भी आत्मा के धर्म को बतलाता है, वह कहीं निमित्त के धर्म को नहीं बतलाता। 'व्यवहारनय से आत्मा बन्ध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है'—ऐसा कहा, उसमें द्वैत का अनुसरण करनेरूप जो धर्म है, वह तो आत्मा में निश्चय से ही है। व्यवहारनय के विषयरूप धर्म भी आत्मा में निश्चय से ही है; व्यवहारनय के विषयरूप धर्म आत्मा में नहीं है—ऐसा नहीं है; आत्मा के जो अनन्त धर्म हैं, वे सब निश्चय से आत्मा में हैं। उनमें से इस बन्ध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाले धर्म द्वारा आत्मा को लक्ष्य में लेनेवाला ज्ञान, वह व्यवहारनय है, क्योंकि वह निमित्त की अपेक्षा लेकर बन्ध-मोक्ष को जानता है; इसलिए वह व्यवहारनय है।

जिस प्रकार—दो अंश या उससे अधिक रूक्षता अथवा चिकनाईवाले परमाणु में बन्ध होने की योग्यता होने पर वह परमाणु अपने से दो अंश ही अधिक ऐसे अन्य परमाणु या स्कन्ध का अनुसरण करके स्वयं भी उतनी रूक्षता या चिकनाईरूप परिणमित होकर बँधता है; इस प्रकार व्यवहारनय से उस परमाणु ने बन्ध में द्वैत का अनुसरण किया है। अनुसरण करने का धर्म तो उस परमाणु का अपना है; कहीं दूसरे दो अंश अधिक परमाणु के कारण वह धर्म नहीं आया। उसी प्रकार उस परमाणु की योग्यता होने पर स्कन्ध से पृथक् हो, वहाँ भी अन्य परमाणु से पृथक् होनेरूप द्वैत का अनुसरण करता है।—इस

प्रकार आत्मा बन्ध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है। बन्धन कहने से कर्म के संयोग की और मोक्ष कहने से कर्म के वियोग की अपेक्षा आती है। आत्मा और कर्म—ऐसे द्वैत के बिना बन्ध-मोक्ष सिद्ध नहीं होते; इसलिए व्यवहारनय से बन्ध में और मोक्ष में आत्मा द्वैत का अनुसरण करनेवाला है। व्यवहारनय से भी ऐसा नहीं कहा कि पर के कारण आत्मा को बन्ध-मोक्ष होते हैं। बन्ध-मोक्ष तो स्वयं से ही होते हैं, किन्तु व्यवहार से उसमें कर्म के संयोग-वियोग की अपेक्षा आती है; इसलिए बन्ध-मोक्ष में द्वैत गिना है।—ऐसा समझे तो कर्म के कारण जीव को बन्ध-मोक्ष होने की मान्यता न रहे, इसलिए पराधीनदृष्टि न रहे, किन्तु यह धर्म आत्मा का है, इसलिए आत्मद्रव्य की ओर देखता रहता है।

जिसकी दृष्टि का जोर विकार पर है, उसे आत्मा के एक भी धर्म की यथार्थ पहिचान नहीं होती। धर्म द्वारा धर्मी ऐसे शुद्धचैतन्यरूप आत्मद्रव्य को पहिचानकर उस पर दृष्टि का जोर लगने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है और तभी आत्मा के धर्मों की यथार्थ पहिचान होती है। इस प्रकार इस किसी भी धर्म के ज्ञान द्वारा अनन्त धर्म के पिण्डरूप शुद्धचैतन्य द्रव्य को दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करना ही कर्तव्य है।

अहो! अनन्त गुणों से स्वाधीन ऐसे चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा को पहिचानकर उसकी महिमा और अनुभव करे तो अनादिकालीन मिथ्यात्व का महापाप छूटकर आत्मा हल्का (भाररहित) हो जाए। एक बार ऐसे आत्मा पर दृष्टि करते ही अनन्त संसार के कारणरूप मोहभाव छूट जाए और मोक्ष की नि:शंकता से आत्मा एकदम हल्का (भाररहित) हो जाए। फिर उस शुद्ध आत्मा का अवलम्बन लेकर ज्यों-ज्यों उसमें एकाग्रता होती जाती है, त्यों-त्यों अविरति आदि पाप भी छूटकर आत्मा हल्का होता जाता है और अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन बढ़ता जाता है। अन्त में शुद्धात्मस्वरूप में पूर्णतया एकाग्र होने से विकार का भार सर्वथा दूर होकर आत्मा बिल्कुल हल्का हो जाता है अर्थात् सम्पूर्ण शुद्ध हो जाता है और पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो जाता है। पहले बन्धदशा में कर्म के निमित्त का सद्भाव था और अब मोक्षदशा में कर्म का अभाव हो गया; इसलिए कर्म से छुटकारा हुआ।—इस प्रकार आत्मा बन्ध तथा मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा उसका एक धर्म है, और उस धर्म से आत्मा को जाननेवाला ज्ञान, वह व्यवहारनय है।

— इस प्रकार ४४ वें व्यवहारनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(45)
निश्चयनय

निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणत-परमाणुवद्बन्ध-मोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ४५।

आत्मद्रव्य निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्धमोक्षोचित स्निग्धत्वरूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति। [निश्चयनय से आत्मा अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बन्ध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध या रूक्षत्वगुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, उस प्रकार।] ४५.

आत्मद्रव्य निश्चय से बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है। जिस प्रकार बन्ध-मोक्ष के योग्य ऐसी रूक्षता या चिकनाईरूप परिणमित होकर परमाणु अकेला ही बँधता या मुक्त होता है; इसी प्रकार निश्चयनय से आत्मा अकेला ही बन्ध या मोक्षदशारूप होता है; बन्ध में या मोक्ष में अपनी योग्यता से ही परिणमित होता है; उसमें निश्चय से दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता। यहाँ बन्ध-मोक्ष की पर्याय को निश्चयनय का विषय कहा है; उस बन्ध-मोक्ष में पर की अपेक्षा न लेकर अकेले आत्मा से ही उन पर्यायों का होना मानना चाहिए-वह निश्चयनय है। उस निश्चयनय से बन्ध-मोक्ष में आत्मा अकेला ही है, इसलिए वह अद्वैत का अनुसरण करता है।

यहाँ, निश्चयनय से आत्मा बन्ध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा कहा; उसमें 'निश्चय से आत्मा के त्रिकाल एकरूप स्वभाव की-जो कि दृष्टि का विषय है'—बात नहीं है; किन्तु बन्ध-मोक्ष पर्याय में आत्मा अकेला ही परिणमित होता है—इस प्रकार अकेले आत्मा की अपेक्षा से बन्ध-मोक्ष पर्याय को लक्ष्य में लेने की बात है। बन्धपर्याय में भी अकेला आत्मा ही परिणमित होता है और मोक्षपर्याय में भी अकेला

आत्मा ही परिणमित होता है—इस प्रकार बन्ध-मोक्षपर्याय निरपेक्ष है, इसलिए निश्चय से आत्मा बन्ध में और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है—ऐसा उसका एक धर्म है।

वस्तु के एक ही धर्म को जानने में न रुककर, उस धर्म द्वारा अनन्त धर्मों को धारण करनेवाली ऐसी पूर्ण चैतन्यवस्तु को पहिचाने तो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान हो। पुण्य के शुभराग से धर्म होता है—ऐसा जिसने माना, उसने अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा को नहीं माना है, किन्तु एक क्षणिक विकार को ही आत्मा माना है। शुभराग तो आत्मा के अनन्त गुणों में से एक चारित्रगुण को एक समय की विकारी पर्याय है; उसी समय आत्मा में उस चारित्रगुण की अनन्ती शुद्ध-पर्यायें होने की शक्ति है, तथा चारित्र के अतिरिक्त ज्ञान-श्रद्धादि अनन्त गुण हैं। यदि ऐसे अनन्त गुणों को धारण करनेवाले आत्मा को लक्ष्य में ले तो उस जीव को क्षणिक राग में एकत्वबुद्धि न हो और न वह राग से लाभ माने। क्षणिक राग से लाभ माननेवाले ने अनन्त धर्म के पिण्ड शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं माना, इसलिए उसे धर्म नहीं होता।

हे भगवान! आत्मा कैसा है—कि जिसे पहिचानकर अन्तर में एकाग्र होने से धर्म हो?—ऐसा जिज्ञासु शिष्य ने पूछा है; उसका यह उत्तर चल रहा है। उसमें आचार्यदेव ने अनेक नयों से वर्णन करके आत्मा का स्वरूप समझाया है। नयों से आत्मा के जिन-जिन धर्मों का वर्णन किया है, वे सब धर्म आत्मा में स्वयं से ही हैं; पर के कारण आत्मा के धर्म नहीं हैं; इसलिए पर-सन्मुख देखना नहीं रहता, किन्तु धर्म के आधाररूप ऐसे शुद्ध चैतन्य द्रव्य की ओर देखना रहता है।

निश्चय से आत्मा स्वयं अकेला ही बन्ध-मोक्षरूप परिणमित होता है; बन्ध होने में कर्म का निमित्त और मोक्ष होने में देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त—इस प्रकार पर की अपेक्षा से बन्ध-मोक्ष को लक्ष्य में लेना, वह व्यवहार है। आत्मा स्वयं अपनी पर्याय में हीं बँधता है और स्वयं अपनी पर्याय में ही मोक्ष प्राप्त करता है;—इस प्रकार बन्ध-मोक्ष में स्वयं अकेला होने से निश्चय से आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है। निश्चय से बन्ध में या मोक्ष में आत्मा अपने भाव का ही अनुसरण करता है, पर का अनुसरण नहीं करता। स्वयं विकारभावरूप परिणमित होकर उस विकार से बँधता है और शुद्ध चैतन्यस्वभाव के

आश्रय से स्वयं ही शुद्धभावरूप परिणमित होकर मुक्त होता है;—इस प्रकार निश्चय से आत्मा बन्ध में या मोक्ष में अपने अतिरिक्त किसी पर का अनुसरण नहीं करता; इसलिए बन्ध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करे, ऐसा उसका धर्म है। यह बात समझे तो बन्ध-मोक्षरूप परिणमित होनेवाले ऐसे आत्मा पर दृष्टि जाये और शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा दृष्टि में आ जाए। फिर परवस्तु बन्ध-मोक्ष कराती है, यह मान्यता तो रह ही नहीं सकती।

जिसके ऐसी दृष्टि हुई है कि—'बन्ध-मोक्षरूप से मेरा आत्मा अकेला ही परिणमित होता है;'—उसको अपने में मात्र बन्धरूप परिणमन नहीं होता, किन्तु मोक्षमार्गरूप परिणमन प्रारम्भ हो ही जाता है। ४४ वें नय में व्यवहारनय से बन्ध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करने का धर्म कहा, उसमें भी, वह धर्म आत्मा का अपना होने से आत्मद्रव्यसन्मुख देखना आता है; कहीं पर-सन्मुख दृष्टि करना नहीं आता। द्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म और अद्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म भी आत्मा में है।—इस प्रकार अनन्त धर्म एक साथ वर्तते हैं; उन सब धर्मों का स्वीकार करने से सम्पूर्ण आत्मद्रव्य ही शुद्धचैतन्यमात्ररूप से दृष्टि में आ जाता है। अनन्त धर्मों के पिण्डरूप पूर्ण आत्मद्रव्य को भूलकर एक धर्म पर ही लक्ष्य रखा करे तो वहाँ आत्मद्रव्य यथार्थरूप से प्रतीति में नहीं आता। अनन्त धर्मात्मक आत्मद्रव्य को लक्ष्य में लेने से वह शुद्ध चैतन्यमात्ररूप से दृष्टि में (-प्रतीति में) आता है; वहाँ अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है और अनादिकालीन मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। यहाँ से साधकदशा का अपूर्व प्रारम्भ होता है। किन्तु उस शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में ही एकाग्र होने से चारित्रदशारूप मुनिपना प्रगट होता है और अस्थिरता का नाश हो जाता है।—यही धर्म और मोक्षमार्ग है।

अनन्त धर्मस्वरूप अपने आत्मा की महिमा न आकर अज्ञानी को पर की महिमा आती है, और अधिक से अधिक एक-एक धर्म का भेद करके उसी के विकल्प में लाभ मानकर अटक जाता है, इसलिए शुद्ध चैतन्यद्रव्य उसकी प्रतीति में नहीं आता, और न उसके मिथ्यात्व का नाश होता है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि बन्धमार्ग में भी आत्मा स्वयं अकेला ही बन्धभाव को करता है; मोक्षमार्ग में भी आत्मा अकेला ही अपने ही छह कारकों से स्वयं मोक्षमार्गरूप

परिणमित होता है और मोक्ष में भी स्वयं अकेला ही है। मोक्षमार्ग के समय व्यवहार से दूसरे निमित्त की अपेक्षा भले हो, किन्तु वास्तव में आत्मा मोक्षमार्ग में अपने स्वभाव का ही अनुसरण करता है। पर का अनुसरण करने से मोक्षमार्ग नहीं है। 'बन्धमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में, मैं अकेला ही हूँ, किसी अन्य द्रव्य के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है'—ऐसा निर्णय करनेवाला जीव, परद्रव्य की एकत्वबुद्धि तोड़कर स्व-द्रव्योन्मुख होने से शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। इस प्रवचनसार की १२६ वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा था कि—जब मैं संसारी था, तब (अज्ञानदशा में) भी सचमुच मेरा कोई नहीं था, उस समय भी मैं अकेला ही कर्ता था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरोक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतन्त्र था... और अभी मुमुक्षुदशा में अर्थात् ज्ञानदशा में भी सचमुच मेरा कोई नहीं है... अब भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ; क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतन्त्र हूँ...—इस प्रकार बन्धमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है—ऐसी भावनावाला यह पुरुष, परमाणु की भाँति एकत्वभावना में उन्मुख-तत्पर होने से उसे परद्रव्यरूप परिणति बिल्कुल नहीं होती; और परमाणु की भाँति, एकत्व की भावना करनेवाला पुरुष, पर के साथ संपृक्त नहीं होता; इसलिए परद्रव्य के साथ असंपृक्तपने के कारण वह सुविशुद्ध होता है।

बन्ध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करने की बात कही, उसमें भी बन्ध-मोक्ष तो जीव की अपनी ही योग्यता से है, कहीं पर के कारण बन्ध-मोक्ष नहीं है, किन्तु साथ ही वहाँ निमित्त की अपेक्षा का ज्ञान कराया है और यहाँ बन्ध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करने को कहकर यह बतलाया है कि बन्ध में, मोक्षमार्ग में या मोक्ष में परद्रव्य से निरपेक्षरूप आत्मा स्वयं अकेला ही परिणमित होता है; बन्ध-मोक्ष स्वतः अपने से ही होता है। निश्चय से आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा यहाँ कहा, उसका यह अर्थ नहीं है कि 'आत्मा को बन्धन है ही नहीं।' बन्धन में भी निश्चय से आत्मा अकेला ही परिणमित होता है, इसलिए उसे अद्वैत का अनुसरण करनेवाला कहा है—ऐसा समझना।

जिस प्रकार परमाणु स्वयं अपने में ही बन्ध या मोक्ष को उचित ऐसी रूक्षता-चिकनाईरूप परिणमित होता है; दूसरे परमाणुओं के साथ बँधे, उस समय भी बन्धदशारूप स्वयं अपने में ही परणिमित होता है और अन्य परमाणुओं से पृथक् हो, तब उस पृथक् होने की अवस्थारूप भी स्वयं अपने में ही परिणमित होता है। इस प्रकार निश्चय से उस

परमाणु के बन्ध-मोक्ष में दूसरे परमाणु की अपेक्षा नहीं है; उसी प्रकार निश्चयनय से देखने पर, आत्मा के बन्ध-मोक्ष में पर की अपेक्षा नहीं है; आत्मा स्वयं अकेला ही बन्ध-मोक्ष के योग्य अपनी पर्याय से बँधता या छूटता है। व्यवहारनय से भी आत्मा को बन्ध-मोक्षरूप कोई दूसरा परिणमित नहीं करता, किन्तु व्यवहारनय से आत्मा के बन्ध-मोक्ष में पर निमित्तों की अपेक्षा आती है, तथापि वहाँ भी बन्ध-मोक्षरूप से आत्मा स्वयं अकेला ही परिणमित होता है। 'मैं पर की क्रिया करता हूँ और परवस्तु मेरी बन्ध-मोक्षदशा की कर्ता है'—ऐसा माननेवाला तो महान मिथ्यात्व का स्वामी है; अपने स्वाधीन धर्मों का उसे भान नहीं है और परवस्तु को भी वह स्वतन्त्र नहीं मानता।—ऐसे मिथ्यादृष्टि को किंचित् धर्म नहीं होता।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है; उस वस्तु में उसके अनन्त धर्म एक साथ विद्यमान हैं। एक साथ अनन्त धर्मों सहित वस्तु को जाननेवाला ज्ञान, वह प्रमाण है और उसके धर्मों को मुख्य-गौण करके जाननेवाला ज्ञान, वह नय है। अनन्त धर्मस्वरूप पूर्ण वस्तु के ज्ञानपूर्वक उसके किसी भी धर्म को मुख्य करके जाने तो वह नय सच्चा है। पूर्ण वस्तु के ज्ञानरहित नय सच्चा नहीं होता। इस प्रकार साधक को ही नय होते हैं।

यहाँ ४४-४५ वें नयों में सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों प्रकार से आत्मा की बन्ध-मोक्ष पर्याय का ज्ञान कराया है। एक आत्मा को बन्ध-मोक्ष में कर्म की अपेक्षा आये और दूसरे आत्मा को बन्ध-मोक्ष कर्म की अपेक्षा बिना हों—इस प्रकार भिन्न-भिन्न दो आत्माओं के धर्मों की यह बात नहीं है, किन्तु एक ही आत्मा के धर्मों की बात है। एक ही आत्मा में ऐसे दो धर्म एक साथ हैं कि व्यवहारनय से वह बन्ध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है और निश्चयनय से बन्ध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है। यहाँ प्रमाण के विषयरूप वस्तु का वर्णन है, इसलिए आत्मा की अवस्था में बन्धन होता है, वह भी आत्मा का धर्म है; कहीं परवस्तु के कारण वह बन्धन नहीं है। वह बन्धन होनेरूप धर्म आत्मा के त्रिकाली स्वभावरूप नहीं है, किन्तु बन्ध होनेयोग्य क्षणिक पर्याय के आश्रित वह धर्म है; इसलिए बन्ध की योग्यता दूर होकर शुद्ध द्रव्य के आश्रय से मोक्ष की योग्यता होने पर सिद्धदशा में उस बन्धन होनेरूप धर्म का अभाव हो जाता है।

यह मुख्यतया ध्यान रखना चाहिए कि प्रमाण के विषयरूप वस्तु को जानने से भी

ज्ञान का बल त्रिकाली शुद्ध द्रव्यस्वभाव की ओर ही जाता है, क्योंकि वस्तु का त्रिकाली शुद्ध स्वभाव और क्षणिक अशुद्धता—इन दोनों को जाननेवाला ज्ञान क्षणिक अशुद्धता में ही न अटककर त्रिकाली शुद्ध स्वभाव की ही महिमा करके उसमें एकाग्र होता है। इस प्रकार अनन्त धर्मात्मक वस्तु को जाननेवाले की दृष्टि शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही होती है; यदि ऐसी दृष्टि न हो तो उसे वस्तु का ज्ञान ही सच्चा नहीं है।

बन्ध-मोक्ष में आत्मा अकेला ही है—ऐसा जाने तो आत्मा को परद्रव्यों से भिन्न समझे और अपने अनन्त धर्म अपने में ही हैं—ऐसा जानकर शुद्ध आत्मा की दृष्टि करे। किसी भी परद्रव्य के कारण वह आत्मा को बन्ध-मोक्ष होना न माने। निश्चय से आत्मा अपने बन्ध-मोक्ष में पर की अपेक्षारूप द्वैत का अनुसरण नहीं करता, अद्वैत का अनुसरण करके स्वयं अकेला ही बन्ध-मोक्षरूप परिणमित होता है।

कर्म का निमित्त है, इसलिए जीव को बन्धन हुआ ?—नहीं। कर्म छूटे, इसलिए जीव की मुक्ति हुई ?—नहीं। कर्म की पर्याय कर्म में और जीव की पर्याय जीव में।

जीव स्वयं अपनी पर्याय में विकाररूप परिणमित हुआ, इसलिए बन्धन हुआ, और जीव स्वयं अपनी पर्याय में मोक्षरूप परिणमित हुआ, इसलिए मुक्ति हुई।—इस प्रकार निश्चयनय से बन्ध-मोक्ष में आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है अर्थात् उसमें पर की अपेक्षा नहीं है। ऐसा होने पर भी व्यवहारनय से, आत्मा की बन्ध-मोक्षपर्याय में कर्म के संयोग-वियोग की जो अपेक्षा है, उसका भी साधक को ज्ञान है-यह बात ४४ वें नय में सिद्ध की है।

— इस प्रकार यहाँ ४५ वें निश्चयनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(46)
अशुद्धनय

अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ४६।

आत्मद्रव्य अशुद्धनय से, घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र की भाँति, सोपाधिस्वभाववाला है। ४६.

जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा, रामपात्र आदि अवस्थाएँ होती हैं, वह उसका एकरूप भाव नहीं है, उस अपेक्षा से वह उपाधिभाव है; उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में जो विकारी भाव होते हैं, वह उसका एकरूप स्वभाव नहीं, किन्तु उपाधिभाव है—अशुद्ध है। पुद्गल में तो घड़ा आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती रहती हैं—ऐसा उसका स्वभाव है; किन्तु आत्मा की पर्याय में जो अशुद्धता होती है, वह सदैव होती रहे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; अर्थात् अशुद्धता उसका स्थायी स्वभाव नहीं है किन्तु उपाधिभाव है, तथापि उस उपाधिभाव को भी एक समयपर्यंत की पर्याय में आत्मा ने धारण कर रखा है; इसलिए वह भी आत्मा का एक धर्म है और उस धर्म की अपेक्षा से देखने पर आत्मा सोपाधि स्वभाववाला है। यहाँ 'सोपाधि स्वभाव' कहा, उसे त्रिकाली स्वभाव नहीं समझना, किन्तु वह अशुद्ध पर्याय जितना क्षणिक स्वभाव है। ज्ञानी जानते हैं कि यह अशुद्धता है और मेरी पर्याय में होती है, इसलिए अशुद्धनय से मैं उपाधिवाला-अशुद्ध हूँ।

ध्यान रहे, कि यहाँ अशुद्धनय से आत्मा का वर्णन करते हैं। उसमें भी शुद्धचैतन्यमात्र आत्मद्रव्य की दृष्टि कराने का ही तात्पर्य है।—किस प्रकार? देखो, यह अशुद्धनय से अशुद्धता दिखायी देती है, वह तो एक क्षणिक धर्म है और आत्मद्रव्य तो एक साथ अनन्त धर्मोंवाला है; अनन्त धर्मों को स्वीकार करते हुए शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा की दृष्टि हुए बिना नहीं रहती; इसलिए यह अशुद्धनय भी उसी को होता है, जिसकी दृष्टि शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा पर हो। 'अशुद्धनय' वह स्वयं कहीं अशुद्धता नहीं है, वह स्वयं तो श्रुतज्ञान का एक निर्मल पक्ष है।

आत्मा में अनन्त धर्म हैं, उनके लक्ष्यपूर्वक साधक जीव उपाधिधर्म को जानता है; अशुद्धतारूप क्षणिक उपाधिधर्म के समय ही मेरे आत्मा में शुद्धस्वभावरूप निरुपाधिक धर्म भी साथ ही है—ऐसा साधक जानता है; इसलिए अशुद्धनय से उपाधि को जानते समय निरुपाधिक स्वभाव का भी उसके अंशत: परिणमन वर्तता है। साधक के अकेली अशुद्धता ही परिणमित नहीं होती, अशुद्धता के समय अंशत: शुद्धता भी साथ ही रहती है और उसी के सम्यक् अनेकान्त तथा नय होते हैं। जिस जीव को अपने में मात्र अशुद्धता का ही परिणमन भासित होता है और शुद्धता किंचित्मात्र भासित नहीं होती, उसके तो ऐसा अशुद्धनय भी नहीं होता; वह तो मिथ्यादृष्टि है; मिथ्यादृष्टि को एक भी नय सच्चा नहीं होता।

विकार की जो उपाधि है, वह भी जीव की वर्तमान पर्याय का स्वभाव है; अशुद्धनय से देखने पर आत्मा उस उपाधियुक्त दिखायी देता है। राग से धर्म होता है, व्यवहार के आश्रय से निश्चय होता है—ऐसी मिथ्या मान्यता का भाव तो अज्ञानी का उपाधिभाव है। मिथ्या मान्यता दूर होने के पश्चात् अस्थिरता से जो क्रोधादि भाव होते हैं, वह भी उपाधिभाव है। वह उपाधिभाव भी आत्मा में होता है—ऐसा ज्ञानी अशुद्धनय से जानते हैं। यहाँ नय की बात है; नय ज्ञानी के ही होते हैं और मिथ्यात्व का उपाधिभाव उसके नहीं होता। मिथ्यात्व के अतिरिक्त जो रागादि उपाधिभाव होते हैं, वे किसी पर के कारण नहीं किन्तु अपनी पर्याय का वैसा स्वभाव है—ऐसा धर्मी जानता है। द्रव्य के शुद्धस्वभाव के ज्ञानपूर्वक वह पर्याय की अशुद्धता को जानता है। आत्मा की पर्याय में जो विकारी भाव होते हैं, वह उसका एक समय का उपाधिभाव है; वह उपाधिभाव पर में नहीं है और न पर के कारण है, किन्तु आत्मा की पर्याय का वैसा धर्म है। उपाधिभाव होने का धर्म यदि आत्मा का अपना न हो तो दूसरे अनन्त परद्रव्य एकत्रित होकर भी उसमें उपाधिभाव की उत्पत्ति नहीं करा सकते। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक का जो उपाधिभाव -विकारभाव-उदयभाव-संसारभाव है, उसे उस-उस पर्याय में आत्मा स्वयं धारण कर रखता है, इसलिए अशुद्धनय से वह भी आत्मा का धर्म है; वह त्रिकाली स्वभाव नहीं है और न पर के कारण है। लक्ष्मी-शरीर-स्त्री-पुत्र-घरबार-दुकान आदि परवस्तुओं की उपाधि आत्मा में नहीं है; आत्मा पर की उपाधिवाला नहीं है, किन्तु अपनी पर्याय में जो विकार होता है, उस विकार की उपाधिवाला आत्मा है। 'उपाधि' कहते ही यह बात उसमें

आ जाती है कि वह स्थायी मूलस्वभाव नहीं है। पर्याय में एक समय की उपाधि है, किन्तु शुद्धनय से अन्तर्मुख स्वभाव को देखने से उसमें उपाधि नहीं है।—इस प्रकार दोनों पक्षों से आत्मद्रव्य को जानना और जानकर शुद्धता की ओर ढलना, उसका नाम धर्म है। त्रिकाल निरुपाधि ऐसा शुद्धद्रव्य और क्षणिक उपाधिरूप अशुद्धता—दोनों की यथार्थ पहिचान होने पर, शुद्धद्रव्य की दृष्टि से पर्याय का उपाधिभाव दूर होता जाता है और शुद्धता बढ़ती जाती है।

अशुद्धनय से उपाधिस्वभाववाला है,—लेकिन कौन ?—तो कहते हैं आत्मद्रव्य। वह आत्मद्रव्य कैसा है ? एक साथ अनन्त धर्मोंवाला है; आत्मद्रव्य सर्वथा अशुद्ध-उपाधिवाला-नहीं है, किन्तु अशुद्धनय के समय भी धर्मी को दूसरे शुद्ध पक्ष का ज्ञान वर्तता है। अनन्त धर्मवाले शुद्ध आत्मद्रव्य के लक्ष्य से उपाधिस्वभाव का यथार्थ ज्ञान होता है; अकेली उपाधि के लक्ष्य से उपाधि का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु एकान्त अशुद्धनय हो जाता है।

उपाधिभाव एक समय की पर्याय का धर्म है; त्रिकालस्थायी रहे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। यहाँ प्रमाण के विषय में द्रव्य-पर्याय दोनों का वर्णन है; इसलिए उपाधिभाव को भी आत्मा का स्वभाव कहकर उस पर्याय का ज्ञान कराया है। विकार को एक समयपर्यन्त आत्मा ने स्वयं धारण कर रखा है; यदि उसे न जाने तो पूरी वस्तु का प्रमाणज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए सम्यग्ज्ञान नहीं होगा।

क्या पंचम काल के कारण आत्मा में उपाधि है ?—नहीं; पंचम काल के कारण उपाधि नहीं है, किन्तु जीव का ही वैसा धर्म है। देखो, सन्त ऐसा कहते हैं कि तेरा उपाधिभाव तेरे ही कारण है-पर के कारण नहीं है; तथापि जो जीव ऐसा नहीं मानता और पर के कारण उपाधि मानता है, वह वास्तव में भगवान की या सन्तों की आज्ञा नहीं मानता। पंचम काल में जन्म लेनेवाला कोई जीव उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर ले—ऐसा कभी नहीं हो सकता—लेकिन उसका कारण ? कहीं पंचम काल के कारण केवलज्ञान नहीं रुका है, किन्तु जीव की अपनी पर्याय में उस प्रकार के उपाधिभाव के कारण ही केवलज्ञान रुका है।

पुनश्च, जिसे नरकगति की आयु बँधी हो, उसे पंचम गुणस्थान नहीं आता; जुगलिया में, देवगति में या नरक में सम्यग्दर्शन होता है, किन्तु व्रतादि नहीं होते—पंचम

गुणस्थान नहीं होता। तीसरे नरक तक से निकलकर मनुष्य हुआ जीव ही तीर्थंकर हो सकता है, तत्पश्चात् चौथे नरक से निकला हुआ जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है, किन्तु तीर्थंकर नहीं हो सकता; पाँचवें नरक से निकला हुआ जीव मुनिदशा प्राप्त कर सकता है, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता; छठवें नरक से निकला हुआ जीव पाँचवें गुणस्थान की श्रावकदशा प्राप्त कर सकता है, किन्तु मुनिदशा प्राप्त नहीं कर सकता; सातवें नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य नहीं होता—ऐसा नियम है।—लेकिन उसका कारण ? क्या कर्म के अथवा पूर्व पर्याय के कारण वैसा होता है ?—नहीं; उन-उन जीवों को उस पर्याय में ही वैसा उपाधिभावरूप धर्म है, और उस कारण ही उसके केवलज्ञानादि अटके हैं।

सम्यक्त्वी जानता है कि मेरी पर्याय में ही ऐसा उपाधिभाव है, इसलिए केवलज्ञान, मुनिदशा अथवा श्रावकदशा अटकी है, किसी पर के कारण मेरी दशा नहीं अटकी है और न पर के कारण उपाधिभाव है। क्षणिक उपाधि के समय भी शुद्धनय से तो मैं निरुपाधिक शुद्ध स्वभाव हूँ—ऐसा भान धर्मी के दूर नहीं होता। पूर्व काल के वैसे उल्टे संस्कार हैं, इसलिए वर्तमान में उपाधिभाव है—ऐसा कहना, वह पूर्व पर्याय के उपचार का कथन है; वास्तव में तो वर्तमान पर्याय ही वैसे उपाधिस्वभावरूप से हुई है, इसलिए उस पर्याय का ही वैसा धर्म है। उसी प्रकार सिद्धदशा होने से ऊर्ध्वगमन होता है, वह पूर्व प्रयोग के कारण होता है—ऐसा कहना भी उपचार का कथन है; वास्तव में तो उसकी उस समय की पर्याय का ही वैसा ऊर्ध्वगमनस्वभाव है। वह ऊर्ध्वगमनस्वभाव उपाधिभाव नहीं है, किन्तु पर्याय का निरुपाधिक भाव है। धर्मी जीव अपनी पर्याय के उपाधि धर्म को जानता हो या निरुपाधिस्वभाव को जानता हो, किन्तु शुद्ध चैतन्यद्रव्य से उसकी दृष्टि नहीं हटती।

— इस प्रकार यहाँ ४६ वें अशुद्धनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

(47)
शुद्धनय

शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रव-न्निरुपाधिस्वभावम् ४७।

आत्मद्रव्य शुद्धनय से, केवल मिट्टी मात्र की भाँति, निरुपाधिस्वभाववाला है। ४७.

आत्मद्रव्य शुद्धनय से केवल मिट्टी मात्र की भाँति निरुपाधि स्वभाववाला है। जिस प्रकार अकेली मिट्टी का पिण्ड पड़ा हो, वह केवल मिट्टी ही है; उसमें कोई उपाधि नहीं है; उसी प्रकार शुद्धनय से देखने पर आत्मा निरुपाधिक एक स्वभावी है, उसमें कोई उपाधि नहीं है। क्षणिक पर्याय में अशुद्धता है, उस अपेक्षा से उपाधि है, किन्तु सामान्य स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा में उपाधि नहीं है। उपाधि के समय भी आत्मा में यह निरुपाधिक स्वभाव है। एक समय में आत्मा ऐसे अनेक धर्मोंवाला है। शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा को दृष्टि में लेना, वह इन सब धर्मों को जानने का फल है।

पर्याय में क्षणिक उपाधि है, उसी क्षण साधक को निरुपाधि शुद्धस्वभाव का भान है, और पर्याय में भी अंशत: निरुपाधिकता प्रगट हुई है, इसलिए साधक के भी पर्याय में उपाधिपना और निरुपाधिकता—दोनों धर्म एक साथ परिणमित होते हैं। यदि ऐसा न हो और अकेली उपाधि ही हो तो एकान्त हो जाता है।

यहाँ अनेक प्रकार से आत्मा के धर्मों का वर्णन करके आत्मद्रव्य की पहिचान कराई है। यह समस्त धर्म आत्मा के अपने हैं, वे कोई पर के कारण नहीं हैं। गमन, स्थिरता, अवगाहना, परिणमन—वे सभी धर्म अपने हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल निमित्त हैं, किन्तु गति आदि धर्म कहीं निमित्त के नहीं है और न निमित्त के कारण से हैं, वे तो अपने ही धर्म हैं।—इस प्रकार जो अनन्त धर्मों को धारण करनेवाले स्वयं सिद्ध आत्मा को जाने, वह ज्ञान सम्यक् है।

भगवान आत्मा अनन्त धर्मों के पिण्डरूप शुद्धचैतन्यद्रव्य है; वचन से तो उसके अमुक धर्मों का वर्णन हो सकता है। यहाँ आचार्यदेव ने ४७ धर्मों द्वारा आत्मा का वर्णन किया है; उन धर्मों में जितने धर्म उपाधिरूप अर्थात् अशुद्धतारूप हैं, वे सिद्धदशा में नहीं होते और जो स्वाभाविक धर्म हैं, वे सब सिद्धदशा में भी होते हैं। सिद्ध भगवान को कहीं नय से देखना नहीं रहा है, उन्हें कुछ साधना शेष नहीं रहा है; यहाँ तो साधक जीव स्वयं अपने आत्मा को प्रमाण और नय द्वारा साधता है, उसकी बात है।

जो शिष्य जिज्ञासु होकर आत्मा का स्वरूप समझना चाहता है, उसने पूछा था कि हे प्रभो! यह आत्मा कौन है?—ऐसे जिज्ञासु शिष्य को भगवान आचार्यदेव ने प्रथम तो ऐसा बतलाया कि आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है; वह श्रुतज्ञान-प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा ज्ञात होता है। इतना कहकर फिर ४७ नयों द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाया। शिष्य को यह बात समझने की अभिलाषा है, इसलिए वह बेगार से नहीं सुनता किन्तु अन्तर में आत्मा को समझने की आकाँक्षापूर्वक सुनता है;—ऐसे शिष्य को यह समझाया है।

— इस प्रकार यहाँ ४७ वें शुद्धनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। ●●

अब, जो नय अपेक्षासहित हैं, वे ही सम्यक् हैं और अपेक्षारहित एकान्त नय मिथ्या हैं—यह बात कहेंगे। तत्पश्चात् 'शुद्धचैतन्यमात्र निज आत्मद्रव्य को अन्तर में देखना ही तात्पर्य है'—ऐसा बतलायेंगे।—इस प्रकार आत्मद्रव्य का कथन पूर्ण करके फिर उसकी प्राप्ति का मार्ग कहेंगे।

परिशिष्ट

॥ ॐ ॥

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

इसलिए कहा है :—

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥
परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो॥

[अर्थ : जितने [1] वचनपन्थ हैं, उतने वास्तव में नयवाद हैं; और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय (परमत) हैं।

परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन सर्वथा (अर्थात् अपेक्षा बिना) कहा जाने के कारण वास्तव में मिथ्या है; और जैनों का वचन कथंचित् (अर्थात् अपेक्षा सहित) कहा जाता है, इसलिए वास्तव में सम्यक् है।]

सर्वथा एकान्त माननेवाले का कथन मिथ्या है।

आत्मा वस्तु है, वह कैसी है ? कि जिसे जानने से सम्यग्दर्शन होता है ? - ऐसा शिष्य ने पूछा है। एक-एक नय द्वारा एक-एक धर्म ज्ञात होता है और अनन्त धर्मों को प्रमाण द्वारा जानने पर अनन्त धर्मात्मक आत्मा ज्ञात होता है, यह बात हुई।

परसमयों का (मिथ्यादृष्टियों का) वचन सर्वथा कहने में आता होने से वास्तव में मिथ्या है और जैनों का कथन कथंचित् कहने में आता होने से वास्तव में सम्यक् है। मात्र एकान्त शुद्धता का स्वीकार करे अथवा मात्र एकान्त अशुद्धता का स्वीकार करे, वह एकान्तमती है। निश्चय से स्वद्रव्य में अशुद्धता होने का धर्म आत्मा में है। निमित्त के कारण माने तो मिथ्यादृष्टि हुआ। आत्मा को अशुद्धधर्म कर्म के कारण से होता है, ऐसा माननेवाला

१. वचनपन्थ=वचन के प्रकार [जितने वचन के प्रकार हैं, उतने नय हैं। अपेक्षासहित नय, वे सम्यक् नय हैं और अपेक्षारहित नय, वे मिथ्यानय हैं; इसलिए जितने सम्यक् नय हैं, उतने ही मिथ्यानय हैं।]

मिथ्यादृष्टि है, वह वचन मिथ्यादृष्टि का है। अशुद्धता आत्मा का धर्म है। विकाररूप होना, वह आत्मा का धर्म है। सैंतालीस आदि अनन्त धर्म स्व के हैं; पर के कारण से नहीं; कर्म का निमित्त पाकर अशुद्धता होवे तो वह धर्म कर्म का हुआ, परन्तु आत्मा का नहीं हुआ। —यह बात सत्य नहीं है। साधक जीव को अपने ज्ञान द्वारा अशुद्धता ज्ञात होती है, वह अपने धर्म के कारण है; कर्म के कारण से नहीं, ऐसा न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। हर्ष-शोक का भोगना, वह आत्मा का धर्म है; पर का धर्म नहीं। शुद्ध-अशुद्ध उपादान की योग्यता का धर्म जीव में है।

कोई कहे कि अशुद्धता द्रव्य-गुण में नहीं है तो कहाँ से आयी? निमित्त में से आयी?

समाधानः—नहीं; वह जीव का धर्म है, पर के कारण नहीं। कर्म होवे तो विकार होता है, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। साधक जीव के परिणमन में अशुद्धता, शुद्धता, काल में तथा अकाल में मुक्ति हो, ऐसे धर्म एक समय में हैं, उनकी निमित्त के कारण योग्यता नहीं आती। आत्मा को सर्वथा शुद्ध ही माने, आत्मा को सर्वथा अशुद्ध माने, सर्वथा कर्ता माने, सर्वथा अकर्ता माने तो एकान्त माना कहलाता है। आत्मद्रव्य में अनन्त धर्म है। पुण्य-पाप, काम-क्रोध के विकारभाव होते हैं, वे (आत्मा के) अशुद्ध धर्म से होते हैं, कर्म के कारण नहीं होते। अनन्त धर्म हैं, इसलिए योग्यता खतौनी करना चाहिए। कर्म तो परद्रव्य है। पर्याय अपेक्षा से शुद्धता अपना धर्म है। साधक जीव है, उसे पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान नहीं हो, तब तक पुण्य-पाप, दया, दानादि के भाव होते हैं, वे अपना धर्म है, परपदार्थ के कारण अशुद्धता नहीं होती, साधक जीव ऐसा जानता है कि राग-द्वेष, दया, दानादि के विकल्प आते हैं, वह अशुद्धता मेरी योग्यता से होती है। अशुद्धता की योग्यता को मैं धारण करता हूँ, कर्म के निमित्त से अशुद्धता आती है, ऐसा नहीं है।

प्रश्नः—यदि सोपाधि स्वभाव हो तो सिद्ध में होना चाहिए?

समाधानः—नहीं, सिद्धदशा होने तक वह साधक में रहता है। थैली में चिरायता भरकर ऊपर मिश्री लिखने से चिरायता मीठा नहीं हो जाता; उसी प्रकार जैन नाम रखने से दृष्टि सच्ची नहीं हो जाती। अज्ञानी कहता है कि संसार कर्म के कारण से है। कर्म के कारण

से भटकना पड़ता है, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। विकार तेरी योग्यता के कारण से है, कर्म के कारण से नहीं। विकार पर से होता है, ऐसा कहते हैं और भगवान ने देखा होगा, तब मुक्ति होगी – ऐसा मानते हैं। केवलज्ञानी ने देखा है, इसलिए धर्म है – ऐसा नहीं है। अपना धर्म अपने काल में होता है। सर्वज्ञ परमात्मा ने जो मार्ग कहा है, उस प्रकार से जो जानता है, वह जैन है। आत्मा शुद्ध चैतन्यद्रव्य है–ऐसा आत्मा को जानता है और निर्मलता का अनुभव करता है। अल्प मलिनता स्वयं के कारण से बाकी है, ऐसा जानता है, वह जैन है। उसका कहा हुआ वास्तव में सम्यक् है।

धर्म कथंचित् कहे जाते हैं, इसलिए सत्य हैं।

जैनों का वचन कथंचित् कहने में आता होने से वास्तव में सम्यक् है। केवली भगवान को नय नहीं है क्योंकि पूर्ण हो गये हैं। मिथ्यादृष्टि को नय नहीं है क्योंकि नय, श्रुतज्ञानपूर्वक हैं। श्रुतज्ञान, सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन, शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से होता है। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभाव से एकाकार हूँ, ऐसे अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है। निमित्त से, राग से या पर्याय के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। भगवान आत्मा सामान्य शुद्ध एकरूप है – ऐसे सामान्य स्वभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर श्रुतज्ञान होता है। उसके अन्तर्भेद में नय पड़ते हैं और नय से जानता है कि अशुद्धता मेरे कारण से होती है। सम्यक्नय जानता है कि मेरी योग्यतानुसार क्रमबद्ध का निर्णय ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से होता है। मैं ज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ – ऐसे ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से क्रमबद्ध का निर्णय होता है। जिस समय जिस पदार्थ की जो अवस्था होनेवाली है, वह होनेवाली है, उसमें फेरफार करनेवाला कोई नहीं है। वह पर्याय द्रव्य की है, ऐसे द्रव्य की दृष्टि होने पर अनन्त परपदार्थों का ज्ञाता हुआ, अनन्त पर का अकर्ता हुआ तथा राग का अकर्ता हुआ। इस प्रकार सम्यग्दर्शन होने पर श्रुतज्ञान प्रमाण होता है। पर्याय तो क्रमसर होती है परन्तु दिशा पलटती है। मैं जाननेवाला हूँ – ऐसा निर्णय होने पर स्वभाव पर दृष्टि जाती है। उस सम्यग्ज्ञान में एक नय जानता है कि अशुद्धता मेरे कारण से है, मेरा धर्म है। इसलिए अशुद्धता होती है। मेरे कर्तृत्व गुण से विकार होता है। परिणमित होनेवाला कर्ता है, विकार कर्म है। मैं अशुद्धता का कर्ता हूँ। विकार हमारे आनेवाला था, वह आया, मैं क्या करूँ? – ऐसा माननेवाला स्वच्छन्दी है।

भगवान आत्मा में जो क्रमबद्ध होता है, उसका फेरफार करनेवाला कोई नहीं है। सर्वज्ञ ने देखा है, इसलिए नहीं परन्तु अपनी योग्यता से विकार होता है, ऐसे अनन्त धर्मों को श्रुतज्ञान से जानता है। एक धर्म को एक नय से जानता है। विकार की योग्यता सोपाधि धर्म अपना है। निमित्त से वह धर्म नहीं आया है। कर्तृत्व मेरा धर्म है। इसलिए मैं राग-द्वेष का कर्ता हूँ, उसी समय राग का अकर्ता हूँ, इसलिए ज्ञाता हूँ। प्रथम राग-द्वेष हुए, पश्चात् दूसरे समय में ज्ञाता हो गया, ऐसा नहीं है। राग-द्वेष का परिणमन है, वह मेरा धर्म है, उसी समय में अकर्तृत्व धर्म भी है, दोनों साथ में है।

इस प्रवचनसार में दिव्यध्वनि का सार है। सर्वज्ञ ने तीन काल-तीन लोक को देखा है। उनकी वाणी निकली। वाणी, वाणी के कारण से निकली है। वाणी निकलने का धर्म आत्मा का नहीं है। शुद्ध, अशुद्ध, उपाधि, निरुपाधि आदि धर्म कथंचित् होने से सम्यक् है।

समयसार में कथन आता है कि आत्मा अपनी निर्मल अवस्था को प्राप्त करता है, विकार मेरा कार्य नहीं है, मैं निरुपाधि हूँ, मैं विकार का भोक्ता नहीं, मुझमें उपाधि नहीं। यह सम्यग्दृष्टि की दर्शन (श्रद्धा) अपेक्षा से बात है, सर्वथा नहीं। उसी समय अल्प राग-द्वेष मेरे कारण से है, मेरी योग्यता से है, उसी समय (ज्ञानी तो) ज्ञातादृष्टा है। देह से पृथक् और कर्म के रजकण से भी भिन्न भगवान आत्मा के धर्मों को कथंचित् समझना चाहिए। कर्म के कारण विकार कहा, वह द्रव्यदृष्टि से कथन है। द्रव्य में (स्वभाव में) विकार नहीं है, इस अपेक्षा से ज्ञानी विकार का कर्ता नहीं है। उसी समय दूसरी अपेक्षा है, मैं विकार का कर्ता हूँ, मैं उपाधिवाला हूँ, उसी समय उपाधि को जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। ऐसे धर्म आत्मा में हैं। उसमें से एक भी योग्यता न माने तो आत्मा की सच्ची समझ नहीं होती। क्रमबद्ध के नियम में यह बात आ जाती है। जड़ और चैतन्य की जिस समय में जो अवस्था होनेवाली है, वह होनेवाली है, इसका अर्थ क्या? मैं पर का कर्ता-हर्ता नहीं, मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, मैं राग-द्वेष का कर्ता नहीं, यह एक अपेक्षा है। उसी समय राग-द्वेष के कर्मपने में दूसरी अपेक्षा लागू पड़ती है। चारित्रमोहनीय के कारण व्रत-तप नहीं कर सकता, ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। शुद्ध चैतन्यस्वभाव में मेरी योग्यता से मेरे काल में संसार का नाश किया। कालनय है, वह आत्मा का धर्म है और अकालधर्म भी है। अकाल में मुक्ति नहीं होती परन्तु अकाल में मुक्ति प्राप्त हुए, ऐसा कहा जाता है, संसारपरित किया ऐसा

बोलने में आता है। आत्मा अनन्त गुणपर्याय का पिण्ड है, उसका आश्रय करके अन्तर में बसना, वह वास्तु है।

समयसार ऐसा कहता है कि कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है। उसी प्रकार आत्मा विकार का कर्ता नहीं है। विकार कर्म का कार्य है। आत्मा कर्ता होकर निर्मल कार्य करता है, यह दृष्टिप्रधान कथन से समझाया गया है। उस समय अल्प राग-द्वेष मेरा परिणमन है, ऐसा अपेक्षा से जानता है। द्रव्यदृष्टि में ऐसा कथन आता है कि कर्म का विस्तार पाकर विकार होता है। पिल्ला, कुतिया का विस्तार है, वैसे विकार कर्मरूपी कुतिया का विस्तार विकार है, यह अपेक्षा का कथन है। दृष्टि के कथन में ऐसा कहा जाता है परन्तु सर्वथा ऐसा ही मान बैठे तो मिथ्यादृष्टि है। उसी समय ज्ञान होना चाहिए कि मेरे कारण से विकार है।

इस प्रकार इस (उपरोक्त) सूचनानुसार (अर्थात् ४७ नयों में समझाया है, उस विधि से) एक-एक धर्म में एक-एक नय (व्यापे), इस प्रकार अनन्त धर्मों में व्यापक अनन्त नयों से निरूपण किया जाय तो, समुद्र के भीतर मिलनेवाले श्वेत-नील गंगा-यमुना के जलसमूह की भाँति, अनन्तधर्मों को परस्पर अतद्भावमात्र से पृथक् करने में अशक्य होने से, आत्मद्रव्य अमेचक स्वभाववाला, एक धर्म में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से यथोक्त एकान्तात्मक (एक धर्मस्वरूप) है। परन्तु युगपत् अनन्त धर्मों में व्यापक ऐसे अनन्त नयों में व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण से निरूपण किया जाय तो, समस्त नदियों के जलसमूह के समवायात्मक (समुदायस्वरूप) एक समुद्र की भाँति, अनन्त धर्मों को वस्तुरूप से पृथक् करना अशक्य होने से आत्मद्रव्य [३]मेचकस्वभाववाला, अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से यथोक्त अनेकान्तात्मक (अनेक धर्मस्वरूप) है। [जैसे-एक समय नदी के जल को जाननेवाले ज्ञानांश से देखा जाय तो समुद्र एक नदी के जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक समय एक धर्म को जाननेवाले एक नय से देखा जाय तो आत्मा एक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है; परन्तु जैसे एक ही साथ सर्व नदियों के जल को जाननेवाले ज्ञान से देखा जाय तो समुद्र सर्व नदियों के जलस्वरूप ज्ञात होता है; उसी प्रकार एक ही साथ सर्व धर्मों को जाननेवाले प्रमाण से देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है। इस प्रकार एक नय से देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है और प्रमाण से देखने पर अनेकान्तात्मक है।]

एक धर्म से देखे तो आत्मा एकान्तात्मक है।

इस प्रकार इस उपरोक्त सूचन प्रमाण एक-एक धर्म में एक-एक नय व्याप्त होता है, ऐसे अनन्त धर्मों में व्यापक अनन्त नयों द्वारा निरूपण किया जाता है, इस प्रकार सैंतालीस नय बताये हैं। कर्तृत्वधर्म को एक नय जानता है, अकर्तृत्वधर्म को एक नय जानता है, ऐसे अनन्त धर्मों में अनन्त नय व्यापक हैं। अनन्त धर्म स्वयं से हैं, पर से नहीं। अनन्त नयों द्वारा निरूपण किया जाए तो समुद्र के अन्दर प्राप्त श्वेत-नील गंगा-यमुना के जल समूह की भाँति अनन्त धर्मों को परस्पर अतद्भवमात्र द्वारा भिन्न करना अशक्य है। समुद्र में श्वेत और बादली पानी के बीच अतद्भाव है। जो श्वेत है, वह बादली (नील) नहीं है; जो बादली है, वह श्वेत नहीं है; उसी प्रकार अनन्त धर्मों के बीच अतद्भाव है, एक धर्म दूसरा धर्म नहीं है परन्तु उन्हें पृथक् करना अशक्य है। शुद्ध रहना, वह धर्म; अशुद्ध रहना, वह धर्म; संस्कार को सार्थक करनेवाला धर्म; संस्कार को निरर्थक करनेवाला धर्म - ऐसे अनन्त धर्म अतद्भाव से है। एक धर्म दूसरे धर्मरूप नहीं है परन्तु इतने मात्र से पृथक् नहीं हो सकते। आत्मा में अनन्त धर्म हैं। स्व से अस्तित्व और पर से नास्तित्व, अशुद्धत्व और शुद्धत्व के बीच परस्पर अतद्भाव है। आत्मद्रव्य विविधतासहित है परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से (द्रव्यार्थिकनय से) विविधतारहित है। द्रव्य विविध स्वभाववाला नहीं है, अमेचक है। नय की दृष्टि से एकधर्म में व्यापनेवाला है। एक धर्मी होने से यथोक्त एकान्तात्मक है। अशुद्ध धर्म से देखो तो आत्मा अशुद्ध धर्मवाला है। अशुद्धता धर्म, वह शुद्धधर्म नहीं है। कर्ताधर्म, भोक्ताधर्म नहीं होता - ऐसा अतद्भाव होने पर भी आत्मा विविधता रहित है। उसे एक धर्म से देखा जाए तो एकान्तात्मक है। श्रुतज्ञान प्रमाण का एक अंश नय है। नय से देखो तो धर्म परस्पर अतद्भाव से है। एक शुद्ध धर्म, वह अशुद्ध धर्म नहीं है परन्तु उन्हें पृथक् करना अशक्य है क्योंकि सब धर्मों का द्रव्य और क्षेत्र एक है तो भी एक धर्म से देखो तो आत्मा एकान्तात्मक दिखता है। यदि दूसरे नयों की अपेक्षा न रखो तो वह नय नहीं रहता। दूसरा नय गौण है। आत्मा के भान बिना अज्ञानी की सब भक्ति झूठी है। विकार होना, वह मेरा धर्म है, तथा अकाल से मुक्ति हो, ऐसा धर्म आत्मद्रव्य का है, ऐसे आत्मद्रव्य को देखना है। एक नय से आतमा को देखो तो आत्मद्रव्य एक धर्मस्वरूप है, दूसरे धर्मों का ज्ञान उस समय गौण है। यह नय की व्याख्या हुई।

अनेक धर्मों से देखो तो आत्मा अनेकान्तात्मक है।

अब प्रमाण की बात करते हैं। युगपत् अनन्त धर्मों में व्यापक ऐसे अनन्त नयों में व्यापनेवाले एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण द्वारा निरूपण किया जाए तो सभी नदियों के जल समूह के समवायात्मक एक समुद्र की भाँति अनन्त धर्मों को वस्तुरूप से भिन्न करना अशक्य होने से आत्मद्रव्य मेचक स्वभाववाला, अनन्त धर्मों में व्यापनेवाला, एक धर्मी होने के कारण अनेक धर्मस्वरूप है। अनन्त धर्मों में व्यापक श्रुतज्ञान प्रमाण से जानने में आवे तो, सभी नदियों के जल के समूहरूप एक समुद्र की भाँति, अनन्त धर्मों को वस्तुरूप से भिन्न नहीं किया जा सकता। आत्मा मेचक स्वभाववाला है। भगवान आत्मा शुद्ध-अशुद्ध, सामान्य-विशेष, नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव आदि सब धर्मों में व्यापनेवाला एक धर्मी है। अनन्त धर्म से धर्मी कहा, उसे अनेकान्तात्मक कहते हैं। प्रमाण से द्रव्य अनेकान्तात्मक है और नय से द्रव्य एकात्मक है, ऐसा जाने तो आत्मद्रव्य को जानना कहलाता है।

बाह्य क्रियाकाण्ड अनन्त बार किये परन्तु आत्मा की श्रद्धा नहीं की।

अनन्त काल से सत्य बात सुनी नहीं। जैन दिगम्बर साधु हुआ, हजारों रानियाँ छोड़कर द्रव्यलिंग धारण किया और अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, नौ पूर्व, ग्यारह अंग का विकास हुआ परन्तु विद्यमान वस्तु की पहिचान एक समयमात्र भी नहीं की। अनन्त काल में एक सेकेण्डमात्र सत्य बात नहीं सुनी।

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

शुक्ललेश्या भी धारण की। मुनिव्रत धारण किया, परन्तु सत्य सुना नहीं।

यम नियम संयम आप कियो
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो,
वह साधन बार अनन्त कियो
तदपी कछु हाथ हजु न पर्यो॥

अनन्त बार पंच महाव्रत लिये, कठोर अभिग्रह लिये, ब्रह्मचर्य पालन किया,

हरितकाय के जीवों को घातकर आहार नहीं लिया, अपने लिये जल (प्रासुक) किया हो तो नहीं ले, संयम अनन्त बार लिया, कषाय की मन्दता की, उदास हुआ, जंगल में चला गया, प्राण जाए तो भी उद्देशिक आहार नहीं ले, परन्तु यह आत्मा चिदानन्द ज्ञानानन्द क्या है, उसकी बात सुनी नहीं। अन्तिम ग्रैवेयक गया, नौ पूर्व, ग्यारह अंग पढ़ा, तथापि यह सुना नहीं, इसका क्या अर्थ ? शास्त्र जो कहते हैं, उसका भाव न समझा तो उसने शास्त्र सुना नहीं है। दया, दान, भक्ति किये, पंच महाव्रत धारण किये, लाखों वर्ष जंगल में रहे, मौन रहे, वह तो संसार का पुरुषार्थ है। राग में धर्म मानता है, परसन्मुख वृत्ति, वह राग है। राग से कल्याण मानता है, वह मूढ़ है। भगवान आत्मा एक समय में योग्यता धारण करता है, उसका भेदज्ञान नहीं किया। मैं पर से भिन्न और मेरे स्वरूप से परिपूर्ण हूँ। शरीर, मन, वाणी की शून्यता है। जो दया, दानादि के विकल्प उठते हैं, उनकी मेरे स्वभाव में शून्यता है। मैं अनन्त शक्ति का धारण करनेवाला हूँ। अट्ठाईस मूलगुण पालन की वृत्ति मेरे स्वरूप में नहीं है। पाँच महाव्रत की वृत्ति शान्ति के लिये बेकार है, इसलिए आत्मा को लाभ नहीं है। ऐसे साधन अनन्त बार किये—

अब क्यों न विचारत है मन सें
कछु और रहा उन साधन सें

जड़ लक्ष्मी को अपनी माननेवाला भिखारी
चैतन्य लक्ष्मी को अपनी माननेवाला बादशाह

आत्मा में एक ऐसा धर्म है। एक पुण्य-पाप दया-दानादि की वृत्ति उठती है, वह मेरा धर्म है, वह कर्म के कारण नहीं है। विकार के क्षण में मैं ज्ञातादृष्टा हूँ, विकार मेरा धर्म है, उसी समय उसका मैं ज्ञाता हूँ, ऐसे धर्मवाले आत्मा की पहिचान नहीं की। पच्चीस हजार रुपये की कमाई की बात बहुत उत्साह से सुनता है तो यह बात तो बहुत ही उत्साह से सुननी चाहिए। पैसे मुझे मिले, ऐसी मान्यतावाला भिखारी है। लक्ष्मी अजीव है। अजीव मुझे मिला परन्तु चैतन्य नहीं मिला – इस प्रकार जड़ की सामग्री से अधिक माने, वह रंक है। स्वयं चैतन्यस्वभाव से भरपूर है, ऐसी मान्यतावाला, वह लक्ष्मीवाला है, वह बादशाह है। यहाँ कहते हैं कि दया, दानादि के परिणाम आते हैं, वह मेरी योग्यता से होते हैं। मैं

उनका स्वामी नहीं हूँ, मैं चैतन्य का स्वामी हूँ।

ऋद्धि सिद्धि वृद्धि दीसे घट में प्रगट सदा
अन्तर की लक्ष्मी को अजायी लक्षपति है
दास भगवन्त के उदास रहे जगत से
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है।

अपने स्वरूप में चैतन्य ज्योति की ऋद्धि पड़ी है, सिद्धि उसमें ही है, उसमें एकाग्रता से शान्ति की वृद्धि होती है। पैसा आदि मिले, वह मेरी ऋद्धि नहीं है। मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, ऐसी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। अन्तर ज्ञानानन्दस्वभाव है। जो राग आता है, उसे जानने-देखनेवाला हूँ। वह लक्ष्मीपति है, उस किसी के पास याचना नहीं करनी पड़ती 'हमें सुविधा दो, हमारी प्रशंसा करो' – ऐसा माँगनेवाला भिखारी है। मैं स्वरूप लक्ष्मी का पति हूँ, पुण्य-पाप का पति नहीं – ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव मानता है, वह जगत से उदास है, इसलिए सदैव सुखी है। मैं आत्मा से सुखी हूँ। छियानवें हजार स्त्रियाँ होने पर भी ज्ञानी उनमें सुख नहीं मानता। मेरा आनन्ददाता चैतन्यपति है। जगत से उदास है और भगवान का दास है, वह सुखी है। अज्ञानी को पर में सुख लगता है। अज्ञानी बालक को विष्टा अच्छी लगती है, वैसे अज्ञानी को पैसे में सुख लगता है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी उल्टी दशा करके, राग की विष्टा में मजा मानता है परन्तु उसमें मजा नहीं है। एक समय एक धर्म को देखनेवाली दृष्टि से आत्मा एकान्तात्मक ज्ञात होता है। मैं राग का कर्ता नहीं, ऐसा मैं जाननेवाला हूँ। इस नय से मैं अकर्ता हूँ। राग के परिणाम से देखे तो आत्मा रागवाला दिखता है, हर्ष-शोक आत्मा का धर्म है। धर्म अर्थात् योग्यता। अपनी योग्यता से हर्ष-शोक होते हैं। दूसरी दृष्टि से देखे तो मैं निरुपाधि स्वभाववाला हूँ। दूसरे नय से देखे तो मैं समाधिवाला हूँ। ऐसे एक धर्म से देखो तो आत्मा एकान्तात्मक ज्ञात होता है। व्रत पालना, प्रतिमा लेना, यह बात अनन्त बार सुनी है। जिसमें अनन्त धर्म रहे हैं, ऐसे आत्मा को जानना, वह सम्यग्ज्ञान है। शास्त्र के वाद-विवाद करना, वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। मैं आत्मा स्वयं से हूँ और पर से नहीं। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में हूँ। गुण-पर्याय का पिण्ड द्रव्य है; क्षेत्र अर्थात् चौड़ाई; काल अर्थात् वर्तमान दशा; भाव अर्थात् शक्ति। (ज्ञानी को) स्वयं स्वयं से है, पर से नहीं, ऐसा दिखायी देता है। मेरे अतिरिक्त अनन्त

पदार्थों के द्रव्य, काल, भाव से मैं नहीं हूँ। मैं मेरे से हूँ, ऐसा अस्तित्व धर्म से देखो तो आत्मा ऐसा दिखायी देता है। पर से नहीं ऐसे नास्तित्वधर्म से देखो तो आत्मा पर से नास्तित्ववाला है। शुद्धधर्म से देखो तो आत्मा शुद्ध दिखायी देता है। अशुद्धधर्म से देखो तो आत्मा अशुद्ध दिखायी देता है। कैसा है आत्मा ? उसे जाने बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। मेरे आत्मा में अनन्त धर्म हैं। देव-गुरु-शास्त्र की कृपा से ज्ञान नहीं आता। मेरा आत्मा स्वयं से है, ऐसा दिखता है। कर्म मुझे राग-द्वेष करावें, ऐसा तीन काल में नहीं होता। पर के कारण विकार करना पड़ता है, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। निद्धत और निकाचित कर्मों की पर्याय में मैं त्रिकाल नहीं, मुझमें कर्म नहीं। कर्म का उदय कर्म का स्वकाल है, मेरे काल में उसका अभाव है, ऐसा आत्मा को देखता है। स्व से है और पर से नहीं, ऐसे धर्म देखना चाहिए। पर से नहीं, ऐसा नास्तित्वधर्म पर के कारण है ? नहीं; अपने कारण से वह धर्म है। आत्मा एक समय में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है और पर से नहीं, ऐसा मेरा धर्म मेरे कारण से है, ऐसा पर से भिन्न देखनेवाला आत्मा को देखता है।

परन्तु जैसे एक साथ सर्व नदियों के जल को जाननेवाले ज्ञान द्वारा देखने में आवे तो समुद्र सर्व नदियों के जलस्वरूप ज्ञात होता है; उसी प्रकार एक साथ सर्व धर्मों को जाननेवाले प्रमाण द्वारा देखने में आवे तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है। अमृतचन्द्राचार्य भावलिंगी मुनि थे। छठवीं-सातवीं भूमिका बारम्बार आती है, उन्हें वस्त्र-पात्र नहीं होते, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन होता है। मन का अवलम्बन अनुभव करते हैं और मन का संग कर अट्ठाईस मूलगुण छूटकर आत्मा के गुण का पालन करते हैं। वह विकार होने की योग्यता मुझसे होती है। वे मुनि कहते हैं कि एक धर्म से देखो तो आत्मा एक धर्मात्मक दिखायी देता है और अनेक धर्मों से देखो तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप है। प्रथम यथार्थ पहचान करना चाहिए। मन्दिर आदि बनते हैं, वह पुद्गल परावर्तन के काल से बनते हैं, निमित्त के कारण नहीं बनते, परन्तु जब बनते हैं, तब निमित्त का ज्ञान कराते हैं। अपने आत्मा में राग होता है, वह एक धर्म है और राग का ज्ञाता है, वह भी एक धर्म है। इस प्रकार अनन्त धर्मवाले आत्मा को प्रमाण से पहिचानना, वह धर्म है; उसके बिना अरण्यरुदन है।

प्रथम मार्ग क्या है, वह यथार्थरूप से सुनना चाहिए। सुनकर निर्णय करना चाहिए

भगवान आत्मा सम्यग्ज्ञान से अनन्त धर्ममय एक साथ दिखायी देता है। ऐसी समझ किये बिना बाहर का त्याग करना अज्ञानी को सरल लगता है। परन्तु भाई! शुभराग के कारण आहार नहीं छूटता। वह चीज़ आनेवाली नहीं थी और तू मानता है कि शुभराग के कारण आहार छूट गया। ऐसा माननेवाला मूढ़ है। मुझे नियम था, इसलिए दूध नहीं आया तो क्या दूध तेरे आधीन है? मैंने दूध नहीं पीया और यह चीज़ छोड़ दी, ऐसा कहता है, वहाँ वह चीज़ आनेवाली नहीं थी तथापि मानता है कि मैंने राग मन्द किया तो रोटी नहीं आयी। ऐसा कर्ता–कर्म मानता है। भोजन की पर्याय आनेवाली थी और मेरे राग के कारण नहीं आयी, यह मिथ्या कथन है। राग की मन्दता कर्ता और चीज़ नहीं आयी, वह कर्म—ऐसा कर्ता–कर्म मानता है। मैं इच्छा करूँ तो मौन रहता हूँ – तो क्या तेरी इच्छा के कारण भाषा निकलती है? और इच्छा नहीं की, इसलिए भाषा रुक गयी? नहीं, ऐसा है ही नहीं। राग जीव में आता है परन्तु राग के कारण चीज़ रुकती है, ऐसा माने तो वह मूढ़ है। जीव ने इच्छा की है परन्तु परपदार्थ को खा नहीं सकता। तीव्र इच्छा की तो खा सकता है और मन्द इच्छा की तो छोड़ सकता है, यह मान्यता मूढ़ की है। वह परमाणु की योग्यता से परमाणु आते और जाते हैं। राग के कारण से परमाणु आते–जाते नहीं हैं। क्या राग के कारण देह की अवस्था टिक सकती है? नहीं।

जो शब्द बोले जाते हैं, वह शब्दवर्गणा की अवस्था है। क्या तेरे कारण से बोले जाते हैं? और वे बन्द होते हैं तो उनके कारण से होते हैं। लकवा के समय इच्छा होने पर भी बोला नहीं जाता। भाषा, भाषा के कारण से होती है। इच्छा करे तो सामग्री ला सकता हूँ, ऐसा नहीं। इच्छा मन्द की, इसलिए खाना बन्द हो गया, ऐसा माने तो मिथ्यात्व का अनन्त पाप लगता है। जैसे ईश्वर को जगत का कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उसी प्रकार आत्मा के कारण पर की अवस्था मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। यह पुस्तक ऊँची होती है, वह अपनी योग्यता से होती है। समय–समय में प्रत्येक पदार्थ में पर्याय की योग्यता नयी–नयी होती है। स्वयं के कारण से होती है, पर के कारण से नहीं। डॉक्टर खराब भाग काट डालते हैं, उसी प्रकार विपरीत बुद्धि काट डालने जैसी है। तेरे परिणाम तुझमें हैं। पुद्गल की अवस्था पुद्गल में है। इच्छा के कारण मुम्बई से शरीर नहीं आया। वकालात के समय भाषा जड़ से निकलती है, इच्छा के कारण नहीं बोला जाता। लकवा के समय इच्छा होने

पर भी नहीं बोला जाता। पैर में सुन्न चढ़े, तब इच्छा होने पर भी चलना नहीं हो पाता। कमर में दर्द होता है, वह जड़ के कारण से होता है, दवा से नहीं मिटता। ऐसी वस्तु की मर्यादा है। ऐसी वस्तु मर्यादा न जाने तो वह मूढ़ है। मैंने अभिग्रह लिया तो आहार छोड़ दिया, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। मैं पर की अवस्था का छोड़नेवाला नहीं हूँ, जाननेवाला हूँ। इच्छा स्वकाल में आती है, उसे भी जाननेवाला हूँ – ऐसे आत्मा को जाने तो सम्यग्ज्ञान होता है।

समझे बिना मान नहीं लिया जाता परन्तु ख्याल में आना चाहिए। जड़ पदार्थ की मौजूदगी जड़ की है। एक समय भी पर की अवस्था मुझसे होवे तो तीन काल की पर्याय मुझसे हुई, ऐसा होगा। ऐसा होवे तो उसकी मौजूदगी (अस्ति) नहीं रही। एक बार ख्याल में तो लेना चाहिए कि अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव अपने में हैं। पर का मुझमें अभाव है। पर से त्रिकाल नास्ति है। पर के साथ अत्यन्त अभाव है। नैमित्तिकदशा होनेवाली हो, तब अनुकूल परपदार्थ निमित्त कहलाते हैं। निमित्त आवे तो काम होता है और न आवे तो काम नहीं होता – ऐसा है ही नहीं। भगवान की वाणी से ज्ञान नहीं होता। अपनी योग्यता से ज्ञान होवे तो वाणी को निमित्त कहा जाता है। धर्म और अधर्मद्रव्य दोनों पड़े हैं। यदि जीव गति करे तो धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। जीव स्थिति करे तो अधर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। धर्मद्रव्य के कारण गति होवे तो सब पदार्थों को चलना चाहिए और अधर्मद्रव्य के कारण स्थिति होवे तो सब पदार्थ स्थिर रहना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिए सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् है, ऐसा इष्टोपदेश गाथा ३५ में कहा गया है। स्वयं समझे तो गुरु को निमित्त कहा जाता है।

अब इसी अर्थ को कलशरूप में कहते हैं।

अब इसी आशय को काव्य द्वारा कहकर ''आत्मा कैसा है'' इस विषय का कथन समाप्त किया जाता है :—

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः
पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्म-
स्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः।।१९।।

[अर्थ :] इस प्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से (जीव) देखें तो भी और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनन्त धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।

जिस अपेक्षा से आत्मा में अशुद्धता है, उस अपेक्षा से शुद्धता नहीं है, परन्तु जिस काल में अशुद्धता का धर्म है, उसी काल में शुद्धता का धर्म है। काल एक है परन्तु अपेक्षाभेद है। जिस अपेक्षा से शुद्धता है, उस अपेक्षा से अशुद्धता नहीं है। यह स्याद्वाद है। एक साथ सभी धर्म हैं। अपनी क्षेत्रान्तर होने की योग्यता से क्षेत्रान्तर होता है, उस समय ज्ञान होना, श्रद्धा होना, ऐसे धर्म हैं। अलग-अलग अपेक्षा से अलग-अलग धर्म हैं, इस प्रकार नय से देखे अथवा प्रमाण से देखे तो निज आत्मद्रव्य को अन्दर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखता है। ऐसा प्रतीति में आता है, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

अनन्त धर्मोंवाले आत्मद्रव्य को अन्दर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखना धर्म है।

अनन्त काल से सुना नहीं, वह यह चीज़ है। भगवान आत्मा में एक समय में अनन्त धर्म है। धर्म को धारण करनेवाला आत्मा है। योग्यता धारण करे, वह धर्मी है, योग्यता धर्म है। यह लकड़ी सुकोमल है, ऊँची-नीची होती है, यह इसका धर्म है; लकड़ी धर्मी है। एक परमाणु स्वाभाविक है और स्कन्ध वैभाविक दशा है। विभाव धारण करने का धर्म है। विभाव उसका धर्म है। स्वभाव भी धर्म है। कायम रहना, वह भी धर्म है। इसी प्रकार आत्मा राग, द्वेष, काम, क्रोध धारण करे, वह उसका धर्म है। राग, द्वेष को जानना-देखना, वह उसका धर्म है। एक आत्मा में एक समय में अनन्त योग्यता भरी है। आत्मा में किसी अपेक्षा से अशुद्ध धर्म है, किसी अपेक्षा से शुद्ध धर्म है – ऐसा अपेक्षा से कथन करे, वह स्याद्वाद है। भोक्ता-अभोक्ता, नित्य-अनित्य ऐसे धर्म आत्मा में हैं। ऐसे धर्मों से देखे अथवा सब धर्म एक साथ देखे तो आत्मा शुद्ध चैतन्यद्रव्यमात्र प्रतीति में आता है। गुण कायम रहते हैं परन्तु धर्म कायम नहीं रहता। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण है, वे धर्म नहीं। आत्मा में राग-द्वेष के कर्तापन का यदि त्रिकाली धर्म हो तो उनका कभी नाश नहीं होगा। साधकदशा है, वह वीतरागदशा न हो, तब तक राग होने का धर्म है। अपने कारण से, अपनी योग्यता से वह धर्म है। कर्म के कारण विकार नहीं होता। अपनी योग्यता से विकार होता है। दया, दानादि के भाव आत्मा का धर्म है। धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र,

ऐसा यहाँ अर्थ नहीं है, परन्तु धर्म अर्थात् योग्यता। धारण कर रखता है, वह धर्म है। आत्मा में नित्य धर्म है। पर्याय अपेक्षा से पलटन होना, वह आत्मा का धर्म है। अस्ति-नास्ति धर्म कायम रहता है। स्व से है और पर से नहीं, वह धर्म त्रिकाल है। पानी में ऊष्णता अनियत है। कायम नहीं रहती, परन्तु वह पानी का धर्म है। अग्नि के कारण पानी ऊष्ण नहीं हुआ है। अपनी योग्यता से ऊष्ण हुआ है परन्तु वह अनियत है। कायम रहनेवाला धर्म नहीं। इसी प्रकार आत्मा में राग-द्वेष-पुण्य-पाप-विकार होता है, उसका कर्तृत्वधर्म आत्मा में है, ऐसा जानना। उसी क्षण ज्ञानी राग-द्वेष का जाननेवाला है। ज्ञातादृष्टा होकर उन्हें जानता है। ऐसे एक समय में दोनों धर्म हैं।

दुनिया ने यह बात सुनी नहीं है। एम.ए. तथा बी.ए. इत्यादि पढ़ने में परिश्रम करते हैं परन्तु यहाँ परिश्रम नहीं करते। यहाँ तो कहते हैं कि राग करना, वह तेरा धर्म है। रागादि होते हैं, वे अपनी योग्यता से होते हैं। मैं जानने-देखनेवाला हूँ, यह धर्म भी है। इस प्रकार पर से पृथक् देखना और अपने को अनन्त धर्मात्मक देखना, वह धर्म है। एक समय में कर्ता है, भोक्ता है, अकर्ता है, अभोक्ता है, अशुद्ध धर्म, उपाधि धर्म है। उस धर्म द्वारा धर्मी को देखना और अनन्त धर्मात्मक आत्मा को प्रमाण द्वारा देखना, वह सम्यग्दर्शन है।

इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया है। अब उसकी प्राप्ति का उपाय कहा जाता है। प्रथम अज्ञानदशा की बात करते हैं। अज्ञानी कहता है कि कर्म के कारण हमारे में विकार हुआ, वह भ्रमणा है। विकारी भाव अपने में अपने से होता है, परन्तु मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान होने पर सच्चा धर्म होता है।

अब आत्मा की प्राप्ति का उपाय बताते हैं। गोम्मटसार में ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान रुक गया, ऐसा (निमित्त की मुख्यता से) कथन आता है, वह निमित्त का कथन है। स्वयं के कारण से ज्ञान रुका तो ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान रुक गया, ऐसा कहा जाता है। कर्म से दर्शन रुका, ऐसा नहीं। अपने कारण से दर्शन रुका है, उसमें दर्शनावरणीय निमित्त है। स्वयं मिथ्यात्व में रुका है तो दर्शनमोहनीय निमित्त है। स्वयं राग-द्वेष में रुका है तो चारित्रमोहनीय निमित्त कहलाता है। अन्तरायकर्म के उदय के कारण दान नहीं दे सकता, यह बात सत्य नहीं है परन्तु राग की मन्दता नहीं करता और लोभ करता है तो अन्तरायकर्म निमित्त कहलाता है। इस प्रकार अनन्त धर्म अपने में एक साथ हैं। उसी

समय रागादि को जाननेवाला हूँ, ऐसा जानना, वह सम्यग्दर्शन है। आनन्द की प्रगट अवस्था की प्राप्ति कहो, सम्यग्दर्शन कहो, सम्यग्ज्ञान कहो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, वह एक ही है। सर्वज्ञदेव हुए, वे राग का तथा अल्पज्ञता का अभाव करके हुए हैं, उनकी आज्ञा राग तथा अल्पज्ञता का नाश करने की है। राग तथा अल्पज्ञता आदरणीय नहीं है; अन्तर ज्ञानस्वभाव आदरणीय है। उसे आदर कर केवलज्ञान प्रगट करो। यह चौदह पूर्व का सार है। राग की दृष्टि छोड़कर वीतरागस्वभाव की दृष्टि करो। अल्पज्ञता की दृष्टि छोड़कर सर्वज्ञस्वभाव की दृष्टि करो, यह आज्ञा है।

इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया। अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता है: —

प्रथम तो, अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है, ऐसी मोहभावना के (मोह के अनुभव के) प्रभाव से आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है, इसलिए यह आत्मा समुद्र की भाँति अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों से परिवर्तन को प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है, इसलिए आत्मविवेक शिथिल हुआ होने से अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह पुनः पौद्गलिक कर्म के रचयिता रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है और इसलिए उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है। परन्तु अब जब यही आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकाण्ड को प्रचण्ड करने से अनादि-पौद्गलिक-कर्मरचित मोह को वध्य-घातक के विभागज्ञानपूर्वक विभक्त करने से (स्वयं) केवल आत्मभावना के [आत्मानुभव के] प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से समुद्र की भाँति अपने में ही अति निष्कम्प रहता हुआ एक साथ ही अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों में व्याप्त होकर अवकाश के अभाव के कारण सर्वथा विवर्तन [परिवर्तन] को प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं, ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसे वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती और इसलिए आत्मविवेक सुप्रतिष्ठित [सुस्थित] हुआ होने के कारण अत्यन्त अन्तर्मुख हुआ ऐसा यह आत्मा, पौद्गलिक कर्मों के रचयिता राग-द्वेषद्वैतरूप परिणति से दूर होता हुआ, पूर्व में अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा को आत्यन्तिकरूप से ही प्राप्त करता है। जगत भी ज्ञानानन्दात्मक परमात्मा को अवश्य प्राप्त करो।

अनादि से अज्ञानी जीव पर में सावधान बनकर चक्कर खाता है

प्रथम तो अज्ञानी को अनादि पौद्‌गलिककर्म जिसका निमित्त है, ऐसी मोहभावना के प्रभाव द्वारा आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है। अज्ञानी जीव को ज्ञानानन्दस्वभाव की मैत्री नहीं रहती परन्तु कर्म के साथ मैत्री रहती है। कर्म निमित्तमात्र है। मिथ्याश्रद्धा रही हुई है। पर में, निमित्त में सावधान है। स्व की सावधानी छोड़कर पर में सावधान है। अपने उपादान में मिथ्याश्रद्धा का प्रभाव है। मिथ्या अभिप्राय हुआ कि परपदार्थ मेरे हैं, ऐसे मोह से आत्मपरिणति चक्कर खाती है। मिथ्याश्रद्धा के प्रभाव से आत्मा की अवस्था सदा चक्कर खाती है। आत्मा की समय-समय अवस्था उसे होती है, उसमें उसे परपदार्थ के साथ मैत्री है। ज्ञानपर्याय में जो निमित्त पड़ते हैं, उन निमित्तों की मैत्री नहीं छोड़ता, यह मोह का प्रताप है। आत्मा की अवस्था चक्कर खाती जाती है। कभी शुभभाव, कभी अशुभभाव करता है। वाँचन, दया-दानादि असंख्य प्रकार के शुभभाव हैं। हिंसा, झूठ, चोरी—ऐसे असंख्य प्रकार के अशुभभाव हैं, अज्ञानी उनमें लाभ मानकर चक्कर खाता है। इस शरीर का करूँ, पर की दया पालन करूँ, पुत्र-पुत्री का विवाह करूँ, मकान बनाऊँ, कपड़े बनाऊँ, यात्रा में जाऊँ - ऐसे चक्कर खाता है। जीव मिथ्याभाव करता है, कर्म तो निमित्तमात्र है। उपादान स्वयं का है। कर्म का प्रभाव नहीं है, अपनी विपरीत मान्यता का प्रभाव है। अपने स्वभाव को पहिचानता नहीं है, इसलिए पुण्य-पाप में गुलांट खाता है। मैं निमित्त को दूर करूँ, मैं निमित्त को प्राप्त करूँ, ऐसे चक्कर खाता है। जैसे रुई की पुणी एक के बाद एक साँधते हैं, वैसे आहारसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, भयसंज्ञा - ऐसी चारों संज्ञाएँ एक के बाद एक हुआ करती है। इस प्रकार आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है। जैसे समुद्र अपने में क्षुब्ध होता है, वैसे आत्मा अपने में क्षोभ को प्राप्त होता है। मिथ्यात्वसहित आकुलता होती है। नौकर को रुपये देने पर भी काम व्यवस्थित नहीं करता। मैं मुनिपना ले लूँ, ऐसे आकुलता किया करता है। अपने मोहभाव से क्षुब्ध होता है। मैं शरीर को ऐसा बनाऊँ, ऐसा आहार छोड़ दूँ, मैं कायोत्सर्ग कर लूँ - ऐसे पर के ऊपर दृष्टि है परन्तु स्वभाव के ऊपर दृष्टि नहीं है। आत्मा का भान नहीं है, इसलिए पर को साधन बनाना चाहता है ऐसे चक्कर खाता है।

मिथ्यादृष्टि की ज्ञानपर्याय पर में ठीक-अठीक मानकर परिवर्तन पाती है।

क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों द्वारा आत्मा परिवर्तन पाता है। अपनी ज्ञानपर्याय में क्रम-क्रम से अनेक जानने की पर्याय को प्राप्त करता है। दया को जानूँ, समवसरण में जाऊँ, गिरनार जाऊँ – ऐसे जानने की पर्याय में परिवर्तन पाता है। मैं जानने-देखनेवाला हूँ, ऐसे नहीं पकड़कर पर को एकरूप जानने का काम करता है, क्रम-क्रम से जानने की अवस्था परिवर्तन को पाती है। घड़ीक में हँसना, घड़ीक में रोना, ऐसे ज्ञानपर्याय परिवर्तन पाती है। अनन्त जानने की पर्याय परिवर्तन को पाती है। वह मिथ्यात्वभाव है। ज्ञान का कार्य समय-समय में भिन्न-भिन्न होता है, वह परिवर्तन पाता है, उस मिथ्याश्रद्धा से परिणति को पाता है।

अज्ञानी को निमित्त के साथ मैत्री वर्तती है।

इसलिए आत्मविवेक शिथिल हुआ होने के कारण अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह फिर से पौद्गलिक कर्म को रचनेवाले राग-द्वेष द्वैतरूप से परिणमता है और इसलिए उसे आत्मप्राप्ति दूर ही है। पुद्गलकर्म निमित्त है, मोहभाव अपनी योग्यता से हुआ, इसलिए आत्मपरिणति चक्कर खाती है। मिथ्याभाव में क्षुब्ध हुआ है। क्रमशः-क्रमशः ज्ञप्ति परिवर्तन में रुक जाता है। जैसे-जैसे निमित्त से राग हुआ, उसमें रुक जाता है। इसलिए निमित्त की दोस्ती छूटती नहीं है। पूर्व ज्ञान अवस्था पलटकर नयी ज्ञानदशा पाता है, उसमें शास्त्र निमित्त है; निमित्त है, इसलिए ज्ञान होता है – ऐसा माननेवाले को निमित्त के साथ दोस्ती नहीं छूटती। ज्ञान की वर्तमान पर्याय पूर्व अवस्था से पलटकर अवस्थान्तर होती है, वह क्रमशः परिवर्तन पाती है। पुस्तक में से सुनता है तो वैसा ज्ञान होता है, गिरनार देखूँ तो वैसा ज्ञान होता है, परजीव बचे तो वैसा ज्ञान होता है – वहाँ ज्ञान जो स्वयं से होता है, उसमें पर निमित्त है। अब अज्ञानी की दृष्टि निमित्त के ऊपर है। दया का भाव हुआ, ऐसा ज्ञान हुआ। वहाँ ज्ञान स्वयं से हुआ है, उसमें राग निमित्त है। परन्तु अज्ञानी को ऐसा लगता है कि दया के समय मुझे हिंसा का ज्ञान क्यों नहीं हुआ? दया का भाव हुआ तो ज्ञान हुआ ऐसे दया भाव के निमित्त के साथ मैत्री करता है। सम्मेदशिखर देखने से सम्मेदशिखर का ज्ञान होता है परन्तु गिरनार का ज्ञान नहीं होता, इसलिए सम्मेदशिखर के कारण ज्ञान हुआ,

ऐसा मानता है। भिन्न-भिन्न ज्ञानपर्याय में वे चीज़ें निमित्त पड़ती हैं, इसलिए अज्ञानी को निमित्त के साथ दोस्ती नहीं छूटती। भगवान ज्ञानस्वभावी है, उसकी वर्तमान पर्याय में प्रगटता भिन्न-भिन्न है, निमित्त भी भिन्न-भिन्न पलटते हैं; इसलिए अज्ञानी को लगता है कि निमित्त के कारण से ज्ञान होता है। घर में बैठा हो, तब समवसरण का ज्ञान नहीं होता परन्तु समवसरण देखा तो ज्ञान हुआ, ऐसा मानता है। अपनी ज्ञानपर्याय का कालक्रम समय-समय में स्वयं से है। जिस क्रम में आनेवाला है, वह आता है। वह भी समय-समय में बदलता है और निमित्त भी बदलता है। अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि निमित्त के कारण ज्ञान होता है।

अज्ञानी अपने से ज्ञान नहीं मानते भिन्न-भिन्न निमित्त से भिन्न-भिन्न ज्ञान हुआ मानते हैं

प्रश्नः—समयसार पढ़ते समय पद्मपुराण का ज्ञान क्यों नहीं हुआ?

समाधानः—तेरी समय-समय की ज्ञानपर्याय बदलती है। अपने में ज्ञानगुण है, उसकी पर्याय समय-समय में व्यक्त होती है। पर्याय न हो तो गुण नहीं रहता। अपनी पर्याय समय-समय में भिन्न-भिन्न होती है, वह अपना कार्य है, उसमें भिन्न-भिन्न निमित्त है; इसलिए निमित्त के कारण कार्य हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। ज्ञानपर्याय में व्यक्तता होती है, वह ज्ञानगुण की व्यक्तता है। जानने की क्रिया परिवर्तन पाती है, उसकी दृष्टि निमित्त के ऊपर है; इसलिए निमित्त की मैत्री नहीं छूटती और ज्ञातादृष्टास्वभाव की मैत्री नहीं करता। मानस्तम्भ देखने पर उसका ज्ञान होता है, वहाँ ज्ञान स्वयं से होता है, तथापि मानस्तम्भ के कारण ज्ञानपर्याय होती है – ऐसा अज्ञानी मानता है, वह निमित्त के साथ मैत्री करता है। भिन्न-भिन्न जानने की दशा होती है, वह तेरे उपादान से है और भिन्न-भिन्न निमित्त है। निमित्त के कारण ज्ञान नहीं होता। अपने में ज्ञान होता है तो निमित्त कहलाता है। ज्ञप्तिक्रिया एक साथ नहीं होती, क्रमशः होती है। ज्ञान की पर्याय अनन्त प्रकार की प्रगट होती है, उसमें जो निमित्त है, वे ज्ञेय हैं। देव-गुरु-शास्त्र सम्मेदशिखर ज्ञेय हैं, परन्तु उनके कारण ज्ञान हुआ माने, उसे पर की मैत्री नहीं छूटती। यह वीतरागधर्म की चाबी है। जैसी वस्तु है, वैसी जानकर कही। अपनी ज्ञानपर्याय पलटती है – क्रमशः पलटती है, उसमें परपदार्थ निमित्त है, सर्वज्ञदेव निमित्त है। मैं घर था, तब तक ज्ञान नहीं हुआ परन्तु

भगवान के पास आया तो ज्ञान हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। उसकी निमित्त के साथ मैत्री नहीं छूटती। कोई मुनि चले जा रहे हैं, तब चींटी नीचे आने पर पैर ऊँचा किया। अब वहाँ पैरा ऊँचा होनेरूप दशा को जानने की योग्यता थी परन्तु अज्ञानी को लगता है कि पैरा ऊँचा किया, इसलिए ज्ञानपर्याय हुई। यह अनादि की भूल है। अपने में जानने की क्रिया प्रगट होती है, उसमें बाह्यपदार्थ निमित्त हैं। यह वस्त्र सिमटा हुआ है, ऐसा ज्ञान होता है, यह वस्त्र पृथक् रखा तो ऐसा ज्ञान होता है। वहाँ भिन्न-भिन्न ज्ञान अवस्था स्वयं से होती है। परपदार्थ निमित्त है किन्तु अज्ञानी को लगता है कि भिन्न-भिन्न निमित्त आये तो भिन्न-भिन्न ज्ञान हुआ। खाते समय लड्डू आये तो लड्डू का ज्ञान हुआ, ऐसा वह मानता है; स्वयं से ज्ञान होता है तो लड्डू निमित्त है, परन्तु अज्ञानी को लगता है कि लड्डू आये तो ज्ञान हुआ। भिन्न-भिन्न चीज़ें-निमित्त आने पर भिन्न-भिन्न ज्ञान होता है, ऐसा वह मानता है। इस प्रकार निमित्त के साथ मैत्री करता है।

हीरा-माणिक की दुकान में भिन्न-भिन्न हीरा देखने पर भिन्न-भिन्न ज्ञान होता है - इस प्रकार निमित्त के साथ मैत्री करता है परन्तु ज्ञातादृष्टा स्वभाव के साथ मैत्री नहीं करता। मुनि अट्ठाईस मूलगुण पालन करते हैं, तब उन्हें वैसा ज्ञान प्रगट होता है। वहाँ अज्ञानी को लगता है कि शुभराग आया तो ज्ञान हुआ - ऐसे निमित्त की मैत्री करता है। और कोई कहता है कि गिरि-गुफा देखने से ज्ञान होता है, तो वह मूढ़ है। ज्ञानपर्याय तुझसे होती है, उसमें गिरि-गुफा निमित्त है, तथापि निमित्त के कारण से ज्ञान माने तो मिथ्यात्व का ध्यान है। आत्मा में समय-समय में परिवर्तन हुआ करता है। भिन्न-भिन्न ज्ञानपर्याय होती है। भिन्न-भिन्न निमित्त होते हैं। इस तरह निमित्त की मैत्री करता है।

भगवान मिले तो ठीक हुआ, इस प्रकार भगवान पर मैत्री करता है परन्तु स्वभाव की मैत्री नहीं करता। भगवान हैं तो ज्ञान होता है, ऐसा मानता है; इसलिए निमित्त और पर्याय की रुचि छोड़कर, ज्ञानस्वभाव की रुचि नहीं करता। सुनते समय ज्ञानपर्याय ज्ञानगुण में से क्रमबद्ध आती है। निमित्त के कारण ज्ञान नहीं होता। निमित्त का प्रभाव नहीं है। मिथ्याश्रद्धा के प्रभाव से निमित्त के साथ सम्बन्ध करता है। अपनी ज्ञानपर्याय सामान्य में से आती है, ऐसा नहीं मानकर निमित्त में से ज्ञान आता है, ऐसा मानता है; इसलिए निमित्त की मैत्री नहीं छोड़ता।

अज्ञानी पुण्य-पाप की वृत्ति में चक्कर खाता है।

शिष्य ने प्रश्न किया है कि आत्मा का अनुभव कैसे हो ? अनन्त काल से प्राप्ति नहीं हुई, उसका क्या कारण ? ज्ञान से ज्ञान में वेदन होना, इसकी प्राप्ति कैसे हो ? अनादि से भूल क्यों है, उसकी बात चलती है। प्रथम तो अनादि पुद्गलकर्म निमित्त है, विकारीभाव में निमित्त है, ऐसी मोहभावना का प्रभाव है। अन्तर ज्ञानानन्दस्वभाव की भावना से अन्तर्मुख होना चाहिए, उसके बदले कर्म का लक्ष्य किया है, इसलिए कर्म के प्रभाव से मोह हुआ, ऐसी बात की है। अनादि से कर्म निमित्त है, उसे कर्म का झुकाव हुआ है। ज्ञानानन्दस्वभाव को छोड़कर अपनी भूल से कर्म के निमित्त में झुकाव करना, यह अपना अपराध है। मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, ऐसी भावना से आत्मा का प्रभाव पड़ता है, उसे चूककर कर्म के साथ एकत्वबुद्धि करने से संसार में चक्कर खाता है। नट गुलाँट खाता है, वैसे भगवान आत्मा ज्ञानानन्द है, ऐसी अन्तर्दृष्टि न करके निमित्त की ओर के प्रभाव में आत्मा को जोड़ता है, इसलिए चक्कर खाता है।

सीमन्धर भगवान के गणधर चार ज्ञान के धनी तथा चौदह पूर्व-बारह अंग के धारक नमस्कार मन्त्र बोलते समय आनन्दकन्द में झूलते हुए मुनि को नमस्कार करते हैं। बाह्य में अपने से छोटे को नमस्कार नहीं करते, परन्तु ढाई द्वीप में स्थित सर्व साधुओं को नमस्कार मन्त्र बोलते समय नमस्कार करते हैं। तुम हमारे साधर्मी हो, आनन्दकन्द में झूलते हो, ऐसे मुनि अमृतचन्द्राचार्य इस तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखते हैं। वास्तव में तो ज्ञान पर को नहीं दिखाता परन्तु ज्ञान, ज्ञान को जानता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। अज्ञानी मानता है कि मैं पर से पर को जानता हूँ, वह मिथ्याबुद्धि है। अपनी ज्ञान में पर्याय क्रमसर आयी है। राग की पर्याय के कारण ज्ञानपर्याय नहीं होती।

१- राग आया, इसलिए जाना - ऐसा नहीं है।

२- ज्ञानी ने राग को ही जाना, ऐसा नहीं है।

३- ज्ञान को (स्वभाव को) जानने पर राग को जानता है, ऐसा नहीं जानकर पर को तथा पर से जानता हूँ, ऐसा मानता है, वह भ्रमणा है।

श्रीमद् लिखते हैं कि— *'दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण कुछ रहस्य समझा जा सकता है। श्वेताम्बर की शिथिलता के कारण रस शिथिल होता गया है।'*

प्रश्न : आहारदान आदि धर्म है या.... ?

समाधान : नहीं, दान की क्रिया धर्म नहीं है। उसके कारण शुभराग नहीं है और शुभराग से ज्ञान नहीं हुआ है। आत्मा में निमित्त का प्रभाव नहीं है और आत्मा की दशा होनेवाली है, इसलिए निमित्त को आना पड़ता है – ऐसा भी नहीं है। निमित्त उपस्थितमात्र है। अपनी ज्ञानपर्याय की योग्यता के समय ऐसा निमित्त होता है। उपादान और निमित्त में कहीं पराधीनता नहीं है, दोनों स्वतन्त्र हैं।

अज्ञानी अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष करता है

आत्मविवेक शिथिल हुआ होने के कारण अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह फिर से पौद्गलिक कर्म को रचनेवाले राग-द्वेष द्वैतरूप परिणमता है। अज्ञानी राग-द्वेषरूप द्वैतरूप से परिणमता है। अनुकूलता में प्रेम और प्रतिकूलता में द्वेष करता है। इस प्रकार राग-द्वेष में परिणमता है। मिथ्यात्व के राग-द्वेष करता है। प्रतिकूल संयोग देखकर द्वेष होता है, स्त्री आदि पर से पाप होता है—ऐसा अज्ञानी मानता है। सुन्दर पुत्र हो तो राग होता है, ऐसा मानता है। दुश्मन बुरा करे, इसलिए द्वेष होता है, ऐसा मानता है—इस प्रकार अनुकूलता में राग करता है और प्रतिकूलता में द्वेष करता है। सम्यग्दृष्टि छियानवें हजार स्त्रियाँ होने पर भी तथा युद्ध में होने पर भी निमित्त के कारण से राग-द्वेष होते हैं, ऐसा नहीं मानता। अज्ञानी को मिथ्यात्व का दोष है। अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष करता है। इस प्रकार आत्मप्राप्ति दूर करता है।

शिष्य ने आत्मा की प्राप्ति कैसे हो, ऐसा पूछा था। उसमें प्रथम भूल बतायी कि तेरे स्वभाव की रुचि नहीं करता, इसलिए आत्मप्राप्ति दूर है।

अब सम्यग्ज्ञान की बात चलती है। परन्तु कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकाण्ड को प्रचण्ड करने से अनादि मोह के वध्य घातक के—विभाव के ज्ञानपूर्वक विभक्त करता है। सत्समागम क्या कहता है ? आत्मा शुद्ध चिदानन्द है, ऐसा कहता है। यह सुनना कर्मकाण्ड है। गुरु कहते हैं – तेरा आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसकी अपेक्षा करो ! ऐसा सुना, उसमें शुभराग है। उस शुभराग की रुचि छोड़कर शुद्धस्वभाव की रुचि करे और ज्ञान प्रगट करे तो शुभराग के क्रियाकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है। आत्मा पर की क्रिया नहीं कर सकता।

आँख की पलक नहीं फिरा सकता। व्यवहारनय अन्यथा कहता है, वैसा ही मान बैठे तो भ्रम है, ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है। वहाँ हजारों शास्त्रों का सार बतलाया है। 'व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है।' व्यवहार प्ररूपणा करता है, तद्नुसार ही मान बैठे तो मिथ्यात्व है। उस समय ज्ञान या रागादि दशा हुई, उसमें उस चीज़ का ज्ञान कराने का हेतु है, परन्तु सत्समागम किया, वहाँ सुना कि पर का मैं कर्ता नहीं हूँ। राग, मन, वाणी, देश की अवस्था तुझसे नहीं होती। तू अनन्त पदार्थों का ज्ञाता है। जैसे सर्वज्ञ सबको जानते हैं, वैसे तू सबको जाननेवाला है, ऐसा शुभराग आया, वह कर्मकाण्ड है। विकल्प की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करे तो कर्मकाण्ड से ज्ञान हुआ कहलाता है।

यह मकान स्वयं बनता है। इसे बनाना क्या? जो नहीं है, उसे बनाना क्या? पहले शुभराग आता है। भगवान तथा ज्ञानी क्या कहते हैं, वह सुनना चाहिए, मात्र शास्त्र (शब्द) पढ़ने से ज्ञान नहीं होता।

बुझी चहत जो प्यास को है बुझन की रीत
पावे नहीं गुरुगम बिना यही अनादि स्थित

आत्मा की क्षुधा लगी हो और तृषा मिटाने की इच्छा हो तो गुरुगम के बिना प्राप्त नहीं होता, ऐसी अनादि की रीति है। मात्र शास्त्र से समझ नहीं होती। अपनी पात्रता होवे तो गुरुगम मिलता है। वहाँ पराधीनता नहीं है। लकड़ी गमन करती है, वहाँ धर्मद्रव्य निमित्त है ही, इसी प्रकार आत्मा स्वयं ज्ञान करता है, वहाँ ज्ञानी निमित्त होता ही है। स्वयं गति करते हुए जीव-पुद्गलों को धर्मद्रव्य निमित्त होता है। स्वयं स्थिति करते हुए जीव-पुद्गलों को अधर्मद्रव्य निमित्त होता है। इस प्रकार स्वतन्त्रता है। 'कर्म शिथिल पड़े तब अथवा काल पके तब, ऐसा नहीं कहा।' प्रचण्ड कर्मकाण्ड अर्थात् सत्समागम से आत्मा का स्वरूप समझने का शुभराग। गुरु, शिष्य को निरन्तर समझाते हैं, ऐसा समयसार (गाथा ३८ की टीका) में आता है। गुरु इतने निवृत्त नहीं हैं परन्तु गुरु ने जो कहा, वह स्वयं अपने में धारण कर रखा है, इसलिए गुरु ने सुनाया, ऐसा कहा है। गुरु ने आत्मा की समझ करने

को कहा, वह सुनते हुए विचार करता है। आत्मा ज्ञाता है, राग को लानेवाला नहीं है तथा मिटानेवाला नहीं है, यह समझने की पद्धति है।

निरन्तर श्रवण क्या किया और क्या झेला? आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करो! ऐसा गुरु ने सुनाया और उसने (शिष्य ने) सुना। इसलिए क्रियाकाण्ड से ज्ञानकाण्ड हुआ, ऐसा कहने में आता है। आत्मा का स्वरूप समझने का शुभराग (क्रियाकाण्ड) वह निमित्त है। अपने ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ज्ञान प्रगट हो, वह ज्ञानकाण्ड है।

शुभराग का भी लक्ष्य छोड़कर शुद्ध आत्मा का आश्रय करता है तो ज्ञान होता है।

यह प्रवचनसार का परिशिष्ट अधिकार है। अनन्त काल से आत्मा की प्राप्ति क्यों नहीं हुई, वह बतलाते हैं। यहाँ उसकी प्राप्ति कैसे हो, यह बतलाते हैं। यही आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकाण्ड को प्रचण्ड करता है। गुरु ने जो आत्मा का स्वरूप बतलाया, उसका विकल्प उठे, वह कर्मकाण्ड है। यह बात सुनने में शुभराग की वृत्ति उठी है, वह विकल्प द्वारा कहा है, विकल्प निमित्त है। विकल्प द्वारा निर्णय किया कि मेरा आत्मा परमपवित्र आनन्दमय है। शुभ-अशुभभाव का विकार भिन्न है। इसलिए ज्ञानस्वभाव आनन्दमय है, ऐसा विकल्प से निर्णय किया है, वह प्रचण्ड कर्मकाण्ड है। छोटी पीपर में चरपराहट और हरा रंग भरा है, उसी प्रकार आत्मा के ध्रुवस्वभाव में ज्ञान और आनन्द भरा है, ऐसी बात बारम्बार सुनता है। श्रवण-मनन का विकल्प उठाता है, वह कर्मकाण्ड है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह प्रचण्ड कर्मकाण्ड है। सर्वज्ञ हैं, ऐसी व्यवहार से श्रद्धा की, वह भी परमार्थ श्रद्धा नहीं है। रागमिश्रित विचार द्वारा आत्मा निर्णय करता है। पश्चात् राग छोड़कर ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे तो सम्यग्दर्शन होता है। समयसार गाथा ३८ में बात आती है कि अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाया जाने पर... यहाँ विरक्त गुरु कहे हैं। अज्ञान और राग-द्वेष से विरक्त हुए हैं, इसलिए ज्ञानी हैं। अज्ञानी गुरु नहीं लिये हैं। अनन्तानुबन्धी से विरक्त सम्यग्दृष्टि है। मुनि तीन कषाय से विरक्त हैं। जो गुरु ने कहा, वह बारम्बार अपने ज्ञान में घोलन करता है। उसकी धुन लगी है। आत्मा शुद्ध आनन्द है, यह सुनने की धुन लगी है।

देह, मन, वाणी मैं नहीं; मैं ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसे विकल्प को छोड़कर ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करता है। दरवाजे द्वारा घर में प्रवेश होता है अर्थात् दरवाजा छोड़कर घर में आता है; उसी प्रकार गुरु के पास जो बात सुनता है, वह राग छोड़कर अन्तर में स्थिर होता है तो कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड हुआ कहलाता है। अखण्ड शुद्ध चेतनास्वभाव है, ऐसे उग्र पुरुषार्थ से प्रयत्न किया, इसलिए सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया। इस पद्धति से सम्यग्दर्शन होता है। भगवान आत्मा चिदानन्दस्वभाव है। तेरा आत्मा प्रभुत्वशक्ति से भरपूर है, ऐसे विकल्प को छोड़कर अन्तर ज्ञानानन्दस्वभाव का निर्णय करे तो सम्यग्दर्शन होता है। प्रचण्ड कर्मकाण्ड, वह राग है। वह राग, आर्तध्यान है। आर्तध्यान द्वारा धर्मध्यान नहीं होता। राग के विकल्प से ज्ञानकाण्ड नहीं होता। अकेले शास्त्र पढ़े तो ज्ञान नहीं होता। प्रथम ज्ञानी गुरु मिलना चाहिए।

पद्मनन्दिपंचविंशतिका में कहा है कि —

तत् प्रति प्रीति चित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी है, वह भव्य पुरुष भविष्य में होनेवाली मुक्ति का अवश्य भाजन होता है।

इस श्लोक में श्रुत शब्द पड़ा है। 'उसका शास्त्र वांचन किया है', ऐसा अर्थ नहीं है परन्तु गुरु से सुनने की बात है। एक बात आत्मा की बात ज्ञानी गुरु से सुनी होना चाहिए। शरीर, कर्म द्वारा आत्मा का अनुभव नहीं होता। गुरु कहते हैं कि आत्मा में राग नहीं, राग में आत्मा नहीं। यह सुनने में शुभविकल्प आता है, उसे व्यवहारधर्मध्यान कहते हैं - परन्तु वह कब ? निश्चय प्रगट करे, कि मैं जाननेवाला हूँ, जानना मेरा स्वरूप है—ऐसी श्रद्धा करे तो व्यवहार द्वारा हुआ कहलाता है। स्वयं ज्ञान प्राप्त करे तो गुरु द्वारा प्राप्त हुआ कहलाता है। गुरु का लक्ष्य छोड़कर, मैं निर्लेप चैतन्य हूँ - ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करे, उसे व्यवहार होता है। प्रथम देशना में ज्ञानी निमित्त होना चाहिए, तथापि विकल्प से सम्यग्दर्शन नहीं होता। गणधर भी भगवान की वाणी सुनते हैं, परन्तु वाणी तथा विकल्प का आदर नहीं है।

विभाव और स्वभाव के बीच भेदज्ञान करके आत्मा में स्थिर होता है

अनादि पौद्‌गलिक कर्म रचित मोह को वध्य-घातक के विभाग से ज्ञानपूर्वक भिन्न करने के कारण स्वयं केवल आत्मभावना के प्रभाव द्वारा परिणति निश्चल करता है। अनादि कर्म के निमित्त से मोह होता था। विभाव और स्वभाव के बीच पृथक्‌ता और विवेक करता है। यह राग है और इसे छोड़ूँ, यह भी विकल्प है। पर्यायबुद्धि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की ओर झुकाव करने से विभाव और स्वभाव का भेद हुआ। अपने चैतन्यस्वभाव की सावधानी नहीं की और कर्म की सावधानी की तो कर्म से मोह हुआ कहलाता है। असंख्य प्रदेशी आत्मा ज्ञानघन है, वैसे स्वभाव में एकाकार होने से विवेक ज्ञान होता है। विकार और स्वभाव के बीच भेद है, ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिए।

प्रश्न:—ऐसी बात सुनने से कोई मन्दिर नहीं जाएगा?

समाधान:—भाई! जो शुभराग आनेवाला है, वह आनेवाला है। उसकी दृष्टि किसके ऊपर है, इसकी बात चलती है। निमित्त और राग के ऊपर की दृष्टि छोड़कर ज्ञानानन्दस्वभाव की श्रद्धा करे तो धर्म होता है। आत्मा के स्वरूप का विचार करना, वह भी राग है। उसे छोड़कर ज्ञानस्वभाव में स्थिर हो, वह सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दृष्टि के शुभराग को व्यवहार से धर्मध्यान कहते हैं। वह भी वास्तव में धर्मध्यान नहीं है।

- सम्यग्दर्शन एक है, किन्तु दो नहीं है।
- सम्यग्ज्ञान एक है, किन्तु दो नहीं है।
- सम्यक्‌चारित्र एक है, किन्तु दो नहीं है।
- धर्मध्यान एक है, किन्तु दो नहीं है।
- शुक्लध्यान एक है, किन्तु दो नहीं है।

— यह सब निश्चय; और व्यवहार द्वारा प्रगट नहीं, ऐसा अनेकान्त है। ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से निश्चयधर्मध्यान हुआ है, ऐसे ज्ञानी के शुभराग को सहचर देखकर व्यवहारधर्मध्यान कहा जाता है। वास्तव में वह धर्मध्यान नहीं है।

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

मेरी क्रिया दूसरी नहीं है। मेरी तो ज्ञानक्रिया है। राग आवे, उसका जाननेवाला ज्ञानी है, उसे लाना नहीं।

केवल आत्मभावना के प्रभाव द्वारा परिणति निश्चल की होने से समुद्र की भाँति अपने में ही अति निष्कम्प रहता है। आत्मा एक समय में परिपूर्ण है, उसकी भावना करना, वह उसका प्रभाव कहा। निमित्त का प्रभाव दूर है, परन्तु राग के प्रभाव की भी बात नहीं है। दया, दान, ब्रह्मचर्य पुण्यबन्ध का कारण है। उससे भेदज्ञान करके केवल आत्मभावना की बात है, एकाग्रता की भावना करता है। राग आता है, परन्तु उसे छोड़ने की बात करता है। आत्मा के स्वभाव की एकाग्रता करता है। आत्मभावना के प्रभाव से आत्मा की वर्तमान दशा स्थिर की है। स्वभावसन्मुख करने से निश्चल दशा की है, वह मोक्षमार्ग है। इस परिशिष्ट में चौदह पूर्व-बारह अंग का सार है। भगवान चिदानन्द आनन्दकन्द है, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान के प्रभाव से अवस्था निश्चल होती है। उसे परिवर्तन नहीं होता। अल्प परिवर्तन गौण है। अति निष्कम्प रहता है। मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, पर को लाभ देनेवाला नहीं, पर से लाभ लेनेवाला नहीं। मैं ज्ञायक हूँ, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान से आत्मा अति निष्कम्प रहता है। ज्ञायक के आधीन होकर अनन्त पर्यायों का ज्ञाता रहता है। जानने की पर्याय ज्ञायकस्वभाव में एकाकार होने से कायम रहती है, इसलिए राग को 'मेरा' मानना, ऐसा अवकाश नहीं है। परमाणु में जिस समय में जो पर्याय आनेवाली है, वह आयेगी। अपने में जो राग होनेवाला है, वह होगा। मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसे स्वभाव में निश्चल रहता है, इसलिए दृष्टि पलटो! निमित्त और राग मेरे स्वभाव में नहीं है। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, ऐसे निश्चय बिना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं छूटता। आत्मा में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी शक्ति अनादि से पड़ी है, वह बाहर से नहीं आती है।

आत्मा शरीरादि जड़ की अवस्था का कर्ता नहीं

अज्ञानी को अभिमान होता है कि मेरे कारण से शरीर की अवस्था होती है, वह अभिमान छूटना चाहिए। वकील न्यायाधीश के पास बोले, वह भाषावर्गणा की अवस्था है, वह आत्मा से नहीं होती। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि यह श्लोक जड़ की रचना है, मुझसे नहीं हुई। आत्मा भाव करता है परन्तु राग से भाषा नहीं हुई। भाषा होती है तो राग

को निमित्त कहा जाता है। लकवा होता है, तब इच्छा होने पर भी बोलना नहीं होता। अनन्त आत्मा, अनन्त पुद्‌गल, असंख्य कालाणु, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ऐसे छह जाति के द्रव्य हैं। वे कार्यरहित नहीं हैं। अपना कार्य कर रहे हैं, उन्हें दूसरा क्या करे? स्वयं पर्यायरहित होवे तो दूसरा क्या करे? 'वास्तव में पुद्‌गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता तथा वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप से-प्रमेयरूप से परिणमित होते हैं; शब्द उन्हें ज्ञेय बनाकर समझा नहीं सकते।'

जैनदर्शन क्या कहता है, यह बात सुनी नहीं तो विचार कहाँ से करे? प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र कार्य करता है। व्यापार के समय जड़ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता परन्तु जीव अशुभभाव करता है। दान के समय अनुकम्पा का भाव जीव करता है परन्तु रुपये देने की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। पूजा के समय जीव भाव करता है, वह पुण्य है। देह की क्रिया देह के कारण से होती है।

१. देह की क्रिया के कारण से शुभराग होता है, ऐसा नहीं है।

२. शुभराग के कारण देह की क्रिया होती है, ऐसा नहीं है।

३. शुभराग पुण्य है, परन्तु धर्म नहीं।

इच्छा दूसरी चीज़ है, जड़ की क्रिया दूसरी चीज़ है। प्रथम यह बात सुनना चाहिए।

राग से लाभ नहीं माननेवाला राग को भिन्न कर सकता है

मैं आहार-पानी ले सकता हूँ, शरीर को ठीक रख सकता हूँ, यह मिथ्याभाव है। वह जड़ की क्रिया होने की हो, वह होती है। देव-गुरु-शास्त्र क्या कहते हैं, उनके राग से अपने को विभक्त करता है। भगवान आत्मा चिदानन्दस्वरूप है, उसकी दशा में दया, दान के भाव होते हैं, वे अंगार हैं। शुभराग भी लूटनेवाला है, तथापि शुभराग से लाभ माने, वह राग से पृथक् बुद्धि नहीं कर सकता। राग से स्वभाव को लाभ नहीं है- ऐसा पृथक् करने से निर्मलता होती है।

यशोविजयजी कहते हैं कि पहले व्यवहार आवे तो निश्चय होता है परन्तु यह बात सत्य नहीं है। समयसार में कहते हैं कि मैं ज्ञायकमूर्ति हूँ, ऐसा जाने तो वैसा राग जाननेयोग्य है।

समयसार १२वीं गाथा में कहते हैं कि व्यवहारनय जाना हुआ प्रयोजनवान है।

व्यवहार जाननेयोग्य है, परन्तु आदरणीय नहीं, किन्तु अभी लोग व्यवहार को आदरणीय मानते हैं, वह श्वेताम्बर मत को पुष्टि देते हैं। लक्ष्य बिना कहाँ जाएगा? आत्मा ज्ञायक है, ऐसी दृष्टि बिना राग को व्यवहार नहीं कहा जाता। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से धर्म होता है तो राग को व्यवहार कहते हैं। भूमिका के योग्य प्रमाण में विकल्प आता है।

ज्ञानपर्याय ज्ञाता के साथ अभेद हुई, इसलिए निमित्त और राग से परिवर्तन को प्राप्त नहीं होती।

यहाँ कहा कि धर्मात्मा को अवकाश नहीं। अर्थात् क्या? चौथे गुणस्थान में जो राग आता है, उस राग के कारण परिवर्तन नहीं होता परन्तु ज्ञानपर्याय ज्ञातास्वभाव के साथ धारावाही चलती है। राग-द्वेष भिन्न-भिन्न होते हैं। आर्तध्यान होता है, उसके कारण से ज्ञानपर्याय का परिवर्तन होता है? नहीं; ज्ञातास्वभाव के आश्रय से परिवर्तन को पाती है। यह अन्तिम सार है। समवसरण में दिव्यध्वनि निकलती है, उसका सार-प्रवचनसार का सार यह है। निमित्त और राग के साथ व्याप्ति छोड़कर ज्ञानस्वभाव के साथ व्याप्ति हुई, इसलिए उस निमित्त और राग के कारण परिवर्तन नहीं पाती, ऐसी वस्तुस्थिति है। इसे न समझे तो सम्यग्ज्ञान नहीं होता। प्रथम ऐसी समझ करना चाहिए। राग से ज्ञानस्वभाव का भेद पड़ा। ज्ञान अवस्था आत्मा के साथ अभेद हुई अर्थात् अपने में व्याप्त होकर परिणमित होने लगी, इसलिए पर से तथा राग से परिणमन हो, ऐसा नहीं बनता। 'प्र' अर्थात् प्रधान, मुख्य 'वचन' अर्थात् दिव्यध्वनि का सार यहाँ भर दिया है। चारों अनुयोगों का सार यह है कि ज्ञप्ति क्रिया करो! उसमें ही रहो! यह सार है। यह विधि लक्ष्य में लेना चाहिए। पश्चात् प्रयोग करना चाहिए। ज्ञप्तिपर्याय ज्ञानस्वभाव के आश्रय से होती है।

भेदज्ञान होने से अन्तर सुरक्षित होता है

आत्मतत्त्व की प्राप्ति और अनुभव कैसे हो? उसकी बात चलती है। शिष्य ने प्रश्न किया है कि आत्मा का स्वरूप कैसे प्राप्त हो? मैं आत्मा हूँ, इसकी प्राप्ति कैसे हो, इसका उत्तर दिया है। अनादि से ज्ञानस्वभाव चूक गया है और कर्म के निमित्त में राग-द्वेष होते

हैं, उसमें ज्ञप्तिक्रिया रुक जाती है। उसे छोड़कर मेरा स्वभाव ज्ञान और आनन्द है, उसकी भावना करके आत्मविवेक सुप्रतिष्ठित हुआ है। आत्मा अन्तरशक्ति से भरपूर है, ऐसा विश्वास करना चाहिए, पश्चात् रुचि को स्वभावसन्मुख ढालना चाहिए। मैं शिष्य को पढाऊँ, शिक्षा दूँ तो मेरी कीर्ति बढ़ जाएगी, यह मूढ़ता है। मेरी ज्ञान की प्रतिष्ठा, आदर अन्दर चिदानन्दस्वभाव में है।

अविनाशी आत्मा को उसके चिह्न द्वारा पहिचानना, वह दिनचर्या है

प्रश्न : दिनचर्या किस प्रकार करना?

समाधान : मैं पर की क्रिया नहीं कर सकता। राग विकृतस्वरूप है। मैं ज्ञानस्वरूपी हूँ, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिए। बारह प्रकार के तप विकल्प है। मैं शुद्धचिदानन्द हूँ—ऐसा भान और स्थिरता करना, वह तप है। आत्मा के आनन्द में इच्छा की उत्पत्ति नहीं हुई, वह तप है और बाह्यपदार्थ सहज छूट जाते हैं। प्रथम समझ करना चाहिए। मैं शरीर नहीं हूँ; मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। अंक और अक्षर के ज्ञान बिना नामा नहीं लिखा जाता, उसी प्रकार आत्मा का अंक अर्थात् चिह्न ज्ञान है। अक्षर अर्थात् अविनाशी आत्मा का ज्ञान अविनाशी है, ऐसा भान प्रथम करना चाहिए। व्यापार और घर की चीज़ें लेने में ध्यान रखे, तवा लेने जाए वहाँ ध्यान रखे, कपड़े लेने जाए, वहाँ ध्यान रखे। यहाँ धर्म में कौन पूछता है? कोई पूछनेवाला नहीं है, इसलिए प्रथम पहचान करो! मैं अविनाशी चीज़ हूँ और मेरा चिह्न कौन है, ऐसा प्रथम निश्चय करना, वह दिनचर्या है।

ज्ञेयों में तथा ज्ञानस्वभाव में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है

प्रथम अन्तर्मुख दृष्टि करना। बहिर्मुख में लाभ मानता है, उसके बदले अन्तर्मुख से लाभ मानना। बाह्य चीज़ें ज्ञेय—ज्ञात होनेयोग्य है। स्त्री, कुटुम्ब पदार्थ प्रमेय है, आत्मा जाननेवाला है, तथापि प्रमेय में ठीक-अठीक मानना, वह भ्रान्ति है। ज्ञेय में ठीक-अठीकपना नहीं है। ज्ञान में (आत्मा में) ठीक-अठीकपना है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ में प्रमेय नाम का गुण है, कस्तूरी अच्छी और मल खराब, ऐसा है ही नहीं। मल में द्रव्य-गुण-पर्याय उसका स्वभाव है। चीज़ में इष्ट-अनिष्ट नहीं है। मल गाय खाती है और उसका घी होता है। मल स्वभाव से खराब नहीं है, दूध स्वभाव से अच्छा नहीं है। प्रथम श्रवण करना, मनन करना, स्वाध्याय करना, यह करना है।

प्रश्न : यह क्रिया देखने में नहीं आती।

समाधान : शरीर को किस दिन खबर पड़ेगी कि मैं जड़ हूँ। आत्मा जाननेवाला है परन्तु जानने-देखने की क्रिया छोड़कर इष्ट-अनिष्ट कल्पना करना, वह भ्रान्ति है। पंच परमेष्ठी भगवान व्यवहार से इष्ट है, परमार्थ से अपना ज्ञानानन्दस्वभाव इष्ट है। देह छूटने के समय शरीर काम नहीं करता। सुनने की शक्ति कम हो गयी है, आँख की शक्ति कम हो गयी, आत्मा को निकलना पड़ेगा, शरीर पड़ा रहेगा। ऐसी देह अनन्त बार आत्मा को आयी और गयी है।

धर्मवाड़ी न निपजै धर्म न हाट विकाय
धर्म विवेक से निपजै जो करिये तो थाय॥

इस प्रकार विवेक की बात की है। यहाँ कहते हैं कि स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान करने से राग-द्वेष छूट जाते हैं।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन शास्त्र पढ़ने से होता है ?

समाधान : प्रथम ज्ञान होने में सम्यग्ज्ञानी पुरुष निमित्त होना चाहिए। शिवभूति को आत्मा का ज्ञान था। पुण्य-पाप छिलका है, और मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसा भावभासन था। पश्चात् स्थिर होने से चारित्र में वृद्धि होने से केवलज्ञान होता है। अकेले शास्त्र से ज्ञान नहीं होता, ज्ञानी निमित्त होना चाहिए। पंच संग्रह में पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि तीर्थंकर भगवान परम आप्त हैं, मुनि आप्त हैं, सम्यग्दृष्टि आप्त हैं। उनमें से किसी की देशना मिलना चाहिए। साधक जीव को ऐसा निमित्त मिल जाता है। इसमें पराधीनता नहीं है। उपादान की पर्याय होनेवाली हो, तब निमित्त को आना पड़ता है - ऐसी पराधीनता है न ? नहीं; किसी की पराधीनता नहीं है।

प्रश्न : क्रमबद्ध में होनेवाला होगा तो हो जाएगा ?

समाधान : किसकी बात करता है ? यदि तुझमें पर्याय क्रमबद्ध होनेवाली है, ऐसा यथार्थ निर्णय होवे तो तू पर का कर्ता नहीं है, राग का कर्ता नहीं है। ऐसे ज्ञातादृष्टा रहना, वह धर्म है। जो होनेवाला है, वह होगा ही - ऐसा निर्णय ज्ञानस्वभाव की ओर किया, उसमें अनन्त पुरुषार्थ आया। मैं पर का करने-धरनेवाला नहीं हूँ, परन्तु जाननेवाला हूँ, ऐसा

निर्णय, वह पुरुषार्थ है। क्रमबद्ध के निर्णय में सम्यग्दर्शन है। एक समय में केवलज्ञान तीन काल-तीन लोक को जानता है, केवलज्ञानी या ज्ञान जैसे पर का करनेवाला नहीं है, वैसे मैं पर का करनेवाला नहीं हूँ परन्तु अनन्त का जाननेवाला हूँ। ऐसे ज्ञानस्वभाव के निर्णय बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता। सर्वज्ञ का (निर्णय) नहीं होता। क्रमबद्धपर्याय कहो, सम्यग्दर्शन कहो – एक ही है।

स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ से शुद्ध आत्मा को पाता है

पुरुषार्थपूर्वक स्वभावसन्मुख स्थिर होने से, पूर्व में नहीं अनुभव किये हुए अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को अत्यन्तरूप से प्राप्त करता है। अनन्त काल से पुण्य-पाप का अनुभव किया था। ज्ञान और आनन्द मेरा स्वभाव है, ऐसे निर्णय से आत्मा की प्राप्ति होती है। दूसरी रीति से प्राप्ति नहीं होती। आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, ऐसा निर्णय करने के पश्चात् लीन हुआ जाता है। अपने को जो चीज़ प्रिय हो, वह चीज़ अपने रिश्तेदार को देते हैं; इसी प्रकार आचार्य को ज्ञानानन्दस्वभाव की प्राप्ति हुई है, उसकी प्रीति है, इसलिए कहते हैं – जगत भी ज्ञानानन्दात्मक परमात्मा को प्राप्त करो ही। ज्ञानानन्दस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान करो तो आनन्द होगा ही; कारण दे और फल न मिले, ऐसा होता ही नहीं परन्तु कर्तापना छोड़ो!

यहाँ श्लोक भी है :—

आनन्दामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी-
निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम्।
स्यात्काराङ्कजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत्।
स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिष्टं जनाः।।२०।।

[अर्थ :] आनन्दामृत के पूर से भरपूर बहती हुई कैवल्यसरिता में (मुक्तिरूपी नदी में) जो डूबा हुआ है, जगत को देखने में समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी) जिसमें मुख्य है, जो उत्तम रत्न-किरण की भाँति स्पष्ट है और जो इष्ट है ऐसे उल्लसित (प्रकाशमान, आनन्दमय) स्वतत्त्व को जन स्यात्कारलक्षण जिनेश शासन के वश से प्राप्त हों। (-'स्यात्कार' जिसका चिह्न है ऐसे जिनेन्द्रभगवान के शासन का आश्रय लेकर के प्राप्त करो।)

अमृतचन्द्राचार्य नग्न दिगम्बर मुनि जंगल में रहते थे। आहार की वृत्ति उठे तो नगर में आवे और वापस वन में चले जाएँ। कुन्दकुन्द आचार्य शक संवत् ४९ में भरतक्षेत्र में हुए थे। तत्पश्चात् एक हजार वर्ष में अमृतचन्द्राचार्य हुए। उन्होंने समयसार आदि की टीका बनायी है, वह बहुत गम्भीर है। यह आचार्य कहते हैं :—

तेरे आत्मा का चिदानन्दस्वभाव है। राग-द्वेष से मुक्त स्वभाव पड़ा है। स्वभाव में आनन्द का पूर है। हर्ष-शोक की वृत्ति, वह आनन्द की उल्टी दशा है, वह तेरा स्वरूप नहीं है। समझ कर!

एक लक्षाधिपति के पुत्र ने बीस लाख रुपये सट्टे में गँवा दिये। पिताजी की आज्ञा से विरुद्ध किया था, इसलिए पिताजी के निकट नहीं जाता था। उसका मित्र उसके पिता से कहता है – तुम बीस लाख रुपये पुत्र को दो, नहीं तो वह अपघात करेगा। मित्र कहता है तुम्हें क्या करना है? बीस लाख रुपये तुम्हारे गये या उसके गये? तुम्हारी उम्र ७५ वर्ष की है। पचास लाख की पूँजी में से बीस लाख उसे कम मिलेंगे, इसलिए क्या? इससे पिता की वृत्ति बदल गयी, रुपये मेरे गये, ऐसा मानता था; अब रुपये थे तो उसके गये, ऐसी दृष्टि पलट गयी। इस प्रकार प्रतिकूल संयोग में समाधान करने की सामर्थ्य है तो अनुकूल-प्रतिकूल संयोग में होने पर भी मैं आत्मा ज्ञानानन्द हूँ, ऐसा आत्मा श्रद्धा-ज्ञान से सच्चा समाधान होता है। ऐसे आत्मा में डुबकी मारो तो पूर्ण आनन्द प्रगट होगा।

विकार अनिष्ट है और स्वतत्त्व इष्ट है

यह आखिर के कलश हैं। आत्मा कैसा है कि जिसका अनुभव करने से आनन्द होता है। पुण्य-पाप के विकार उठते हैं, उनसे भिन्न आत्मा आनन्दमूर्ति है।

प्रश्न : दैनिक क्रिया क्या करना? श्रावक को देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान छह कर्तव्य शास्त्र में आते हैं न?

समाधान : छह आवश्यक शुभराग है। उस समय जड़ की क्रिया होनेवाली हो तो होती है। उससे रहित मेरा ज्ञान-आनन्दस्वभाव है। पूर्व अवस्था का व्यय होना और नयी अवस्था उत्पन्न होना, इतना आत्मा नहीं है। मेरा आत्मा मुक्तस्वरूप है। जगत अर्थात् लोक-अलोक को देखने की महाज्ञानलक्ष्मी भरी है। ज्ञान और आनन्द भरा है। ध्रुवदृष्टि

करो! ज्ञान और आनन्दगुण मुख्य है। दूसरे गुण हैं परन्तु तीन काल-तीन लोक को ज्ञान जाने, इसलिए ज्ञान मुख्य है। जैसे रत्न झलकता है, वैसे आत्मा ज्ञानरत्न है। उसमें एकाग्र होने से सम्यग्ज्ञान और आनन्द प्रत्यक्ष झलकते हैं। स्वसंवेदन का अनुभव करने से स्पष्ट मालूम पड़ता है। यह आखिर के संक्षिप्त श्लोक कहते हैं। भगवान आत्मा में ज्ञान मुख्य है; रागादि मुख्य नहीं है, ऐसा निर्मल स्पष्ट स्वभाव है। पूर्ण ज्ञानस्वभाव इष्टकर है, उसमें हित है; दूसरे कोई हितकर पंच परमेष्ठी वस्तुत: इष्ट नहीं है, अपने को राग आवे तो व्यवहार से इष्ट कहे जाते हैं। दर्शन-पूजा का राग आवे, शरीरादि जड़ की क्रिया होनेवाली हो तो होती है, वह अजीव की क्रिया है। राग आस्रव है; उससे आत्मा पार है।

स्यात्कार चिह्नवाले जिनशासन के आश्रय से स्वतत्त्व को प्राप्त करो!

ऐसे उल्लसित स्वतत्त्व को, हे जनो! स्यात्कार लक्षण जिनेश शासन के वश से प्राप्त करो। कथंचित् व्याख्या की है। पर्याय में विकार है; स्वभाव में विकार नहीं। एक समय की पर्याय द्रव्य में घुस नहीं जाती; द्रव्य, पर्याय में आ नहीं जाता। त्रिकाल द्रव्य शुद्ध है, वर्तमान पर्याय अशुद्ध है। एक समय की पर्याय में पूरा द्रव्य आ नहीं जाता। द्रव्य ध्रुव है, पर्याय अंश है। त्रिकाल द्रव्य को एक समय की पर्याय स्पर्श नहीं करती। आत्मा पूर्ण आनन्द-ज्ञानस्वरूप है, उसकी अवस्था में कषाय है। पर्याय एक समय में पलटकर नाश को प्राप्त होती है, दूसरे समय में दूसरी आती है। ऐसे आत्मा की प्राप्ति अन्यमार्ग में नहीं होती। अन्यमत में है ही नहीं, परन्तु जैन के श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदाय में यह बात नहीं है। जैनशासन में दिव्यध्वनि द्वारा फरमाया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य और समन्तभद्राचार्य ने, जो जैनशासन के स्तम्भरूप से कहे गये हैं, उनके कहे अनुसार आत्मा समझे तो स्वरूप की प्राप्ति होती है। यह मानना ही पड़ेगा। अन्तर आनन्दकन्द में झूलते हैं और पंच महाव्रत का विकल्प है तथा वस्त्र नहीं होते, वह मुनिदशा है। पाँच महाव्रत का राग घातक है, आस्रव है, बन्ध है, जहर है। प्रथम अनुभव करो, पश्चात् स्थिर रहने से चारित्र होता है। भगवान अमृतचन्द्राचार्य जंगल में बसते थे। आत्मा के अमृत के समक्ष स्त्री का भोग जहर है। जहर में आनन्द नहीं है। आनन्द में जहर नहीं है। एक गुण में दूसरा गुण नहीं है। व्यवहार में निश्चय नहीं है, निश्चय में व्यवहार नहीं है, यह स्याद्वाद है। दया पालने से संसारपरित होता होगा, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। दया पालना, वह राग है; राग

में संसार काटने की ताकत नहीं है। स्वभाव के आश्रय में संसार काटने की ताकत है, उसमें राग नहीं है। वीतराग शासन की बात करते हैं।

अब अमृतचन्द्रसूरि इस टीका के रचनाकार हैं, ऐसा मानना योग्य नहीं है, इस अर्थ के काव्य द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप को दर्शाकर स्वतत्त्व की प्राप्ति की प्रेरणा की जाती है। इस शास्त्र की रचना पुद्गल से हुई है; आत्मा से वाणी भिन्न है। राग वाणी को नहीं कर सकता, भाषावर्गणा के काल के कारण टीका हुई है। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। जो विकल्प उठा, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञातास्वरूप हूँ।

(अब, 'अमृतचन्द्रसूरि इस टीका के रचयिता हैं' ऐसा मानना योग्य नहीं है ऐसे अर्थवाले काव्य द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रगट करके स्वतत्व प्राप्ति की प्रेरणा की जाती है: —)

व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फो गिरां
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्
लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः।।२१।।

[अर्थ :](वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता, तथा वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं, शब्द उन्हें ज्ञेय बना—समझा नहीं सकते इसलिए) 'आत्मा सहित विश्व वह व्याख्येय (समझानेयोग्य) है, वाणी का गुंथन वह व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि वे व्याख्याता हैं, इस प्रकार जन मोह से मत नाचो (-मत फूलो) (किन्तु) स्याद्वाद-विद्याबल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्व को प्राप्त करके आज (जन) अव्याकुलरूप से नाचो (-परमानन्दपरिणामरूप परिणत होओ।)

आत्मा भाषा नहीं बनाता
भाषावर्गणा से भाषा होती है

पुद्गल स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं। चने के आटे में एक आटा मिठाई बनाने का था, एक आटा मैसूर बनाने का था। मिठाई का आटा मोटा होता है, मैसूर का आटा

बारीक होता है। ओरमा की लापसी मोटे आटे की होती है, साधारण लापसी पतले आटे की होती है; इसी प्रकार जगत में तेईस प्रकार के स्कन्ध हैं। उनमें भाषावर्गणा से भाषा बनती है। जीभ, होंठ इत्यादि आहारवर्गणा में से होते हैं। आहारवर्गणा में से औदारिक, वैक्रियक और आहारकशरीर बनते हैं। भाषावर्गणा में से भाषा निकलती है। आत्मा से भाषा नहीं बनती। होंठ से तथा जीभ से भाषा नहीं बनती। किसी समय जीभ अकड़ जाए, तब इच्छा होने पर भी भाषा नहीं बोली जा सकती। आत्मा से भाषा नहीं बोली जाती। झालर बजती है, वहाँ आवाज भाषा से निकलती है, झालर से आवाज नहीं होती। पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमते हैं। आत्मा शब्द नहीं कर सकता। वचनवर्गणा आत्मा में भरी नहीं पड़ी है। शब्द से दूसरा जीव नहीं समझता; अपने ज्ञान से समझता है। यह शरीर पुद्गल है। मेरी मिट्टी पकाऊ है, ऐसा कहते हैं, इसलिए शरीर मिट्टी है। वैसे ही भाषावर्गणा में से बोला जाता है, आत्मा बोलता नहीं है। भाषावर्गणा की अवस्था भाषा से होती है, वकील से नहीं बोला जाता। आत्मा विकल्प करता है परन्तु बोलने की क्रिया आत्मा से नहीं होती। भाषावर्गणा में से आवाज निकलती है। एक रजकण को हिला सकने की ताकत नहीं है परन्तु तीन काल -तीन लोक को जान सके, ऐसी सामर्थ्य आत्मा में है।

आत्मा भाषादि का कर्ता है - ऐसे मोह से मत नाचो

आत्मा सहित विश्व समझानेयोग्य है, वाणी व्याख्या करनेवाली है और अमृतचन्द्रसूरि व्याख्या करनेवाले हैं, ऐसे मोह से जनो! मत जानो। मैं ज्ञान करता हूँ, वाणी, वाणी के कारण से निकलती है। सामनेवाला जीव उसके कारण से समझता है। आत्मा से भाषा नहीं; भाषा से ज्ञान नहीं। ज्ञान होना है, इसलिए भाषा निकलती है—ऐसा नहीं है। भाषा निकलती है, इसलिए ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है। इच्छा हुई तो भाषा निकलती है—ऐसा नहीं है। भाषा निकलती है, इसलिए इच्छा होती है—ऐसा नहीं है। सब स्वतन्त्र है। इसलिए चीज़ है, वैसी श्रद्धा करो। जगत के पदार्थों का परिणमन पदार्थ से है, दूसरे से नहीं। कोई पदार्थ पर्याय बिना नहीं रहता। 'भगवान की वाणी' ऐसा बोला जाता है। दिव्यध्वनि का काल है तो वाणी निकलती है। वैशाख शुक्ल १० के दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ, परन्तु वाणी नहीं निकली। इन्द्र विचार करता है कि पात्र जीव नहीं है। गौतम को लाता है।

अब वहाँ गौतम आते हैं और वाणी निकलती है। गौतम के कारण से वाणी नहीं निकलती परन्तु वाणी, वाणी के कारण से निकलती है।

प्रश्न : तो फिर इन्द्र गौतम को पहले क्यों नहीं लाया ?

समाधान : पहले-पश्चात् नहीं। जिस समय आनेवाला हो, तब ही आता है। वाणी निकलनी हो, तब ही निकलती है। गौतम तो निमित्तमात्र है। ज्ञान से भाषा नहीं; भाषा से ज्ञान नहीं। ऐसी विशुद्ध ज्ञानकला द्वारा यह एक-एक पूर्ण शाश्वत् स्वतत्त्व की प्राप्ति करके आज अव्याकुलरूप से नृत्य करो। भगवान ने शासन चलाया है ? नहीं, उन्होंने तीर्थ नहीं किया। योग्यतावाले जीव मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका- ऐसे चार तीर्थ की उपादान की योग्यता से होते हैं। वे अपनी योग्यता से तिरते हैं, वाणी निमित्त कही जाती है। चैत्र शुक्ल १३ के दिन कोई भाषण करते हैं कि ब्राह्मण होम करते थे, उन्हें भगवान ने बन्द कर दिया, भगवान ने स्त्रियों को अधिकार दिया इत्यादि प्रकार से बड़ा भाषण करते हैं। भगवान भाषा नहीं कर सकते तो फिर पर के कार्य करे, ऐसा नहीं होता। अमृतचन्द्राचार्य पर के कर्ता हैं, ऐसा मत मानो। आत्मा जानने-देखनेवाला है। यह क्रिया करता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

अब काव्य द्वारा चैतन्य की महिमा गाकर वह एक ही अनुभव करनेयोग्य है - ऐसी प्रेरणा करके इस परम पवित्र परमागम की पूर्णाहुति की जाती है।

[अब, काव्य द्वारा चैतन्य की महिमा गाकर, वही एक अनुभव करने योग्य है ऐसी प्रेरणा करके, इस परम पवित्र परमागम की पूर्णाहुति की जाती है:—]

इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्
चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य।
अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्
अपरमिह न किञ्चित्तत्त्वमेकं परं चित्।।२२।।

[अर्थ :] इस प्रकार [इस परमागम में] अमन्दरूप से [बलपूर्वक, जोरशोर से] जो थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब चैतन्य में वास्तव में अग्नि में होमी गयी वस्तु के समान [स्वाहा] हो गया है। [अग्नि में होमे गये घी को अग्नि खा जाती

है, मानो कुछ होमा ही न गया हो! इसी प्रकार अनन्त माहात्म्यवन्त चैतन्य का चाहे जितना वर्णन किया जाय तथापि मानो उस समस्त वर्णन को अनन्त महिमावान चैतन्य खा जाता है; चैतन्य की अनन्त महिमा के निकट सारा वर्णन मानो वर्णन ही न हुआ हो इस प्रकार तुच्छता को प्राप्त होता है।] उस चैतन्य को ही चैतन्य आज प्रबलता-उग्रता से अनुभव करो (अर्थात् उस चित्स्वरूप आत्मा को ही आत्मा आज अत्यन्त अनुभवो) क्योंकि इस लोक में दूसरा कुछ भी (उत्तम) नहीं है, चैतन्य ही परम (उत्तम) तत्त्व है।

चैतन्य के अनुभव का पूर्ण वर्णन वाणी अगोचर है, किन्तु उसका अनुभव करो।

इस परमागम में इस पदरूप से जोर से कहा गया है। यह थोड़ा-बहुत तत्त्व कहने में आया है, वह सब चैतन्य में वास्तव में अग्नि में होम की हुई वस्तु के समान स्वाहा हो गया। ज्ञानानन्दमूर्ति तीन काल-तीन लोक को जाननेवाला है। अग्नि में होम किये जानेवाले घी को अग्नि खा जाती है। मानो कि कुछ होम ही न किया गया हो! इसी प्रकार अनन्त माहात्म्यवन्त चैतन्य का चाहे जितना वर्णन किया जाए तो भी मानो कि उस समस्त वर्णन को अनन्त महिमावन्त चैतन्य खा जाता है। आत्मा वचनातीत है।

जो पद श्री सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह नहीं सके वह भी श्री भगवान जो
उस स्वरूप को अन्य वाणी से क्या कहें
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जो

वह स्वरूप वाणी में ईशारामात्र आया। भगवान की वाणी में ईशारा आया। आत्मा अरूपी है, वाणी रूपी है तो फिर अन्य वाणी-मुनियों की वाणी क्या करे? आत्मा पर से रहित ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह अनुभव से ख्याल में आता है। भगवान आत्मा एक समय में तीन काल-तीन लोक को पी जाता है, उसकी व्याख्या क्या की जा सकती है? आत्मा महिमावन्त है। प्रवचनसार में चाहे जितना कहा, वह सब होम हो गया। चैतन्य ज्ञानानन्द आत्मा को आज प्रबलरूप से अनुभव करो! बाद की बात नहीं, कल की बात नहीं। वर्तमान में पुरुषार्थ करो! प्रबलता से अनुभव करो! भगवान आत्मा चैतन्य ज्ञानानन्द है।

सर्वार्थसिद्धि के देव तैंतीस सागर चर्चा करते हैं, तथापि पार नहीं आता। अनुभव से ख्याल में आता है, इसलिए आज ही अनुभव करो।

प्रश्न : आज पंचम काल है न? हमारे पीछे गृहस्थाश्रम है न?

समाधान : भाई! काल अवरोधक नहीं है। तेरे पीछे केवलज्ञान है। आत्मा का अनुभव करनेयोग्य है, दूसरा करनेयोग्य नहीं है। इससे दूसरा कुछ उत्तम नहीं है। चैतन्य एक परमतत्त्व है। सर्वज्ञदेव भी परमतत्त्व नहीं है। अपना आत्मा परमतत्त्व है।

इन चार बोल में आराधकपना कहा है, उग्रपना बतलाया है, वह तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि का सार रख दिया है। अब समय गँवाना नहीं। निमित्त, विकार और अंश की रुचि छोड़ो और स्वभाव की रुचि करके स्वभाव को आज ही अनुभव करो। इस प्रकार आचार्य भगवान का आदेश, उपदेश और आशीर्वाद है।

✦✦✦

परमागम प्रवचनसार के आध्यात्मिक प्रवचनकार

श्री सद्गुरुदेव की जय हो!

प्रवचनसार का अपूर्व रहस्य प्रकाशक श्री सद्गुरुदेव की जय हो।